हिन्दी साहित्य : पिछला दशक

(१९५२–६२)

सम्पादक

विश्वनाथ

सूर्य प्रकाशन मन्दिर

बीकानेर

हिन्दी साहित्य : पिछला दशक

अनुक्रमणिका

परिशिष्ट

अपनी बात....

वर्तमान विश्व की प्रवंचनापूर्ण राजनीति परम्परागत मानवीय मूल्यों का विघटन, तथाकथित नवमानववादी सिद्धान्तों की स्थापना, सामाजिक चेतना के नवीन आयामों का उद्‌घाटन और यदि एक वाक्य में कहा जाये तो आज के युग की मौलिक जटिलताओं ने जहाँ साहित्य की सभी विधाओं को निश्चित गति दी है, वहाँ अनिश्चित दिशाओं के द्वार खोलकर साहित्य के मूल्यांकन को विभ्रम और ऊहापोह की स्थिति में डाल दिया है। लेकिन इससे न तो मूल्यांकन का महत्व ही कम हुआ है, और न ही मूल्यांकन की समस्याओं का समाधान मिल पाया है। यह निर्विरोध स्वीकार किया जा सकता है कि वर्तमान साहित्य का निरन्तर विकासमान सामाजिक पक्ष जहाँ साहित्य को अधिकाधिक मूल्यवान बनाता है, जीवन को सापेक्षता को अधिकाधिक महत्व प्रदान करता है, श्रेष्ठतम प्रतिष्ठा देता है। वहाँ उसके मूल्यांकन को भी अत्यधिक महत्वपूर्ण बना देता है। न केवल मूल्यांकन वरन् मूल्यांकन के मानदण्डों के निर्धारण विवेचन का प्रश्न तो और भी गम्भीर बन जाता है।

यहाँ साहित्य की महत्ता का प्रश्न न उठाते हुए हम इतना संकेत भर करना चाहेंगे कि वर्तमान परिस्थितियों-परिधियों में संघर्षरत मानव-जीवन एक विशेष प्रकार के साहित्य की अपेक्षा करता है। आज की वैज्ञानिक प्रगति कुछ ऐसा-सा बोध कराती है कि मानव मस्तिष्क विकास की उस सीढ़ी तक पहुँच गया है, जहाँ अज्ञेय कुछ रहा ही नहीं, किन्तु सामाजिक मस्तिष्क के लिये भौतिक उपलब्धियां भ्रम मात्र हैं। और इसका कारण वह अनवरत संघर्ष है जो परम्परागत व्यवस्था और विकासमान सत्ता के मध्य हो रहा है। हम इस निष्कर्ष पर भी पहुँच चुके हैं कि इसका समाधान एक ऐसे चैतन्य प्रयास में निहित है, जो साहित्यकार की चेतना तथा सामाजिक मस्तिष्क में सामंजस्य स्थापित कर सके।

अब जो प्रश्न उठता है, वह यह कि यह "चैतन्य प्रयास" क्या है? संक्षेप में,

यह प्रयास है सरजित साहित्य का मूल्यांकन। हमने मूल्यांकन के साथ समुचित विशेषण का प्रयोग एक विशेष कारण से किया है। क्योंकि आज का मूल्यांकन विभिन्न विचार-धाराओं तथा संकुचित दृष्टिकोणोंसे किया जा रहा है। फलतः मूल्यांकन भिन्नरूपा हो गया है। भिन्न रूपों से हमारा तात्पर्य उन वादों के आधार पर की गई आलोचनाओं-समालोचनाओं से है जिन्होंने मूल्यांकन की दिशाओं को और धुंधला दिया है।

तथाकथित प्रगतिवादी समालोचकों ने फ्रांसिसी इतिहासकार 'टेन' के सापेक्षता-वादी सौन्दर्य-सिद्धांत, रूसी विचारक प्लेखानोफ के साहित्य सम्बन्धी विचारों और मार्क्स की आर्थिक मान्यताओं को आधार मानकर तात्कालिक सरजित साहित्य को पूंजीवादी सामंती अथवा प्रोलेतेरियन कटघरों में खड़ा कर दिया। परिणाम यह हुआ कि प्रगतिवादी आलोचना की इस मार से एक ओर साहित्य रोटी-रोजी और लाल सेना का प्रचारात्मक बिगुल मात्र बन कर रह गया और दूसरी ओर अपने ही खेमे में मूल्यांकन के मानदण्डों को लेकर घातों—प्रतिघातों का कुरुक्षेत्र बन गया। उनके द्वारा सत्-साहित्य का न्यायोचित मूल्यांकन ऐसी स्थिति में असम्भव था, असम्भव रहा।

इधर काव्यशास्त्रीय परम्परा और सौष्ठववादी समालोचक भी नई प्रगतिवादी धारा की अवहेलना करने में पीछे नहीं रहे। इस प्रकार दोनों धाराओं ने एक दूसरे के अस्तित्व को नगण्य मान कर चलने में ही सत्य का श्रेय समझा। इधर फ्रांस के सार्त्रे, कामू और इलियट अजरा पाउंड से प्रभाव ग्रहण कर अज्ञेय पाँचवीं जमात के जन्म की घोषणा कर बैठे। प्रयोग के नाम पर भाषा, तकनीक, शैली, कथानक आदि-आदि का एक अजूबा बना कर उसे साहित्य कहना आरम्भ किया। और तो और इन प्रयोगवादी प्रवक्ताओं-समालोचकों ने अपनी पूर्ववर्ती दोनों धाराओं को 'आउट ऑफ डेट' घोषित कर दिया। परिणाम यह हुआ कि कविता गद्य बन गई और यह गद्य पश्चिमी फैशन की कुण्ठाओं का अनुकरण मात्र बनकर रह गया। देश-काल और वातावरण की मौलिकता का बहिष्कार कर दिया गया। ४३ से ६० तक के अधिकांश साहित्य का पोस्टमार्टम किया जाय तो यही निष्कर्ष निकलेगा कि वादों की प्रतिष्ठा के साथ-साथ, यह साहित्य लघुमानव की कल्पना, अनिश्चतता और सन्देहों, कुण्ठाओं का गद्य-खण्ड मात्र है।

वास्तव में देखा जाय तो साहित्य-सृजन से कहीं अधिक महत्वपूर्ण प्रश्न साहित्य

के मूल्यांकन का है। यहां यह स्वीकार करने में हमें कोई आपत्ति नहीं कि साहित्य को समाज से अलग करके आंकने की प्रवृत्ति मूल्यांकन की प्रक्रिया का प्रथम अंश ही है। वस्तुतः किसी कृति का मूल्यांकन हमारे निर्णय का वह अन्तिम भाग होता है जहां हम जीवन की समग्र विविधताओं को दृष्टि में रखते हुए रस के साथ-साथ कृति के सृजन को प्रकृति और विभिन्न स्तरों को खोज कर उसका स्थान निर्धारित करते हैं।

इसके साथ ही प्रश्न जुड़ा है मूल्यांकन की व्यक्तिगत सत्ता का। और जब हम व्यक्तिगत सत्ता की बात करते हैं तो मूल्यांकन के मानदण्डों की बात भी स्वाभाविक रूप से जुड़ जाती है। क्या मूल्यांकन के लिये कोई निश्चित मानदण्ड है? क्या प्रत्येक कृति का मूल्यांकन राजनीति से प्रभावित साहित्यिक मानों के आधार पर ही किया जाना चाहिये? क्या भौगोलिक स्थितियां साहित्य के मूल्यांकन पर कोई असर नहीं डालतीं? क्या मूल्यांकन के ये प्रचलित मानदण्ड अपरिवर्तनशील हैं? इन सब प्रश्नों का उत्तर सरल होते हुए भी जटिल है। क्योंकि यदि आलोचना के मानदण्ड जड़ हैं, अपरिवर्तनशील है, देश-काल से दूर हैं तो सामाजिक मस्तिष्क और साहित्य के सम्बन्धों को भूल जाना होगा। और यदि हम ऐसा करते हैं तो कृति के रूप-विधान की परीक्षा को ही 'मूल्यांकन' माननेवाले प्रचारवादी प्रगतिशील आलोचकों को हमें सही मानना होगा। यहां हमें यह स्मरण रखना होगा कि ये आलोचक सर्जित साहित्य-कला के वर्ग-आधार के सिद्धान्त को मार्क्स—की अर्थवादी व्याख्या में ढाल कर एक ऐसे सामाजिक सापेक्षतावाद को प्रचारित करते हैं जो साहित्य और समाज के सम्बन्धों की उभरती हुई पृष्ठभूमि में स्तुत्य नहीं माना जा सकता। दूसरी ओर वे कलावादी हैं जो रूपगत सापेक्षतावाद का प्रतिपादन करते हैं। सन्तुलित-परीक्षण दोनों प्रक्रियाओं को एकांगी ठहरायेगा, यह निर्विवाद है। अतः 'समुचित मूल्यांकन' के लिये दोनों प्रक्रियाओं का सुनियोजित समन्वय आवश्यक है। रूप योजना की कलात्मकता और प्रभविष्णुता का विश्लेषण और विवेचन जहाँ ति के आन्तरिक पक्ष से सम्बन्धित है, वहाँ कृति में सन्निहित मानव-मूल्यों की सार्थक प्रतिष्ठा और गहराई का निर्णय मूल्यांकन को पूर्णता के निकट ले आता है। यह मूल्यांकन की प्रक्रिया का बाह्य पक्ष है।

स्पष्ट है कि मूल्यांकन की व्यक्तिगत सत्ता तो अवश्य है पर साथ ही यह भी

सत्य है कि मूल्यांकन मानवीय प्रक्रिया का ही एक अंग है। मानवीय मूल्यों को गौण मानकर किया गया कोई भी मूल्यांकन एकपक्षीय ही हो सकता है। क्योंकि व्यक्तिगत रुचिभेद के होते हुए भी मानव जीवन के व्यापक और सार्वजनीन मूल्यों से आंख नहीं चुराई जा सकती। इसके साथ एक प्रश्न और जुड़ा हुआ है— वह है ऐतिहासिक चेतना का। ऐतिहासिक चेतना के संदर्भ में विभिन्न जीवन-मूल्यों के विकास में तारतम्य और सम्बन्ध की स्थापना सहज सम्भव है। यह ऐतिहासिक चेतना ही हमें बोध कराती है कि मूल्यांकन के मानदण्ड जड़ नहीं हो सकते। युगानुभूत सत्यों की अवहेलना कर मूल्यांकन के उद्देश्य को प्राप्त नहीं किया जा सकता। साथ ही यह भी सत्य है कि कलाकार की युग-सापेक्ष चेतना का वस्तुनिष्ठ मूल्यांकन असम्भव नहीं।

फिर से मूल्यांकन के महत्व को लीजिये। सत्-साहित्य का सृजन जहां साहित्यकार की अनुभूति की गहराई और उसकी ईमानदार अभिव्यक्ति में निहित है, वहां उसका उचित मूल्यांकन उसे नवीन एवं सही दिशा-संकेत देने के साथ उसका मूल्य-निर्धारण कर साहित्यवेत्ता को भविष्य की संभावनाओं से परिचित कराता है। इस प्रकार ही साहित्यकार आशा और विश्वास के साथ विकास के कदम उठा सकेगा। भविष्य की यह आश्वस्ति ही सत्-साहित्य की सर्जना-शक्ति बनती है। अतः साहित्य 'कितना रचा गया' की अपेक्षा 'कैसा रचा गया' प्रश्न स्वभावतः अधिक महत्वपूर्ण बन जाता है।

यह तो हुई समय—विशेष में बंधे साहित्य के मूल्यांकन की पहली समस्या। इसके साथ ही आलोचक की निरपेक्षता का प्रश्न आता है। समय और समाज सापेक्षता में पलने वाला समालोचक अनिवार्य रूप से साहित्य सृजन की प्रक्रिया का अंग बन जाता है अतः उसके लिए निरपेक्ष द्रष्टा बना रहना संभव नहीं। और तीसरी मुख्य समस्या है सीमित ज्ञान की। उचित मूल्यांकन बिना सम्पूर्ण ज्ञान के संभव नहीं, किन्तु सम्पूर्ण साहित्य और विशेषकर उसके स्त्रोतों का सम्पूर्ण ज्ञान आलोचक के लिये संभव नहीं। वर्तमान युग की जटिलता की बात हम ऊपर कर ही चुके हैं। तो क्या 'उचित मूल्यांकन' मात्र एक आदर्श ही बनारहेगा ?

यद्यपि यह सत्य है कि समय की परिधि में बंधे साहित्य को उसी के परिप्रेक्ष्य में जांचना संभव नहीं, तथापि उसे सार्वजनीन सत्यों और मूल्यों की कसौटी पर

कसने का प्रयास ही मूल्यांकनों के उद्देश्यों को बहुत अंशों तक निकट ला देता है। दर्पण में अपना प्रतिबिम्ब देखकर हम पूर्व अनुभव एवं कल्पना के सहारे अपनी सुन्दरता को परख ही लेते हैं, फिर भले ही अपना प्रतिबिम्ब हमें सदैव प्यारा ही क्यों न लगे ! रहा प्रश्न समालोचक के निरपेक्ष द्रष्टा होने का। तो यह एक आश्चर्यजनक सत्य है कि कलाकार और समीक्षक दोनों के लिये जहां संघर्ष अथवा जीवन—व्यापारों से असम्पृक्त रहना आवश्यक है वहां उनमें डूबना भी अनिवार्य है। दूसरे शब्दों में 'अगर किसी के लिये भी संघर्ष से असम्पृक्त रहना आवश्यक है तो वह साहित्यकार के लिए और अगर किसी के लिए भी संघर्ष में डूबना आवश्यक है तो वह साहित्यकार के लिये।' समालोचक की इस स्थिति को हम 'सापेक्ष निरपेक्षता' के रूप में स्वीकार कर सकते है।

ऊपर हमने मूल्यांकन की समस्याओं की बात की है। 'समुचित मूल्यांकन' के लिये सार्वजनीन सत्यों का उद्घाटन और मानवीय मूल्यों की परम्परागत व्यवस्थाओं का युग-धर्म के साथ संतुलित सामंजस्य स्थापित करने का प्रश्न तो है ही, साथ मूल्यांकन के क्षेत्र का निश्चित भविष्य (अगर हम उसे इस रूप में चाहें) अपेक्षा करता है वर्तमान पर दृष्टि डालने की। जहां तक वर्तमान हिन्दी समीक्षा के रूप विधान एवं मानों का प्रश्न है, यह तो सहज ही कहा जा सकता है कि हमारे समीक्षक या तो अपने उत्तरदायित्व को पूर्णतया समझने की चेष्टा नहीं कर रहे अथवा निभा नहीं पा रहे। किन्तु यह कहने से हमारा यह तात्पर्य कदापि नहीं है कि आज की हिन्दी समीक्षा क्रियाशील नहीं है। हमें तो इतना मात्र कहना चाहते हैं कि दूरगामी, गहरे' एवं सतर्क संश्लेषण एवं विश्लेषण के लिये जिस संतुलित एवं संयमित अपक्षधर दृष्टि की आवश्यकता है, हिन्दी साहित्य के होने वाले द्रुत-विकास एवं कलापक्ष की सशक्त अन्वेषण-प्रवृति की सापेक्षता में उसका समुचित विकास नहीं हो पाया है। यह दुर्भाग्य की बात है कि 'पुस्तक समीक्षा' के नाम पर हमारे सुधी-समीक्षक आलोचना अथवा मूल्यांकन का एक छिछला आदर्श उपस्थित कर रहे हैं। आज आलोचना, प्रशस्ति अथवा निन्दा के रूप में हो रही है, मूल्यांकन के रूप में नहीं इसका कारण है परोक्ष-अपरोक्ष स्वार्थ, दृश्य-अदृश्य मतवादिता और महन्ती परायणता। फिर भी आलोचना के क्षेत्र में हिन्दी साहित्य का पिछला दशक अपना महत्व रखता है। उपर्युक्त सब कुछ होते हुये भी इतना तो स्वीकारना ही पड़ता है कि आधुनिकता, वैज्ञानिकता, समन्वय तथा

नई दिशाओं की खोज की जिज्ञासा, मर्यादायें तथा मानव–मूल्य की समस्याओं के अध्ययन के साथ-साथ पिछले दशक के हिन्दी साहित्य में 'समग्र दृष्टिबोध तथा वस्तुपरक प्रवृत्ति' उभरती-सी दीख रही है । यह एक शुभ लक्षण है ।

मूल्यांकन की सार्थकता अपने वास्तविक रूप में साहित्य की रचनाशील शक्तियों एवं प्रवृत्तियों को कलात्मक रूप देने के मार्ग में उठने वाली वस्तु, रूप, शैली तथा टेकनीक आदि से सम्बन्धित समस्याओं का उपयुक्त समाधान खोजने के साथ-साथ उन शक्तियों एवं प्रवृत्तियों को नवीन जीवन-दृष्टि देने में है। क्या है 'एवं' क्या होना चाहिये— ये दो प्रश्न मिलकर ही 'समुचित मूल्यांकन' के वाचक बनते हैं ।

यहां आकर यथार्थवादी आलोचक अलग से हट जाते है। उनकी कला की अपनी परिभाषा है। उनके अनुसार कला सामाजिक चेतना का वह विशिष्ट रूप है जिसके माध्यम से मनुष्य का मानस सामाजिक वास्तविकता को प्रतिबिम्बित करता है।' जहां तक सामाजिक वास्तविकता को प्रतिबिम्बित करने का प्रश्न है, परम्परागत मानवीय मूल्यों के संदर्भ में भी किसी को इस परिभाषा से आपत्ति नहीं हो सकती। किन्तु जब सामाजिक वास्तविकता की मीमांसा का प्रश्न आता है, एक स्पष्ट विभाजनरेखा उभर आती है । सच पूछा जाये तो साहित्यिक यथार्थ 'क्या है' के साथ–साथ 'क्या था' और 'क्या होना चाहिये' को अपने में समेटे हुये है और इसे स्वीकार करके ही समुचित मूल्यांकन के निकट पहुँचा जा सकता है। वास्तविकता गतिशील है। संवेदनात्मक क्रियाशीलता ही चेतना को जन्म देती है। अतः यथार्थवाद के अन्तर यथार्थ जीवन के अतीत के साथ–साथ यथार्थ जीवन की सम्भावनायें भी निहित हैं।

यहां एक बात और स्पष्ट हो जानी चाहिये कि मानव मूल्यों की सापेक्षता में साहित्य को परखने वाले युगीन समस्याओं को भी श्रेष्ठ साहित्य की प्राथमिक आवश्यकता मानते हैं। वास्तव में तो श्रेष्ठ रचना वही है जो युगीन समस्याओं को निभाते हुये भी विश्वजनीन तथा सार्वकालिक महत्व प्राप्त कर सके। इतना ही नहीं, अपितु हमें यह भी स्वीकारना होगा कि मानव जीवन के विश्व जनीन सत्य उसके विशिष्ट ऐतिहासिक और राष्ट्रीय जीवन के माध्यम से ही उद्घाटित हो सकते हैं! अतः युगीन

समस्याओं के परिप्रेक्ष्य में ही कृति की श्रेष्ठता की सम्भावनायें देखी जा सकती हैं। फिर श्रेष्ठता समय की सीमाओं में नहीं बंधती अपितु हर श्रेष्ठ कृति का सौन्दर्य तो प्रत्येक युग में बढ़ जाता है। इतना ही नहीं, उसमें प्रत्येक नये युग को नया जीवन-संदेश देने की सामर्थ्य होती है। आवश्यकता उस संदेश को ढूढ़ने की है। और समुचित मूल्यांकन की प्रथम और अन्तिम शर्त है, इस प्रवहमान सत्य को अपने युग की वाणी देना। यह तभी सम्भव है जब युग-बोध और युगानुभूति के समस्त क्षेत्रों की परीक्षा-समीक्षा हो, क्योंकि किसी भी नवीन जीवन-दर्शन के लिये कोई लघु मार्ग नहीं।

इस सीमित कलेवर में हिन्दी साहित्य की सभी विधाओं का मूल्यांकन सम्भव नहीं, किन्तु प्रयास किया गया है कि यह पुस्तक इस दशक के साहित्य की परिवर्तित सीमाओं का आभास अवश्य दे। यह विकास और परिपक्वता का सीमान्त नहीं हो सकता। पुस्तक के प्रारूपकारों और लेखकों को कठिनाई और संकोच का बोध अवश्य हुआ पर सृजन की—विवादग्रस्त ही सही शिल्प, शैली-विषय भाव-विधान आदि की नवीन उपलब्धियों और उनकी विकासोन्मुख गति को प्रारम्भ से ही मूल्यांकन के संकेत दे सके, इसी अर्थ में यह प्रयास मूर्त रूप ले सका है। और वह प्रयास इसलिये भी कि हम मुड़कर देखने की आदत डालें, मुड़कर देखने का महत्व समझें। पुस्तक की एक और विशेषता है; और वह यह कि लगभग सभी समीक्षक नई पीढ़ी के हैं— अनुभव के दृष्टिकोण से भी और आयु की दृष्टि से भी। इस प्रकार यह महत्वपूर्ण संकलन इस प्रश्न का उत्तर है कि नई पीढ़ी समसामयिक हिन्दी साहित्य को किस दृष्टि से आंकती है। अपनी उपलब्धियों का स्वयं मूल्यांकन —आत्म-विश्लेषण —निस्संदेह हमारे भविष्य साहित्य को निश्चित गति और निश्चित दिशा देने में सहायक होगा।

इस पुस्तक के अन्तिम चार निबन्धों को मैंने एक विशेष दृष्टि से जोड़ा है। 'उन्मेलेखन' दशक के उत्तरार्द्ध के भाव-बोध और मूल्य बोध की नई संज्ञा है और 'दशक और दस' के तीन निबन्ध साहित्य के उन स्वरों को मुखरित करते हैं जो सृष्टा के किसी अनजान कोने में सुरक्षित पड़े थे।

अंत में मैं संकलन के सभी लेखकों का आभार प्रदर्शित करता हूँ, अपनी ओर से

भी और वातायन प्रकाशन की ओर से भी ।

विश्वास है यह पुस्तक हिन्दी साहित्य के प्रत्येक पाठक के लिये उपादेय सिद्ध होगी ।

— विश्वनाथ

डॉ० विश्वम्भरनाथ उपाध्याय

हिन्दी में अनुसंधान: एक सैद्धान्तिक विवेचन

अनुसन्धान या शोध-कार्य सबसे कठिन और सरल कार्य है। कठिन उनके लिए जो मात्र उपाधि के लिए शोध-कार्य करते हैं और सरल उनके लिए जो केवल उपाधि और तदनन्तर वृत्ति के लिए कार्य करते हैं। एक कक्षा और है। ऐसे शोधार्थी भी हैं जो उपाधि और वृत्ति के लिए ही शोध-कार्य करते हैं किन्तु उसे पूर्ण उत्तरदायित्व के साथ करते हैं।

वर्तमान स्वरूपः—शोध एक पवित्र कार्य है। ज्ञान की राशि को समृद्ध करना ही इसका उद्देश्य है। किसी भी भाषा के प्रारम्भिक विकास-सोपानों में उस भाषा के लेखकों और अनुसंधानकर्त्ताओं में एक "मिशनरी स्प्रिट" होती है, इस स्थिति में इन ज्ञान-क्षेत्र के स्वयसेवकों को केवल सम्मान मिलता है और अपने कार्य से संतोष। शिवसिंह, मिश्रबन्धु, रामचन्द्र शुक्ल तक विद्वानों में यही प्रवृत्ति प्रधान दिखाई पड़ती है। विश्वविद्यालयों में हिन्दी के प्रवेश के पूर्व "हिन्दी-सेवा" ही लेखकों का उद्देश्य हुआ करता था और हिन्दी सेवा राष्ट्रीयता-आन्दोलन की एक दृढ श्रृंखला थी। पद प्राप्ति या अर्थलाभ तब नितान्त गौण था। भारतेन्दु-युग तथा द्विवेदी-युग में या तो लेखक सर्वहारा थे अथवा धनीमानी सज्जन जो अपनी सात्विक 'धुन" के कारण हिन्दी का कार्य करते थे। बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र जैसे लेखक प्रथम श्रेणी में और भारतेन्दु और प्रेमघन

दूसरी कोटि में प्रतिष्ठित किए जा सकते हैं। संस्थाओं में लेखकों को अवश्य वृत्ति मिल जाया करती थी और इसीलिए काशी नागरी प्रचारिणी, साहित्य सम्मेलन हिन्दी के आदि गढ़ बनते गए। किन्तु इन संस्थाओं के प्रारम्भ रूप में जब तक हिन्दी सेवा भाव प्रबल रहा, तब तक शोधकार्य अच्छा हुआ। बाद में विश्वविद्यालयों की तरह नौकरशाही मनोवृत्ति ने इन संस्थाओं को भी धर दबोचा। फलतः इन संस्थाओं में शोधकार्य का स्तर गिरा।

विश्वविद्यालयों में हिन्दी का प्रवेश होते ही हिन्दी सेवा व्यक्तिगत उन्नति का पर्याय बनती गई। यह ऐतिहासिक दृष्टि से स्वाभाविक भी था। अब हिन्दी का क्षेत्र व्यवसायिक प्रतिद्वन्द्विता से पीड़ित होने लगा। विश्वविद्यालयों और कालेजों में किए गए अनुसंधान कार्य के सचालन और निरीक्षण की कोई पूर्व परम्परा हिन्दी में थी नहीं। अन्य विषयों इतिहास, अंग्रेजी, संस्कृत, भूगोल, राजनीति तथा विज्ञान-विषयों में परम्पराएं बन चुकी थीं और इन विषयों की अनुसंधान-परम्परा और स्तर अंतर्राष्ट्रीय परम्परा और स्तर से सम्बद्ध थे। विशेषकर इस देश में हिन्दी के सिवा अन्य विषयों के अनुसंधित्सु पश्चिमी योरोप से शिक्षित होकर लौटते थे और अंग्रेजी अनुसंधान का माध्यम होने के कारण एक देश के कार्य का अंतर्राष्ट्रीय प्रचार और परीक्षण होता था या हो सकता था। हिन्दी में अनुसंधान की भाषा कतिपय निबंधों में अंग्रेजी भी रही किन्तु "भारतीय विद्या" (Indology में यदि हिन्दी को योरोपीय देश स्वीकार कर लेते तो इग्लैंड, फ्रान्स, जर्मनी आदि देशों में अन्य विषयों की ही तरह हिन्दी का अनुसधान उसी प्रकार होता, जैसा संस्कृत और दर्शन में हुआ। किन्तु योरोपीय देशों के हिन्दी-विभागों में जो अनुसंधान हुआ भी, वह एक तो भाषा और लोकसाहित्य आदि से सम्बन्धित रहा दूसरे "भारतीय हिन्दी अनुसधान" उनके लिए आदर्श हुआ। अन्य विषयों में शोधार्थी दूसरे देशों के स्तर को देखता है, हिन्दी के लिए दूसरे देश भारतवर्ष के विश्वविद्यालयों और अन्य संस्थाओं को देखते हैं। रूस में अवश्य हिन्दी-शोधकार्य स्वतंत्र रूप में हुआ किन्तु वहां भी भाषा सम्बन्धी कार्य अधिक हुआ। तात्विक चिन्तन के लिए भारतीय लेखकों को देखा गया। अतएव हिन्दी के लिए विश्वविद्यालयों को मापदण्ड मान लिया गया। हमारे हिन्दी के प्राध्यापकों और अनुसधानकर्त्ताओं पर कितना बड़ा उत्तरदायित्व है, यह स्पष्ट है।

क्या इस उत्तरदायित्व को हम निभा पाये हैं ? परिमाण की दृष्टि से

अर्थशास्त्र और रसायनशास्त्र ही हिन्दी से तुलना कर सकते हैं। शेष विषयों को हिन्दी परिमाण की दृष्टि से पीछे छोड़ चुकी है। अनुमानतः ६०० अनुसंधानकर्त्ता कार्य कर रहे हैं और प्रति वर्ष शोधार्थियों की संख्या बढ़ती चली जा रही है। आगरा विश्वविद्यालय में प्रति वर्ष औसतन ३०–४० छात्र पी० एच–डी० की उपाधियां लेते हैं। इधर डी० लिट० की संख्या भी बढ़ती जा रही है। पी० एच–डी० इतने अधिक हैं कि अब एम० ए० और पी० एच–डी० ही कालेजों और विश्वविद्यालयों में लेक्चरर नियुक्त किए जाते हैं, अगले दस बीस वर्षों में बिना डी० लिट० की उपाधि के शायद कोई लेक्चरर भी नहीं हो सकेगा और उपाधि का पद के साथ सम्बद्ध होना यह बताता है कि आज पी० एच–डी० कितनी सस्ती है, डी० लिट्० की उपाधि आज से कुछ वर्षों बाद उतनी ही सस्ती हो जाएगी। कारण क्या है ?

सर्वाङ्गव्यापी ह्रास:—प्रायः कहा जाता है कि विकास का अवसर मिलते ही विकास झंझावात की तरह होता है और नियमतः परिमाणात्मक विकास प्रथम होता है, तदनन्तर उससे गुणात्मक विकास होता है किन्तु हिन्दी में प्रारम्भ में लेखकों में जो श्रम करने का स्वभाव था, वह बराबर कम हुआ है और चिंतन शक्ति का आधुनिक शिक्षा पद्धति के कारण बराबर ह्रास हुआ है क्योंकि शिक्षा का एकमात्र उद्देश्य वृत्तिप्राप्ति है। अतः जब तक बेकारी की समस्या हल नहीं होती तब तक अनुसंधान का स्तर इने गिने मनीषियों के शोधकार्य के अतिरिक्त उच्चतर हो नहीं सकता। अतएव शोधकार्य का सम्बन्ध वर्तमान सामाजिक व्यवस्था के साथ सम्बद्ध है, यह तथ्य "अनुसंधान" पर लिखे गए किसी "ग्रन्थ" में नहीं मिलता। विश्वविद्यालय न तो बढ़ती हुई आबादी को कम कर सकते हैं और न राजनैतिक, सामाजिक भ्रष्टाचार को ही अनुशासित कर सकते हैं। अवसरवादी वातावरण की सृष्टि का सारा उत्तरदायित्व नेताओं, शासकों और अन्य लोगों पर है, छात्रों पर नहीं। अतः अनुसंधान में "शार्ट कट" सिफारिश से शोध प्रबन्धों की स्वीकृति, खुशामद से उपाधि प्राप्त आदि प्रवृत्तियां बाह्य समाज की प्रतिबिम्ब मात्र है। व्यक्तिगत पूंजी पर आधारित समाज में जनतंत्र "दबाव तंत्र" बन जाता है और ऐसा कोई कार्य नहीं है जो जनतन्त्र में "दबाव" (influence or pressure) से न हो सके। इस सर्वनव्यापी दबाव से विश्वविद्यालय के अध्यक्ष प्राध्यापक, निरीक्षक, उपकुलपति, आदि "विवश' हो जाते हैं क्योंकि जनतंत्र में "दबाव" से अथवा "सम्बन्धों" से ही उच्चपद प्राप्त हो सकते हैं। जो जिस विधि से जिस वस्तु को

प्राप्त करता है, उसी विधि से वह बांटता है, यह नियम आज कार्य कर रहा है। मानवीय दुर्बलता भी सामने आ जाती है अतः इस समाज के सर्वाङ्गव्यापी विषबेलि की निन्दा तो सभी करते हैं किन्तु निन्दा रोग का उपाय नहीं है उपाय केवल एक है—वास्तविक समाजवाद की स्थापना, जिसमें मानव मूल्यों की प्रतिष्ठा हो और गुणात्मक विकास हो सके। किन्तु मेरी इस बात को "राजनैतिक स्टण्ट" कह कर उड़ा दिया जाएगा यह मैं जानता हूँ। जनतांत्रिक संस्थाओं में शोधस्तर को केवल हिन्दी के प्रारम्भिक लेखकों—शिवसिंह, मिश्रबन्धु, रामचन्द्र शुक्ल बालकृष्ण भट्ट, भारतेन्दु आदि की 'मिशनरी स्प्रिट' को पुनः अपनाकर ही उच्चतर किया जा सकता है, शायद इस बात से किसी को मतभेद न होगा किन्तु इस मनोवृत्ति के विकास में बाधाएँ हैं—असमान वेतनक्रम प्रथम बाधा है। एक ही कार्य करनेवालों को एक वेतन नहीं मिलता और उन्नति शोधकार्य या अन्य साहित्यिक कार्य के "गुण" के आधार पर नहीं होती। राजकीय संस्थाओं में तो कार्य करने की आवश्यकता ही नहीं होती क्योंकि सरकारें उत्तीर्ण और अनुत्तीर्ण का प्रतिशत पूछती हैं, ऐसा कोई नियम नहीं है कि जो प्राध्यापक या अध्यक्ष उपाधि के अतिरिक्त शोध-कार्य नहीं करता, उसकी वेतन-वृद्धि न हो। सम्मान पद के साथ सम्बद्ध होगया है, अध्यक्ष को पाठ्यक्रम में प्रकाशकों की पुस्तकें स्वीकार करने का अधिकार है अतः प्रकाशक अध्यक्ष को ही घेरते हैं। अध्यक्ष प्रभाव, धन और शक्ति का केन्द्र बन जाता है और इस बाह्य परिस्थिति के कारण ऐसे मनोविकारों का विकास करता है जो पुराने राजा, रईसों या बड़े अफसरों में होते हैं फिर सरकार योग्यता का आधार भी पद को मानती है। हर सरकारी कमेटी में बेचारे अध्यक्ष को ही घसीटा जाता है, पुनः रुपया और प्रभाव आता है और उसका अपना कार्य पिछड़ता है, फलतः निरीक्षण कार्य में शीघ्रता और लापरवाही का सुखद विकास होता है। प्राध्यापकों को शोध-वजीफा नहीं मिलता, उनकी उतनी पूछ नहीं होती अतः वे हीनभाव से पीड़ित रहते हैं, अपने शोधार्थियों को उपाधि दिलाने के लिए उन्हें वही करना पड़ता है जो उन्हें अपनी उपाधि के लिए करना पड़ता है। शोधार्थियों की आर्थिक दुरावस्था से शोध-निरीक्षक और उपाधिदाता करुणाप्लुत भी हो उठते हैं, अन्ततः वे मनुष्य हैं और जिस छात्र ने तीन चार वर्ष श्रम करके जो कुछ लिखा है, उसे टाइप कराने में व्यय हुआ है, २५०) विश्वविद्यालय ले ही लेते हैं। गरीब छात्र जब किसी उपाधिदाता परीक्षक से रोता है तब परीक्षक क्या करे ? तो परिस्थिति संकुल है। बहुत सरलीकरण संभव नहीं है

वर्तमान स्थिति में न तो छात्रों को शोध करने से रोका जा सकता है और न कालेजों और विश्वविद्यालयों के प्राध्यापकों से अधिक आशा की जा सकती है; आशा का अवलम्ब कुछ विशिष्ट व्यक्ति हो सकते हैं जो 'शोधव्रत' लें और उक्त दुर्बलताओं और कठिनाइयों पर यथासम्भव विजय प्राप्त करें, ऐसे व्यक्ति ही परम्परा बना सकते हैं। इसके अतिरिक्त 'शोध विद्यापीठों' की स्थापना होनी चाहिए जहां अध्यापन का काम न हो, केवल शोध का कार्य हो और अध्यापन केवल शोधार्थियों का हो। शोध के निरीक्षकों से सरकार कम से कम काम ले और यदि काम ले तो वह शोध से ही सम्बन्धित हो। सरकार हिन्दी की उच्चकोटि की आलोचनात्मक पत्रिकाओं की सहायता करे ताकि पत्रिकाओं के सम्पादकों को प्रकाशकों की प्रसन्नता के लिए न लिखना पड़े, इन शोध-पत्रिकाओं में एक एक 'शोध प्रबन्ध' पर गम्भीरता से विचार किया जाय, एक एक 'रिफरेंस' की जांच की जाय और यदि प्रबन्ध में कमी है तो उसके विरुद्ध जनमत तैयार किया जाय। हिन्दी में आज एक भी निर्भीक पत्रिका नहीं है जो इस कटु कार्य को कर रही हो, एक भी ऐसा लेखक नहीं है जो स्पष्ट रूप से अनुसंधान की परीक्षा करके अपना मत दे रहा है इसके अतिरिक्त विश्वविद्यालय भी आत्मनिरीक्षण कर इस पवित्र कार्य में सहयोग दे सकते हैं। शोध की परीक्षा प्रक्रिया में छात्र और परीक्षक के बीच 'क्लर्क' एक ऐसी अनावश्यक शृंखला है, जिसे समाप्त न किया जा सके तो प्रभावहीन अवश्य किया जा सकता है। शोधप्रबंध के निरीक्षण कार्य के बदले ५०) मिलता है, जो बहुत कम है यदि छात्र पर भार बढ़ता है तब इसे प्राध्यापकों में 'आवश्यक कार्यों' में सम्मिलित किया जा सकता है अथवा इस तरह के व्यय को सरकार पूरा कर सकती है। किन्तु इस प्रकार के जितने सुधार किये जाएंगे, उन्हें लागू करने में अन्तिम रूप में किसी व्यक्ति या व्यक्तियों पर निर्भर रहना पड़ेगा और व्यक्ति की नैतिक दृढ़ता ही अन्तिम व्याख्या में शोधकार्य को उच्चतर बना सकती है। यह नैतिक दृढ़ता ऊपर से प्रारम्भ होनी चाहिए, महाजनो येन गतः स पन्थः ॥

सैद्धान्तिक बाधाएं—व्यावहारिक दृष्टि से शोध-कार्य पर विचार कर लेने के पश्चात अब सैद्धान्तिक दृष्टि से विचार करना चाहिए। प्रथम शोध सम्बन्धी भ्रमों का निराकरण आवश्यक है। शोध क्या है इस प्रश्न का उत्तर सरल नहीं है। विश्वविद्यालय कहते हैं कि अज्ञात को ज्ञात करना, ज्ञात की पुनर्व्याख्या करना शोध

है। किन्तु इनमें यह बिन्दु विचारणीय है कि साहित्य के मूल उपादानों या प्रक्रिया पर स्वतन्त्र रूप से चिंतन अनुसंधान है या नहीं ? उदाहरण के लिए एडीसन ने 'कल्पना' पर जो निबन्ध लिखा है, अथवा क्रोसे के सौन्दर्य सम्बन्धी निबन्ध जैसे किसी निबन्ध पर पी० एच-डी० या डी० लिट्० दी जाय या नहीं ? मेरा अपना मत यह है कि कला और साहित्य की तात्त्विक चर्चा को सबसे अधिक महत्व मिलना चाहिए क्योंकि यही कार्य सबसे अधिक कठिन होता है। अज्ञात तथ्यों का ज्ञान करना बहुत उपयोगी कार्य है और शोध यहीं से आरम्भ होती है यानी यह प्रथम सोपान है—अनुसंधान की रीढ़ है। पाठसंशोधन और पाठनिर्धारण भी ऐसा ही आवश्यक कार्य है। इसके बिना किसी प्राचीन ग्रन्थ की व्याख्या ही असम्भव है। किन्तु यह सब साधन है, साध्य है साहित्य की तात्त्विक चर्चा। हिन्दी के अनुसंधान में अज्ञात ग्रन्थों की शोध काफी हुई है। यद्यपि एक इसी क्षेत्र में अभी शताधिक वर्षो का काम पड़ा हुआ है। न जाने कितनी पांडुलिपियां अभी तक शोधार्थी के सम्मुख नहीं आ पाई है। कई पुराने धार्मिक पुस्तकालयों के ताले अब तक नहीं खुले हैं। किन्तु पिछले वर्षो में और विशेष रूप से स्वतंत्रता के बाद इस क्षेत्र में पर्याप्त काम हो रहा है केवल श्रम और सामान्य ज्ञान से ही यह काम हो जाता है अतः इस क्षेत्र में सराहनीय कार्य हुआ है। दूसरे इस क्षेत्र में भ्रमों की गुंजायश कम है। कोई पुराना ग्रंथ मिल जाने पर फिर आगे का कार्य सरल हो जाता है। पाठसंशोधन और पाठ निर्धारण का कार्य अपेक्षाकृत पिछड़ा हुआ है। इस क्षेत्र में डा० माताप्रसाद गुप्त जैसे विशेषज्ञ का समय अध्यापन में नष्ट न कराके स्वतंत्र शोध संस्था का उन्हें निदेशक बनाना चाहिए। फिर भी यह मानना होगा कि हिन्दी का जनमत इन उक्त शोध-क्षेत्रों के विरुद्ध नहीं है।

अधिकतर हिन्दी के स्तर की आलोचना तथ्यों की पुनर्व्याख्या, प्रवृत्तियों की व्याख्या अथवा कविता, उपन्यास नाटक, गद्यकाव्य आदि की व्याख्या के विषय में होती है। कारण क्या है ? इस शोध के कई अंग हैं। प्रथम भूमिकाओं से संबंधित है। भूमिकाओं द्वारा दो कार्य होते हैं—मुख्य विषय की पृष्ठभूमि प्रस्तुत करना, द्वितीय प्रतिपाद्य विषय के राजनैतिक, सामाजिक सन्दर्भों की शोध। प्रथम में ऋग्वेद से लेकर प्रतिपाद्य युग तक का विहंगावलोकन अनेक शोध ग्रन्थों में मिलेगा और इनमें अधिकतर भूमिकाएं उपहासास्पद होती हैं। यह तो ठीक है कि ऋग्वेद से हमारा साहित्य और समाज का अध्ययन आरम्भ होना चाहिए, किन्तु 'भारतीय

विद्या' एक कठिन विषय है और इसलिए इस विषय से सम्बन्धित हिन्दी के अनुसंधान-कर्ताओं का ज्ञान अपर्याप्त होता है । संस्कृतज्ञ इतिहासवेत्ता तथा अन्य व्यक्ति हिन्दी के शोध ग्रन्थों का इसीलिए उपहास करते हैं । द्वितीय भूमिकाएं अथवा पृष्ठभूमियां प्रतिपाद्य युग के इतिहास से सम्बन्धित होती हैं । हिन्दी शोध ग्रन्थों में प्रस्तुत इतिहास न इतिहास होता है, न कल्पना । प्रायः शोधार्थी इतिहास की किसी पाठ्यपुस्तक की नकल कर देता है । उस विषय पर विभिन्न इतिहासकारों के ज्ञान के प्रकाश में तथा स्वयं अपने ज्ञान के प्रकाश में वह तथ्यों और प्रवृत्तियों को नहीं परखता। वह यह भी चिन्ता नहीं करता कि स्वयं इतिहास के प्रति अनेक धारणाएं हैं और इन धारणाओं से परिचित होना उतना ही आवश्यक है, जितना कि युग के साहित्य से परिचित होना । उदाहरण के लिए हिन्दी के शोधार्थी प्रायः यह नहीं जानते कि इतिहास के प्रति नियतिवादी , वर्गसंघर्षवादी, संस्कृतिवादी धारणाओं में आपस में क्या भेद है ? दूसरे देशों के साहित्य सम्बन्धी अनुसन्धानों का स्तर इसीलिए उच्चतर है, क्योंकि वहां एक साहित्यिक का अन्य विषयों का ज्ञान भरपूर होता है। प्राचीन और मध्ययुग के साहित्य की शोध और उसकी व्याख्या के लिए इतिहास होना अनिवार्य है किन्तु हिन्दी में जो एक व्याख्या चल पड़ी है, तो वर्षों शोध ग्रन्थों में भी उसकी पुनरावृत्ति होती रहती है । यही कारण है कि मध्यकालीन सन्त वैष्णव साहित्य की नवीन व्याख्या उपाधिकारी नहीं कर सके, हां यह बात दूसरी है कि ऐसे व्यक्तियों को बाद में उपाधि दे दी गई हो । प्रगतिवादियों के प्रयत्न से शुक्ल जी के बाद इतिहास के प्रति द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी दृष्टि का प्रचार हुआ किन्तु प्रगतिवादियों को छोड़कर सामान्य शोधार्थी इसका खण्डन मंडन तो दूर, इसे समझ भी नहीं पाया । द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी व्याख्या के खंडन में 'अमरीकी सम्प्रदाय' आया, जो इतिहास की वर्गसंघर्षीय व्याख्या तथा इतिहास की भविष्यवाणी सम्भव है, उस मार्क्सवादी मत के विरुद्ध इतिहास की व्याख्या में किन्हीं सार्वभौमिक नियमों के अनुसंधानों को अनैतिहासिक कार्य मानता है । श्री पोपर की ''पावरटी आफ हिस्टोरीसिज्म' नामक पुस्तक इसी प्रकार की है । इस सम्प्रदाय से भी हिन्दी का परिचय नहीं है। इसी तरह इंगलैण्ड के प्रसिद्ध विद्वान ''टायनबी'' की इतिहास सम्बन्धी धारणाएं ध्यान देने योग्य हैं, इन सबसे यह पता चलता है कि किसी युग के साहित्य समाज को कैसे देखना चाहिए, किन्तु राजपूतकाल भक्तिकाल और रीतिकाल के सम्बन्ध में

हिन्दी शोधग्रंथों में पिष्टपेषण ही मिलेगा। अतः यह द्वितीय इतिहास ज्ञान भी उपहासास्पद होकर रह जाता है। इस क्षेत्र में जो मौलिक काम हुआ है, वह "अनुसंधान" के क्षेत्र के बाहर के व्यक्तियों द्वारा हुआ है। भाषा, अलंकार परिगणन छन्द जैसे विषयों पर "मौलिक" काम हुआ है इसमें संदेह नहीं। हिन्दी का अनुसंधित्सु समाज निरपेक्ष कार्य में सुविधा पाता है।

व्याख्या सम्बंधी तीसरा कार्य साहित्य व्याख्या का कार्य है। उदाहरणतः "स्वयंभू रामायण का अध्ययन" रामचरितमानस का सांस्कृतिक अध्ययन, सूरसागर में वात्सल्य रस, पद्मावत का काव्य सौष्ठव, आदि आदि। अपभ्रंश और रासो साहित्य की भाषाओं का अध्ययन अच्छा हुआ है किन्तु भाषा समाज के स्वरूप से सम्बंधित है। इस बिन्दु पर शोध ग्रंथों में सतही विवेचन मिलेगा। सांस्कृतिक अध्ययनों, समाज के विकास और स्वरूप के विषय में घोर अज्ञान के प्रदर्शन की चिन्ता न कर विवरण देने में पूरी योग्यता आप किसी भी शोध ग्रंथ में देख सकते हैं। किसी शब्द का किसी काव्य में कितनी बार प्रयोग हुआ है अथवा किसी काव्य में किन पर्वों, आभूषणों आदि का नाम आया है, ऐसे विवरण शोध ग्रंथों में बहुत मिलेंगे। मेरा तात्पर्य ऐसे ग्रन्थों में शोधक का वैचारिक स्तर अतिसामान्य होने के कारण विवरण संग्रथित रूप में नहीं आ पाता भक्ति के कितने भेद हैं, यह सोदाहरण मिल सकता है। किन्तु भक्ति युग क्यों आता है, वह १६वीं शताब्दी में ही क्यों प्रबल हुआ, पहले क्यों नहीं हुआ ? भक्ति समाज की किस आकांक्षा को प्रकट करती है, ऐसे तात्विक प्रश्नों का उत्तर शोध ग्रंथों में कम ही मिलेगा। किसी पुराण का किसी काव्य पर क्या प्रभाव है, यह तो सरल कार्य है किन्तु स्वयं पुराण (Myth) क्या है, वास्तविकता उसमें किस प्रकार और क्यों व्यक्त होती है, यह सब शोध से बाहर का विषय समझा जाता है। इसका कारण यह है कि जब तक साहित्य का अध्ययन इतिहास और समाजशास्त्र से असम्बद्ध होगा, तब तक पिष्टपेषण और विवरण ही हाथ आएगा। इतिहास और समाजशास्त्र का अर्थ यह है कि समाज के सम्पूर्ण विकास को समझने का प्रयत्न करना, और दर्शन, धर्म साहित्य और कलाओं के आविर्भाव और विकास को समाज के विकास के साथ सम्बद्ध करके देखना।

"शुद्ध साहित्यिक अध्ययन" जैसी वस्तु कोई होती नहीं क्योंकि साहित्य समाज

का दर्पण है यह उक्ति बहुत प्रसिद्ध है। परन्तु साहित्य में समाज के प्रतिबिम्ब का स्वरूप कैसे समझा जाय इसके लिए समाज के स्वरूप को समझना होगा। जिन शोधग्रन्थों में रस, अलंकार, छन्द, कल्पना, भाषा आदि का विवरण होता है उन्हें "शुद्ध साहित्यिक अध्ययन" कह दिया जाता है। किन्तु इन अध्ययनों के विषय में विवाद है। कुछ परीक्षक-निरीक्षक और उपाधिदाता आलोचना, और शोध, में अंतर नहीं मानते, कुछ मानते हैं। "तुलसीदास के काव्यसौष्ठव" पर मान लीजिए आपने एक पुस्तक पूरी सूझ-बूझ और श्रम से लिखी किन्तु 'शोध' यह तभी मानी जाएगी, जब इस पर आपको उपाधि मिली हो ! अन्यथा 'जनरल बुक" है, कह कर उसकी उपेक्षा की जाएगी। इसी विषय पर उपाधि के लिए प्रस्तुत और स्वीकृत प्रबंध में और आपकी पुस्तक की तुलना करने पर भले ही आपकी पुस्तक में अधिक मौलिकता हो किन्तु आपकी पुस्तक का वह महत्व न होगा क्योंकि एक तो आपने उपाधि न लेने की धृष्टता की, दूसरे आपने पुस्तकों की विराट सूची और शब्दानुक्रमणिका पुस्तक के साथ नहीं दी !!

शोध का हर विषय कठिन है यदि उस पर प्राप्त सम्पूर्ण ज्ञान से परिचित होकर मौलिक चिंतन किया जाए। मौलिकता के स्थान पर इधर अनुसंधान प्रक्रिया पर बहुत बल दिया जाने लगा है। मौलिक चिंतन में वह शक्ति है जो ज्ञान के नये आयाम खोलता है, किंतु एम० ए० परीक्षा की उत्तर पुस्तिकाओं में जिस प्रकार मौलिकता को अपराध माना जाता है उसी प्रकार शोध में निरीक्षक अथवा परीक्षक अथवा सम्भावित परीक्षकों के दृष्टिकोण के विरुद्ध जाना खतरनाक समझा जाता है। यह कार्य है भी कठिन। अतः अनुसंधान-प्रक्रिया पर अधिक बल दिया जाने लगा है। अनुसंधान प्रक्रिया में ध्यातव्य सिर्फ इतना है कि विषय का प्रतिपादन किस तरह करना चाहिए और किस तरह उद्धरण आदि देना चाहिए किंतु यह सब बहुत सहज है. साधन, है साध्य है मौलिकता और उसी का शोधग्रन्थों में अभाव मिलता है। "तसव्वुफ और सूफी मत" चन्द्रबली पाण्डेय की पुस्तक है शोध-ग्रन्थ नहीं है, किन्तु उस पुस्तक में जो अंतर्दृष्टि है ज्ञान है, वह बाद की इसी विषय की पुस्तकों में कहाँ मिलता है ? रामचन्द्र शुक्ल की जायसी की भूमिका अभी तक बेजोड़ है। चंद्रबली पाण्डेय की केशवदास पुस्तक में लेखक की अंतर्दृष्टि देखते ही बनती है। अन्यत्र वह कहाँ है ? क्यों शोधार्थियों में वह अंतर्दृष्टि नहीं विकसित हो पाती ? कारण यही है कि न तो समाज सापेक्ष चिंतन पर बल दिया जाता है न साहित्य के मर्मोद्घाटन में

शोधार्थी को शिक्षित किया जाता है, फलतः साहित्य की व्याख्या विवरणात्मक होती चली जा रही है अथवा इधर भाषा-विज्ञान की ओर छात्र उन्मुख हुए हैं क्योंकि उसके द्वारा विदेश जाने की सुविधा रहती है और नौकरी जल्द मिल जाती है, साथ ही कल्पना–शक्ति के अभाव को छिपाने का सुअवसर मिल जाता ,है कहना यह होगा कि आज का भाषाविज्ञान तकनीकी होता हुआ, समाज निरपेक्ष होता चला जा रहा है। कौन ध्वनि कहां से उत्पन्न होती है, इससे अधिक आवश्यक यह जानना है कि भाषा का समाज के साथ क्या सम्बंध है। अथवा भाषा को समझने के लिए समाज को समझना परम आवश्यक है।

इन्हीं भ्रान्त दृष्टिकोणों के कारण हिंदी का अनुसंधान–कार्य गुणात्मक दृष्टि से पिछड़ रहा है। इन्हीं भ्रांतियों में एक भ्रांति यह है कि तात्त्विक चर्चा वाले निबंधों को अनुसंधान नहीं माना जाता। "कला क्या है" इस विषय पर यदि कोई विचारक मौलिक विचार करे और उसमें दूसरों के उद्धरण न हों तो वह पोथावादी शोध से अधिक उपयोगी मार्ग है। "पकड़ और पहुँच" का हिंदी शोध से सम्बन्ध छूटता जा रहा है। काव्यशास्त्र से परे चिंतन आगे बढ़ता नहीं दिखता। यहाँ भी सबसे महत्वपूर्ण कार्य आचार्य विश्वेश्वर और डॉ० नगेन्द्र ने किया है। किन्तु यह 'अनुसंधान" के अंतर्गत नहीं आता। इसकी मनोवैज्ञानिक व्याख्या अवश्य हुई है, इसी तरह सामाजिक या समाजशास्त्रीय व्याख्या भी होरही है, रीतिकाल के आचार्यों के विचार भी सम्मुख आये हैं किन्तु मुख्य बात यह है कि भारतीय काव्यशास्त्र का आज क्या उपयोग है। इस बिन्दु पर पत्र-पत्रिकाओं में अवश्य चर्चा हुई है, " अनुसंधान" में भारतीय काव्यशास्त्र का स्तवन विवरण आदि ही अधिक हुआ है। 'पंडितराज जगन्नाथ" पर डॉ० प्रेमस्वरूप गुप्त ने विचार करते समय जिस प्रकार प्राचीन सिद्धांतों की व्यापकता और सीमा पर विचार किया है, उसी प्रकार कितने अन्य शोधग्रंथों में मिलता है?

शास्त्रीय चर्चा में मग्न जब हिंदी के दो पंडितों को रसनिष्पत्ति वाले भरत–सूत्र की व्याख्या करते हुए पाया जाता है, तब घोर मनोरंजन होता है। यह विचार करने की जैसे आवश्यकता ही नहीं है कि कला और काव्यगत मर्म में क्या इतना ही आवश्यक है कि किसने क्या कहा है यह भी बताना चाहिए कि जो कहा है वह कितना उपयोगी है। और कहाँ तक? विवरणात्मक अनुसंधान से प्राचीन साहित्य और नूतन साहित्य की खाई और भी गहरी हो गई है। और मजा यह है कि संस्कृतज्ञों की

व्याख्याएँ आजभी हिन्दी के व्याख्याकारों से अधिक प्रामाणिक मानी जाती हैं। हिन्दी के अनुसंधानकर्त्ताओं का कार्य यह था कि वे प्राचीन मापदण्डों का आधुनिकीकरण करें। डॉ० नगेन्द्र ने प्राचीन काव्यशास्त्र को आधुनिक शब्दावली में कहा है, परन्तु अभी भी प्राचीन का उपयोग क्या और कहां तक है। यह बताना शेष है, यह कार्य न रसवादी का हो सकता है, न अलंकारवादी, सम्पूर्ण काव्यशास्त्र से और विशेषकर ध्वनिवाद की सहायता से नूतन काव्यशास्त्र का निर्माण सम्भव हो सकता है। मैंने अपनी "आधुनिक हिन्दी कविता" नामक पुस्तक में नए काव्य को प्राचीन मापदण्डों की सहायता से मूल्यांकित करने का कुछ प्रयत्न किया है परन्तु उक्त पुस्तक अनुसंधान नहीं है।

"अतिशय विशेषीकरण" हिन्दी अनुसंधान की एक अन्य व्याधि है। कारण यह है कि साहित्य एक ओर अविभाज्य होता है। आधुनिक साहित्य को पढ़कर ही प्राचीन की महत्ता का बोध हो सकता है। इसी तरह प्राचीन साहित्य को पढ़कर ही आधुनिक साहित्य का स्वरूप स्पष्ट होता है। जिस प्रकार क्लासीकल फिजिक्स 'को जाने बिना" क्वांटम थ्योरी "सापेक्षता सिद्धांत" "अनिश्चितता सिद्धांत" नहीं जाने जा सकते इसी प्रकार प्रत्येक देश या आधुनिक या नवलेखन उस देश की परम्परा का पुष्प भी है और परम्परा के विरुद्ध प्रतिक्रिया भी। अतः जिस प्रकार मापदण्डों के निर्माता काव्यशास्त्रीय या सौन्दर्यशास्त्री को सब पढ़ना पड़ता है उसी प्रकार प्राचीन काल के विशेषज्ञों को नवीन का और नवीन युग के अनुसंधानकर्त्ताओं के प्राचीन का मर्मज्ञ होना ही चाहिए अन्यथा कुछ समय बाद सभी अनुसंधानकर्त्ता "नई कविता के प्रतिमान" जैसी पुस्तकें लिखेंगे जिसमें परम्परा को नकार दिया जाएगा और ऐसे अध्येता का अनुसंधान "नया अनुसंधान" कहलाने लगेगा।

एक और आवश्यकता है हिन्दी के अनुसंधान की, जहाँ सम्भव हो, वहाँ प्रायोगिक रूप देने की। सौन्दर्य के विश्लेषण में हम पुरानी उक्तियां दुहराते हैं परन्तु सुन्दर पदार्थ की प्रतीति का एक शरीरीय आधार भी है। क्या विभिन्न पदार्थों को देखकर यह पता लगा लिया गया कि कोई पदार्थ तभी हमें सुन्दर लगता जब उसका हमारे नाड़ी-जगत पर अच्छा प्रभाव पड़ता है? यह कार्य प्रयोगशालाओं में ही सम्भव है। सौन्दर्य को "आब्जैक्टिव" थोड़ा बहुत माना ही

जाता है अतः इस "अब्जैक्टिव अंश" के अध्ययन में प्रयोग हमारी सहायता कर सकते है। 'सब्जैक्टिव' के अध्ययन के लिए हमें व्यक्ति की अन्य परिस्थितियों की परम्परा आदि को देखना होगा। इसी प्रकार कोई काव्य किस परिस्थिति में कैसा लगता है, यह भी अभी तक नहीं देखा गया। साधारणीकरण की परीक्षा भी प्रायोगिक रूप में हो सकती है।

मैंने जानबूझकर हिन्दी अनुसंधान का गौरवगायन नहीं किया। इससे यह समझना कि मैं निराश हूं, या मैं अपमानजनक दृष्टिकोण अपना रहा हूं यह गलत है। एक सह-कर्मी के नाते यह आत्मनिरीक्षण है, इससे हम वास्तविक स्थिति को समझ सकते हैं और हिन्दी के विषय में जो धारणाएँ हमारी असावधानी, अथवा अन्य कारणों से बन गई हैं, उन्हें बदल सकने का एकमात्र उपाय यही है कि हम जो कर चुके हैं, उससे संतोष न कर लें तभी "राष्ट्रभाषा का अनुसंधान" हो सकता है। वह दिन दूर नहीं है, जब आंग्ल साहित्य की तरह हिन्दी साहित्य का विदेशों में अनुशीलन होगा, उस दिन हमारे अनु-संधान कार्य का लेखा-जोखा होगा, उस क्षण के लिए हमें प्रस्तुत रहना चाहिए।

डॉ० आनन्द प्रकाश दीक्षित

काव्यशास्त्र—स्वरूप और प्रक्रिया

काव्यशास्त्र और आलोचनाशास्त्र मूलतः दो पृथक् साहित्यिक विधाएं हैं; केवल भ्रम के कारण इनका एकार्थक प्रयोग प्रचलित हो गया है। काव्यशास्त्र वह शास्त्र है जो काव्य की रचना और उसके परीक्षण का विधान निश्चित करता है और आलोचना-शास्त्र वह शास्त्र है जो आलोचना के स्वरूप और उसकी विधियों को निर्धारित करता है। काव्यशास्त्र आलोचनाशास्त्र से पृथक् ही नहीं उसका पूर्ववर्ती भी है, और वही यहां हमारा विवेच्य विषय है।

काव्यशास्त्र (या साहित्यशास्त्र) का निर्माण काव्य-रचना के तत्त्वों के अनुसन्धान और उसकी सामाजिक, व्यक्तिगत या ऐसी ही, किसी संदर्भ में, उपयोगिता निश्चित करने से होता है। मनुष्य अपने मूल रूप से प्रायः एक-सा है, किन्तु पनपते हुए सीमा-संदर्भों में वह एक-दूसरे से भिन्न भी है। काव्य और उसके शास्त्र का निर्माण जितना मानवीय एकता से धरातल पर होता है, इतना ही कमोवेश वह सीमा-संदर्भों से भी प्रभावित होता है और इस कारण काव्यशास्त्र के नियम कुछ सीमा तक (या कुछ नियम) सार्वदेशिक और प्रायः सार्वकालिक होते हैं और कुछ परिवर्तित होने वाले एकदेशीय। यदि काव्य, काव्य ही क्यों कोई भी रचना या विचार भी, समाज और परिस्थितियों से संबंधित है, उसके प्रति सजग है तो कोई कारण नहीं कि बदलते समाज और परिवर्तित

होती परिस्थितियों का प्रभाव उस पर और उसके शास्त्र पर न पड़े। उसका यह परिवर्तन उसकी जीवन्तता का द्योतक है। स्थिर रह जाना जड़ता है। प्रचलन और अनुकूलता ही शास्त्रीय नियमों की उपयोगिता सिद्ध करते है। जो उपयोगी है, प्रचलित है, वह जड़ नहीं है।

सीमा-संदर्भों की दृष्टि से भारतीय (मेरी समझ से संस्कृत कहना ही पर्याप्त होगा) तथा पाश्चात्य काव्यशास्त्र का रोचक इतिहास प्रस्तुत किया जा सकता है जिससे दोनों के अन्तर्गत आनेवाले कतिपय मूल तत्त्वों की समानता के साथ ही दोनों के परस्पर गहन विभेद का भी परिचय मिलता है। भारतीय तथा पाश्चात्य काव्यशास्त्र के बीच कई प्रकार का अन्तर है। भारतीय साहित्यशास्त्र का प्रवर्त्तन नाट्यशास्त्र के रूप में हुआ है और यहां के शास्त्रकर्त्ता ने कर्त्ता से अधिक उसकी रचना और उसके ग्राहक को अपने विचार का आधार बनाया है। यहां का चिन्तक काव्य को एकबारगी लोकहित अथवा आनन्दवाद के प्रति समर्पित स्वीकार करके नवीन सामाजिक एवं मानवीय मूल्यों के प्रकाश में उन विचारों का परीक्षण-विश्लेषण नहीं करता, बल्कि रचना-तत्त्वों के शब्दार्थ बोध में दत्तचित्त हो जाता है। इसके विपरीत पाश्चात्य काव्यशास्त्र का निर्माण तथा संगठन प्रारंभ से ही सामाजिक संदर्भ को ध्यान में रखकर हुआ है और नए सामाजिक आर्थिक या धार्मिक मूल्यों ने उसे प्रभावित किया है और दर्शन मनोविज्ञान तथा भौतिक विज्ञान की नई खोज ने उसे नये मूल्य दिये। काव्य सृष्टा से लेकर उसके ग्राहक तक की अनेकानेक मनोदशाओं, परिस्थितियों आदि के आधार पर उसके परीक्षण के नियमों की नींव पड़ी है। पाश्चात्य काव्यशास्त्र का प्रवर्त्तन राजनीति के सदर्भ में सामाजिक उपयोगिता की दृष्टि से हुआ, अध्यात्मवादी दर्शन की बांह पकड़कर अग्रसर हुआ और भौतिकवादी दर्शन और अनास्थावादी चिन्तन की ओर बढ़ता गया। भारतीय काव्यशास्त्र का प्रवर्त्तन सामाजिक संदर्भ में हुआ और अध्यात्मदर्शन ने उनका रूप संगठित किया, सामाजिक पहलू उसी में अन्तर्भूत होकर रह गया और ज्ञान-विज्ञान की नई लहर उसको आन्दोलित न कर सकी। पाश्चात्य चिन्तकों को नए वादों के प्रवर्त्तन में तत्तद्देशीय परिस्थितियों ने विशेषतः प्रेरित किया है। ये परिस्थितियां चाहे महायुद्धों या गृह-युद्धों के रूप में उपस्थित हुईं, चाहे राज्यसत्ता की ओर से किए गए शोषण और अत्याचार की प्रतिक्रिया में इनका जन्म हुआ अथवा धर्मगुरुओं के मनमाने नियंत्रण और आडम्बरपूर्ण व्यवहार के कारण

धर्म-विरोधी आन्दोलनों से उत्पन्न हुईं, चाहे सौंदर्य की खोज में स्थूल और चेतन तत्त्व के पीछे भटकने से सिद्ध हुईं— इनका प्रभाव साहित्य-रचना और शास्त्र-रचना दोनों पर ही पड़ा। भारत ने ऐसे झटके झेले और अध्यात्म-चिन्तन की लहर में उन्हें बहा दिया। पाश्चात्य विचारक ने काव्य को भी कला माना और तदनुकूल अन्य कलाओं के विकास तथा शास्त्र के द्वारा गृहीत मूल्यों का प्रभाव काव्य और काव्यशास्त्र पर भी स्वीकार कर लिया गया; किन्तु भारतीय विचारक ने काव्य को कला से पृथक् कला मानकर उसका निरूपण किया और कला के संदर्भ में विचार किए जाने से उसे मुक्त रखा। योरोप में जहाँ दार्शनिक, भाषणकर्त्ता, राजनीतिज्ञ आदि सभी वर्गों के विद्वान् साहित्यशास्त्र की चर्चा में रत दिखाई देते हैं, वहाँ उनके साथ ही कवि भी काव्य की रूपनिधि के रक्षण-कर्त्ता बनकर उपस्थित होते हैं। योरोप के ऐसे कवियों की दीर्घ नामावली प्रस्तुत की जा सकती है जो एक साथ उतने ही बड़े शास्त्रकर्त्ता भी बने। संस्कृत (और हिन्दी) से भी ऐसे नामों की तालिका प्रस्तुत की जा सकती है परन्तु एक तो वह उतनी दीर्घ न होगी दूसरे नवीन स्थापनाओं के लिये भी ऐसे व्यक्तियों को उत्तरदायी न ठहराया जा सकेगा। इसका चाहे और कोई भी कारण हो, एक कारण तो यह भी जान पड़ता है कि हमारे यहाँ कवि राजाश्रित होकर चला है, और वैसी स्थिति में उससे शास्त्र सम्पादन की अपेक्षा काव्य-सम्पादन की ही अधिक अपेक्षा की गई है। अतः कवि और शास्त्रकर्त्ता, हमारे यहाँ प्रायः अलग होकर ही चले हैं और जो दोनों ओर अपनी प्रतिभा का प्रकाशन कर सके हैं वे या तो असाधारण प्रतिभा के कारण ही, या स्वतन्त्र रहकर लेखनकार्य करने के कारण और या फिर (हिन्दी में) आश्रयदाताओं के इंगित पर ही लिख सके हैं। पाश्चात्य देशों में राजाश्रित रहने की प्रवृत्ति न होने के कारण वहाँ के कवि स्वतंत्र विचारक और शास्त्रकर्ता के रूप में उपस्थित हुए हैं।

पाश्चात्य और भारतीय दृष्टि के बीच काव्य संबंधी धारणाओं में मूलतः अन्तर है। यूनान में इस चर्चा का प्रारंभ प्लेटो के द्वारा जिस प्रकार काव्य के प्रति तिरस्कारपूर्ण भावना से हुआ और राज्य के हित में जैसे उन्होंने कवियों को बहिष्कृत कर देने का निर्णय सुझाव दिया वैसा सुझाव यहाँ कभी नहीं दिया गया। काव्य और उसके रचयिता का भारत सदा से प्रशंसक रहा है। काव्य यहाँ लोककल्याण से लेकर मोक्ष की सिद्धि तक का साधन और श्रेय प्रेय का सम्पादक माना गया है। अतः योरोप में जितना विवाद

काव्य के द्वारा लोकहित अथवा लोक-हानि को लेकर हुआ और उसी के परिणामस्वरूप कलावादी तथा हितवादी, आध्यात्मिक, भौतिक और मनोवैज्ञानिक अनेक सिद्धान्त प्रचलित हुए, उनका सूत्रपात भारत में नहीं हुआ।

समाज और लोकहित के प्रति इस रुचि का एक स्वाभाविक परिणाम यह भी हुआ कि वहां काव्य में रचयिता के व्यक्तित्व के प्रकाशन की सीमा निर्धारित की जाने लगी और आत्मवादी तथा व्यक्तिवादी दर्शन का विकास हुआ। काव्य व्यक्तित्व का प्रकाशन है या उससे पलायन, यह वहां विचारणीय विषय बन गया। नये वैज्ञानिक अनुसंधानों ने भी रचना प्रक्रिया के सम्बन्ध में नए तथ्यों को उद्घाटित करने में सहायता दी और मनोविश्लेषण के आधार पर कवि की मानसिक स्थिति और रचना में उसके प्रभाव का वर्णन भी योरोप में किया जाने लगा, जिसके आधार पर आलोचना की कई नवीन विधियों का जन्म हुआ।

वस्तुतः पाश्चात्य काव्यशास्त्र पर राजनीति, दर्शन, विज्ञान आदि का बहुमुखी प्रभाव तो पड़ा ही—नवीन जीवन संघर्ष की भूमिका भी वहां अधिक तैयार रही है। जीवन संघर्ष को उन्होंने आरंभ से ही जितनी गहराई से अनुभव किया है, उसकी जटिलताओं और अनादर्श के नाशकारी रूप का या असत्य और अधर्म की विजय का जैसा भयकारी रूप उनके अनुभव में आया है उसके कारण उनकी स्थापनाओं में भी भेद उपस्थित हुआ है। भारत दार्शनिकों का देश है और यहां दार्शनिक कर्मवाद सत्य-विजय, परलोक-प्राप्ति और पुनर्जन्म में विश्वास करता आया है। इसी दृष्टिभेद से यहां त्रासदी का महत्व स्वीकार नहीं किया गया, असत्य की विजय नहीं दिखाई गई, अनादर्श को नायक नहीं बनाया गया। जो देश कर्मवाद और पुनर्जन्म का विश्वासी है, वह यदि भौतिक पदार्थों के संचय में सुख नहीं मानता तो आश्चर्य क्या? जिसे परलोक की सिद्धि ही ध्येय प्रतीत होती है वह लोकोद्भूत अन्तरायों और जटिलताओं को सुख से झेलता चलता है और प्राणत्याग को जीर्ण-वस्त्रों के त्याग के समान मानकर कष्ट और आपत्ति में भी सुख और आनन्द खोज लेता है, उसकी दृष्टि में यदि काव्य का उद्देश्य आनन्दप्राप्ति ही हो, करुण और भयानक में भी उसे रस आता हो तो भी उसे आश्चर्य क्या? रस के स्वरूप में ब्रह्मानन्द सहोदरता की उपलब्धि करनेवाले भारतीय को इसीलिए बौद्धों का क्षणिकवाद, शून्यवाद और दुःखवाद प्रभावित न कर सका। वह

ज्ञानोपदेश की शाखा भले ही बन गया काव्योपदेश की शाखा न बन सका।

समाज-सापेक्षता ने योरोप में कई आलोचना दृष्टियों का सूत्रपात कराया। मार्क्स का द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद, यथार्थवाद, जीवनीमूलक, विवेचन प्रणाली, ऐतिहासिक प्रणाली आदि का आरंभ इसी भूमिका पर हुआ है। लोक और समाज के प्रति भौतिक और अर्थवादी दृष्टि से विचार करनेवाली इन धारणाओं के प्रचार-प्रसार के साथ ही आध्यात्मिक दृष्टि ने भी काव्य को लोक और समाज से सम्बद्ध करके देखा है और टालस्टाय, रस्किन आदि विचारकों ने कला और साहित्य को सत्य और धर्म का प्रचारक बना दिया है; शुद्धतावादी दर्शन की स्थापना की है। एक ही लोकहित को भारत में इतनी भिन्न दृष्टियों से देखने का कभी समय ही नहीं आया।

लोक-संग्रह के नाम पर प्रचलित टालस्टाय का शुद्धतावाद और मार्क्स का दर्शन ही यहां भारतीय दृष्टि से उल्लेखनीय हो सकता है। यथार्थवाद या अन्य दृष्टियों के समान यहां किसी दृष्टि का विकास नहीं हुआ। टालस्टाय के लोकसंग्रह ने प्रेषणीयता और मार्क्स के दर्शन ने सामूहिक भाव पर बल दिया है, उसी संदर्भ में यहां के साधारणीकरण की चर्चा की जा सकती है। टालस्टाय ने नैतिक और धार्मिक दृष्टि पर इतना अधिक बल दिया कि काव्य को लोकहित के लिये प्रेषणीय बनाते बनाते वह जीवन के एक पक्ष की उपेक्षा ही कर बैठा। काव्य में उसने असत् पक्ष के उद्घाटन को अस्वीकृत ही कर दिया और केवल सत् की प्रतिष्ठा की। सत् की ऐसी अतिवादी प्रतिष्ठा से जीवन का पूर्ण चित्र अंकित होना तो संभव था ही नहीं, सत् की प्रतिष्ठा भी संभव न थी। लोकसंग्रह का वास्तविक रूप तभी उपस्थित होता है जब सत्-असत् दोनों पक्षों की प्रतिद्वन्द्विता के बीच से सत् पक्ष के महत्त्व की प्रतिष्ठा कराई गई दीखती हो। भारत ने इसी प्रकार की कृतियों को प्रतिष्ठा दी है। आदर्श स्थापना के साथ कथा का समापन यहां के कवि का लक्ष्य रहा है। 'रामादिवत् इतितव्यं न रावणादिवत्' का उपदेश देने में ही काव्य की सार्थकता मानी गई है; किन्तु इसके लिये सीधे उपदेश का नहीं, 'कान्तासम्मित' उपदेश का ही सहारा लिया गया है और चित्रण में विरोधी चरित्रों का उद्घाटन करके भी मनुष्य मात्र की सत् प्रवृत्ति में विश्वास रखते हुए काव्य के साधारणीकरण व्यापार के द्वारा उसके पाठकों या श्रोताओं एवं दर्शकों में वर्गभेद जन्य विरोधों के त्याग द्वारा सब में एकतान उदात्तता की सिद्धि स्वीकार की गई है। साधारणीकरण के द्वारा हमारे

शास्त्रकर्त्ता दार्शनिकों ने मनुष्य मात्र की समान वृत्तियों और उदात्तवृत्ति की सबमें उपस्थिति मानकर काव्य द्वारा उसके उदात्तीकरण में विश्वास प्रकट किया है, मार्क्सवादियों के समान सामूहिक भाव और वर्गभेद की स्वीकृति नहीं दी है। मार्क्सवादी विचारधारा के समान किसी विचारधारा का प्रचलन भारत में क्यों नहीं हुआ, इसके लिये अनुमान से इतना ही कहा जा सकता है कि एक तो इससे पहले विश्व ने वर्गभेद और शोषण को इतनी प्रबलता से अनुभव नहीं किया होगा और दूसरे भारतीय संस्कार तप, त्याग आदि के प्रति ऐसे विश्वासी हैं कि अनुभव करके भी यहाँ के जनसमुदाय ने उस ओर क़दम न उठाया। हमारे यहां राजा यदि सर्वाधिकारी था तो वह दानवीर और प्रजारक्षक भी था। अत्याचार और उत्पीड़न की गाथाओं से अधिक उसकी दान और प्रजा-सम्मान की कथाएं प्रचलित है। यूरोप में अनेक बार राजाओं के मुकुट ही नहीं उतरे, शीष भी छिन्न होते रहे हैं। भारत ने इस पीड़ा को बहुत बाद में और बहुत कम अनुभव किया है। यूरोप में भी पीड़ा जितनी यंत्र युग की देन है, उतनी राजसत्ता के युग की नहीं। यों भी तप, त्याग ने भारतीय मस्तिष्क को आन्दोलित होने से बचाये रखा है। बुद्ध ने सिखाया तो यही तप, त्याग और अपरिग्रह, महावीर ने सिखाया तो यही और इससे भी पूर्व जनक ने सिखाया तो यही, दशरथ और राम ने सिखाया तो यही। जहां दुर्योधन पैदा हुए वहाँ धर्म की विजय भी हुई। आज जब देश की सीमाओं को लांघकर विदेशी ज्ञान और यंत्रशक्ति यहां उपस्थित हो गई है तो इस प्रकार की विचारधारा का आगमन भी संभव हुआ है।

लोकसंग्रह की प्रवृत्ति के विपरीत पाश्चात्य देशों में सौंदर्यवादी व्यक्तिगत मूल्यों का विकास भी हुआ है और इस व्यक्तिवादी दर्शन को बल मिला है आत्मवादी दर्शन से। हीगेल, कांट और क्रोचे जैसे दार्शनिक, फ्रायड, एडलर और युंग जैसे मनस्तत्ववेत्ता, और वर्डसवर्थ, कालरिज जैसे कल्पना और प्रकृतिवादी कवि, सबने इसके प्रसार में प्रत्यक्षतः या परोक्षत: योग दिया है। चाहे हीगेल विचार-वस्तु को आइडिया मात्र स्वीकार करके, चाहे क्रोचे इंटुइशन या सहजज्ञान का प्रचार करके और चाहे मनस्तत्ववेत्ता अहं या अधिकार-भावना का प्रकाशन मानकर काव्य और कला का विवेचन करें और चाहे वर्डसवर्थ, कालरिज और शेली आदि कवि के द्रष्टा और स्वतंत्र सृष्टा रूप और कल्पना शक्ति की उद्घोषणा करके उसका निरूपण करें, सबसे किसी न किसी रूप में काव्य

व्यक्ति के आत्मभाव का प्रकाशक सिद्ध होता है और इस रूप में वह प्रायः अतिसूक्ष्मता, अतिकाल्पनिकता, प्रतीकात्मकता, और कलात्मकता का आश्रय ग्रहण करता प्रतीत होता है। साथ ही इन सबके परिणाम स्वरूप वह मूल्य-निरपेक्ष और नियन्त्रण-निरपेक्ष भी मान लिया जाता है। ऐसी स्थिति मे कवि की महत्ता बढ़ जाती है, समाज का गौरव कम हो जाता है। कवि दिव्य-संदेश का वाहक बनकर काव्य को देशकाल की सीमाओं से मुक्ति दिला देता है और स्काईलार्क बनकर कल्पनालोक मे विचरण करने लगता है। काव्य की सिद्धि उसके लिये इतनी सहज हो जाती है, जैसे वृक्षों के लिये पल्लवों का आगमन सहज होता है। अथवा काव्य कृति केवल रचनाकार की कामकुण्ठाओं और अधिकार-भावना या अहंकार-वृत्ति की प्रकाशक बन जाती है, कवि दिवास्वप्नों में विचरण करनेवाला, प्रतीकों का आश्रय लेनेवाला, तथा मानसिक रुग्णता का शिकार मान लिया जाता है।

कहने की आवश्यकता नहीं कि हमारे यहां भी कवि को बहुत पहले से ही सृष्टा, क्रान्तदर्शी, ऋषि, द्रष्टा और प्रजापति कहा गया है और 'कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूः' कहकर कवि और जगत्सृष्टा को एक ही आसन प्रदान किया गया है, अनेक रूपों में उसकी सर्जनशक्ति, अनुभव शक्ति, चिन्तन शक्ति एवं व्यापकता का व्याख्यान किया गया है तथा काव्य रचना को 'नियतिकृत नियम रहिता' बताकर भी इसी बात की घोषणा की गई है कि कवि प्रकृति का अनुकर्त्ता मात्र नहीं है-स्वतंत्र सृष्टा है; तो भी व्यक्तिवाद का आग्रह कहीं नहीं दीख पड़ता। प्रतिभा का यहां सर्वाधिक सम्मान हुआ है, फिर भी अभ्यास और निपुणता का साहचर्य ही काव्य-रचना के लिये उपयोगी माना गया है, काव्यादि अवेक्षण की अनिवार्यता में ही विश्वास प्रकट किया गया है। भारतीय विचारक कवि की स्वतंत्र वर्णना निपुणता को स्वीकार करते हुए भी उस पर औचित्य का अंकुश लगाकर रखता है, अनन्य परतंत्र ह्लादैकमयी काव्य रचना को भी कान्तासम्मित उपदेश से युक्त देखना चाहता है। कवि की स्वतंत्रता विश्वसनीय लेखन की सीमा से सुसीमित है, अविश्वसनीय या दुर्घटनीय यहां रस को व्याघातक माना जाता है; अतः अतिकल्पना को यहां स्थान नहीं है। निःसन्देह इस प्रकार की धारणाएँ पाश्चात्य काव्यशास्त्र में भी खोजी जा सकती हैं, किन्तु दोनों के बीच भेद इसी बात का है कि जहां भारतीय पक्ष केवल इन्हीं धारणाओं का उन्मीलन करता है, वहां पाश्चात्य दृष्टि

इनका यत्र-तत्र ही उल्लेख करके विशेष रूप से अन्य पूर्वोक्त रूपों पर ही बल देती है।

सचाई यह है कि भारतीय दृष्टि और पाश्चात्य दृष्टि के बीच का यह अन्तर वैज्ञानिक-अनुसंधानों का परिणाम है और युगीन परिस्थितियों तथा संस्कारों ने भी इन धारणाओं के विकसित होने में योग दिया है। यदि विस्तार से दोनों शास्त्रों का अध्ययन किया जाय तो ऐसे बहुत से तत्व सामने आएँगे जिनमें दोनों शास्त्रों का समान विश्वास है। काव्य रचना के तत्वों और उसके हेतु एवं प्रयोजन में प्रायः बहुत समानता दोनों शास्त्रों में मिल जायगी—ऐसी समानताओं का निर्देश प्रायः विद्वानों ने किया भी है तथापि इसमें सदेह नही है कि अपनी परिस्थितियों और स्थितियों के भेद से दोनों शास्त्रों में पर्याप्त अन्तर भी है। काव्यशास्त्र के निर्माण और उसकी रचना-प्रक्रिया के विचार के लिये हमें उनके विभेद को लक्षित करना ही इष्ट था भी। वस्तुतः यह विभेद दृष्टिभेद का ही परिचायक है और सभी क्षेत्रों में लक्षित किया जा सकता है। साहित्य-शास्त्र के क्षेत्र में भारतीय दृष्टि विषय-प्रधान रही है और आत्मानुसंधान को ही यहाँ भी लक्ष्य बनाकर चली है। इस आत्मानुसंधान की राह में भारतीय विचारक के सामने जब जैसा तत्व उद्‌घाटित हो गया, उसने उसका व्याख्यान और विश्लेषण किया। भारतीय साहित्य-शास्त्र की यह खोज वस्तुतः शब्दार्थ-चिन्तन की दिशा में विकसित हुई है, रचनाकार की मनोभूमि और समाजभूमि के संदर्भ में विकसित नहीं हुई है। इस मार्ग में जैसे रस एवं ध्वनि-दृष्टि का उन्मीलन हुआ है, वैसे ही रूपवादी दृष्टि का अलंकार, रीति और वक्रोक्ति सिद्धांतों के रूप में प्रसार हुआ है। रूपवादी दृष्टि पर ध्वनिवाद ने अंकुश रखा और उसके अन्तर्गत आनेवाली तीनों प्रकार की धाराओं को रस के प्रति समर्पित कर दिया। उनकी उपयोगिता रस को लेकर ही स्वीकार की गई, अतः कलावाद के अतिप्रचार से भारतीय साहित्य की रक्षा हो गई। यूरोप में जिस प्रकार कला को कला के लिये मान कर सिद्धांत का प्रवर्तन हुआ और बात प्रतीकों में होने लगी, वैसे भारतीय काव्य का झुकाव भी कलावादी या रूपवादी प्रवृत्ति की ओर हुआ अवश्य किन्तु उस पर रस-ध्वनि का अंकुश लगा रहा। ध्वनिवाद की सिद्धि इस बात में है कि उसने आज से वर्षों पूर्व अर्थ के उन भावात्मक और सांकेतिक अर्थों का सहज उद्‌घाटन कर दिया था जिसे यूरोप में अब डॉ० रिचर्ड्स तथा आग्डेन खोज रहे हैं और जिसकी चर्चा अब एम्पसन और टिलयर्ड के द्वारा हो रही है। हाँ, यह अवश्य

स्वीकार करना होगा कि भारतीय विवेचक ने अलंकार, ध्वनि, रस, रीति आदि के भेदोपभेद खोजने में जितना परिश्रम किया और समय गँवाया, यदि उसे वह अन्य मार्गों के अनुसंधान में लगाता तो साहित्य और शास्त्र दोनों का हित होता। भारतीय साहित्यशास्त्र बहुत पहले ही कुंठित होगया (भले ही उसमें कथित कुछ सिद्धांतों का व्यवहार आज भी हो सकता है, किन्तु वह समय के साथ विकसित न हो सका) और हमारे शास्त्रकर्त्ता या तो शृंगार को रसराज मानकर उसके संयोग-वियोग भेदों के अन्तर्गत आने वाली विभिन्न अन्तंदशाओं की खोज में भटकता रहा, या नायक-नायिकाभेद और षड्ऋतु वर्णन आदि के विस्तार में लगा रहा। संस्कृत में ही हीन गति का प्राप्त हो जाने वाले इस साहित्य-शास्त्र को आधुनिक भारतीय भाषा-साहित्य ने बल नहीं दिया तो नहीं दिया नये चिन्तन को भी बहुत दिन तक नहीं अपनाया। यह तो आधुनिक काल में आकर विदेशी साहित्य के सपर्क में नवीन मूल्यों की स्थापना हो सकी है, किंतु आज भी साहित्यशास्त्र के स्थायित्व की बात करनेवाले मतिशालियों की कमी नहीं है। वस्तुतः काव्यशास्त्र की पूरी गतिविधि पर ध्यान दिया जाय तो स्वीकार करना होगा कि काव्य-शास्त्र सदैव काव्य और चिन्तन का अनुगामी होता है उसकी जीवन्तता नये मूल्यों को स्वीकार करने में है। न हमारे यहाँ का साहित्यशास्त्र ही और न पाश्चात्य साहित्यशास्त्र ही किसी एक दिन में निर्मित होगया था। जो लोग काव्यशास्त्र की स्थिरता में विश्वास प्रकट करते हैं वे यदि नवीन मूल्यों की अवहेलना करके काव्यशास्त्र की रक्षा करना चाहते हैं तो वे यह भूल जाते हैं कि जीवन के विकास के साथ ही साहित्य और तद्विषयक चिन्तन का भी विकास होता है और इसी विकास की स्वीकृति में साहित्यशास्त्र का गौरव है। भरत से पंडितराज तक का साहित्यशास्त्र इसी चिन्तन-विकास का ही प्रमाण है और वह इस बात का भी प्रमाण है कि नवीन तथ्यों की खोज साहित्यशास्त्र की सदैव गौरव-वृद्धि करती रही है। अतः आज भी जो नवीन विचारमार्ग खुलते दिखाई दे रहे हैं, उनका यथेष्ट स्वागत होना चाहिए, हाँ उनकी स्वीकृति अपने साहित्य और संस्कारों के निकष पर खूब ठोक बजाकर कर लेनी चाहिए। साहित्यशास्त्र की स्थिरता का यदि आज कोई अर्थ हो सकता है (और यदि कभी पहले भी हो सकता था) तो इतना ही कि मनुष्य की भावात्मक एकता और भाषागत कतिपय विधियों में समानता और सार्वत्रिकता का दर्शन किया जा सकता है और उसके आधार पर कुछ नियम निर्धारित

किये जा सकते हैं, यह नहीं कि नई से नई अभिव्यक्ति को रस की जटिल और प्रथिल प्रक्रिया से या ध्वनिवाद के विभिन्न भेदों से आंका जाय, विभावादि की प्राचीन परिपाटी पर गणना कराई जाय। विज्ञान ने आज ईश्वर, राजा और प्रजा के संबंधों में ही परिवर्तन नहीं ला दिया है, मनुष्य की समस्त चिन्तन और कथनप्रणाली को भी बदल दिया है ऐसी स्थिति में काव्य के स्वरूप, नायक-नायिकाभेद, छन्दगरिमा और अलंकार रस व्यापार के प्रति पुराना मोह ही काम करता रहे, यह न उचित ही है न हितकारी ही। वैज्ञानिक युग ने हमारे चिन्तन को जो नई दिशाएँ दी हैं उनका साहित्यशास्त्र में भी अपेक्षित स्वागत होना चाहिए।

यहां इतना ही। काव्यशास्त्र की स्थिरता के सिद्धान्तों की चर्चा फिर करूंगा।

प्रो० निर्मल तालवार

पिछले दशक का हिन्दी निबंध-साहित्य

युग बदल रहा है। परिवर्तन की गति तीव्र हो गई है। उसका प्रभाव चतुर्दिक प्रकट है। विराम-स्थल टूट गए हैं, केवल नये मोड़ ही दृष्टि-पथ में बिछे हैं। जीवन, समाज और राष्ट्र में इतनी त्वरा गति संभवतः इतिहास में कभी नहीं आई थी। आज शतक दशक में समाहित हो गया है। इसी गति का प्रतिबिम्ब साहित्य है। इस प्रतिबिम्ब का मूल्यांकन करने से पूर्व बिम्ब के रूप को देखना भी अनिवार्य है।

यह युग ज्ञान और विज्ञान का है। बुद्धिवाद का है; तर्क और वितर्क का है। सत्य तो यह है कि मानव की इसी बौद्धिक प्रवृत्ति ने गद्य को जन्म दिया है। आधुनिक-युग को गद्य-युग की संज्ञा देने का औचित्य यही है कि बौद्धिक प्रवृत्तियां आज अधिक क्रियाशील हो रही हैं। सही अर्थ में केवल एक सौ वर्ष पूर्व खड़ी-बोली गद्य का आरम्भ हुआ था, तब मानव रुचि भावना और कल्पना को गौण करके विचार विमर्श एवं तथ्यातथ्य निरूपण की ओर बढ़ गई थी। विज्ञान के बीज अंकुरित होने लगे थे, तथा विश्वासों की नींव हिल गई थी। बुद्धि ने जीवन की कोमल अनुभूतियों पर भी प्रश्नचिह्न लगाने शुरू कर दिए थे; कार्य-कारण शृंखला की कड़ियों की खोज अनिवार्य हो गई थी। जीवन की कोमलता चतुर्दिक वातावरण की मरुभूमि की उष्ण सिकता में मिट सी गई थी, मीरा के गीत मूक हो गए थे, मोहन की बांसुरी चुप हो गई थी! सूर के बाल-कृष्ण की

लीला उसकी अंधी आंखों में छिप गई और तुलसी की विनय खो गई थी युग अहं की आंधी में। कबीर की 'साखी' का साक्षी आज नई भाव-भूमि पर पहुँच गया था! शृंगार की कोमल साजसज्जा भी मिट गई थी आधुनिक जीवन की कटुता, बुद्धिवाद की तीव्रता और पराधीन भारत की विवशता में। कविता का स्वर ग्रीष्मा की कालिन्दी के समान मंद गति से पर अविरल बह रहा था किन्तु गद्य की सरिता पावस की गंगा के समान उद्वेलित गति से बढ रही थी। शिव, विष्णु और ब्रह्मा की प्रतिमाओं के चरणों पर अपनी भावभक्ति के प्रसून अर्पित कर अब मानव उस ओर से उदासीन हो चुका था। वह देख रहा था निर्निमेष दृष्टि से नव-देवता को। उसकी बुद्धि ने सहज ही उसे समझा दिया— वह नवदेवता है— मातृभूमि ! मातृभूमि-देवता की आरती की थाली उसके हाथ से गिर गई, निर्माल्य के पुष्प बिखर गए— इसलिए कि देवता की आंखों में विवशता के आंसू थे, उसके हाथ पराधीनता की शृंखला से बंधे थे, वह वर देने में असमर्थ !! अतः उपासक विद्रोही बन गया। इसी विद्रोह का सूत्रपात नवोदित भारतेन्दु ने किया था। 'बादशाह-दर्पण' की भूमिका में वह विद्रोही कलाकार लिखता है— "मुसलमानी राज्य यदि हैजे का रोग है तो अंग्रेजी राज्य क्षय का।" क्रान्ति की ज्वाला और तीव्र हुई। स्वाधीनता से पूर्व तक यह स्वर विविध रूपों में प्रकट हुआ। हिन्दी के साहित्यकारों का कार्य विद्रोहियों का कार्य था (पराधीनता की अभिशप्त स्थिति से निकलने के लिए राष्ट्रीय जागरण का यज्ञ साहित्य ने आरम्भ किया)। यह विद्रोह कविता के रौद्र और वीर में समा नहीं सका था, वरन् व्यंग और प्रतीक के माध्यम से, नाटक और निबन्धों में अभिव्यक्त हुआ। अतः देश की गरिमा, देश की प्रकृति, देश के इतिहास और देश के भूगोल पर, देश की संस्कृति पर, दर्शन और साहित्य पर, नाटक व निबन्ध लिखकर मातृभूमि की वन्दना और स्तुति की गई।

निबन्ध गद्य की शक्तिशाली विधा है। निबन्ध शब्द नि उपसर्ग और बध् धातु से बना है। नि उपसर्ग 'निश्शेष रूप' और 'बध्' धातु 'गठन' का बोध कराता है। विचारों के सुगुंफित, सुनियोजित और संश्लिष्ट बन्धन का नाम ही निबन्ध है। इसमें लेखक न केवल विचारों और भावों को ही व्यक्त करता है, वरन् साथ साथ विशेष पद्धति से भी उन्हें अभिव्यक्त करता है, जिस पर उसके व्यक्तित्व की छाप रहती है। स्वतंत्रता, संक्षिप्तता और प्रसाद गुण युक्तता के साथ लेखक की तर्कयुक्त मनोवृत्तियां भी निबन्ध में

सहज सरलता से अभिव्यक्ति पाती हैं। अतः निबन्ध वह विधा है जिसमें प्रस्तावना, विवेचन, परिणाम और लेखक की स्वतंत्र सम्मति व्यवस्थित और शृंखलाबद्ध होकर प्रकट होती है। निबन्ध से मिलती हुई गद्य की अन्य शैलियां हैं— लेख और प्रबन्ध! पर ये निबंध की पर्यायवाची नहीं हैं। लिपिबद्ध किसी विचार अथवा भाव की अभिव्यक्ति लेख है। निबन्ध और प्रबन्ध शब्दों में व्युत्पत्ति लभ्य उतना अन्तर नहीं है जितना प्रयोग की दृष्टि से आज स्वीकार कर लिया गया है। प्रबन्ध अपनी विषय वस्तु में पूर्ण रूप से सम्बद्ध-संश्लिष्ट होता है, वह आलोचनात्मक, गवेषणात्मक, मौलिक सृष्टि है जो आकार-प्रकार में निबन्ध से वृहत् है।

निबन्ध शब्द का प्राचीनतम प्रयोग ग्रन्थ रूप में होता था। मुद्रण-यन्त्र के आविष्कार से पूर्व लेखक अपने दार्शनिक विचारों को भोजपत्र पर लिखकर सुरक्षा के विचार से 'अच्छी तरह बांध कर' रख देता था। यही बद्ध-संकलन निबन्ध कहलाता था। पर आज निबन्ध गद्य की विशेष विधा है। वह लैटिन के 'एग्जीजियर' से निकले फ्रेंच के 'ऐसाइ' तथा अंगरेजी के 'एसे' का स्वजातीय है। हिन्दी निबन्ध साहित्य के विकास का सूत्र प्रायः पश्चिमी साहित्य के प्रभाव में खोजा जाता है और उसकी शैलीगत विशेषताएं भी वहीं से निर्धारित की जाती हैं। यह एकदम असत्य न हो तो भी अतिशय अवश्य है। किसी भी साहित्य की निबन्ध-विधा उसकी विचारात्मक शक्ति का परिचायक होती है। जिस प्रकार काव्य साहित्य के भावात्मक अभिसिंचन का प्रमाण होता है, उसी प्रकार निबन्ध उसके विचारात्मक बौद्धिक परिज्ञान का। इसीलिये निबंध को साहित्य का सौन्दर्य बोध नहीं अपितु उसका मानदण्ड गिना है। लाघव और स्वारस्य के साथ तर्कहीन शैली में सुपरिचित अनौपचारिक वातावरण के मध्य पाठक के साथ निबन्धकार एक मधुर आत्मीय भाव स्थापित कर लेता है। एक ओर पाठक के साथ आत्मीयता और दूसरी ओर वैयक्तिक स्वच्छन्दता का निर्वाह निबन्ध के अतिरिक्त किसी शैली में संभव नहीं। निबंध शैली के निर्माता मोन्तेन ने इसीलिए लिखा है— "लेखक की आत्माभिव्यक्ति निबन्ध रूप में निबन्ध में ही हो सकती है।" इसी को और अधिक स्पष्ट करते हुए वह लिखता है — "मैं जिसका चित्रण कर रहा हूं वह मैं ही तो हूं।" वैयक्तिक चित्रात्मकता का निस्सन्देह निबन्ध में विशेष महत्व और स्थान है। स्वगत कथन के रूप में, संभाषण शैली में अनौपचारिकता के साथ निबन्धकार अपने विषय को स्पष्ट करता चलता है।

स्वाधीनता के बाद साहित्यकार की योजनाएं कुछ व्यवस्थित होने लगी और नए प्रयोगों के लिए उसे मुक्त अवकाश और आकाश मिले। निबन्धकार के सामने विविध संदर्भ उपस्थित हुए। अतः पिछले दशक के निबन्ध-साहित्य के रूप-आकार; और भाव-विचार में भी कुछ अपनी विशेषताएं प्रस्फुटित और पल्लवित हुई। एक शताब्दि के प्रयोगों के बाद निबन्ध उस मोड़ पर आ गया है जिसे गद्य की कसौटी' कहा जा सकता है। जहां गद्य अपने परिमार्जित और परिष्कृत रूप में, प्रवाहयुक्त शैली मे विचारों और भावों को अभिव्यक्त करने में सफल ही नहीं समर्थ भी है, वह विधा है निबन्ध। उपन्यास, नाटक और कहानी आदि में कहीं 'देशकाल सापेक्ष्य' भाषा है तो कहीं पात्रों के अनुकूल; कहीं आंचलिक शब्दों से वातावरण उपस्थित किया गया है तो कहीं पात्रों के अनुसार बोलचाल का प्रवाह प्रस्तुत करने के लिए व्याकरण को अनावश्यक समझा गया है। पर निबन्ध में ये सब प्रयोग सभव नहीं। यही कारण है कि पिछले दशक में जहां नई कविता, नई कहानी, नाटक और एकांकी में, नई टेकनीक, उपन्यास में नए प्रयोग सामने आए वहीं 'नए निबन्ध' की चर्चा कर्णगोचर नहीं हुई। वरन् शैली की दृष्टि से निबन्ध के क्षेत्र में प्रौढ़ता और परिमार्जन परिलक्षित हुआ। उनकी भाषा अधिक कलात्मक और सुरुचिपूर्ण, सरस, प्रवाहयुक्त और प्रभावपूर्ण है। निबन्धों की प्रगति परम्परावादी और अपरम्परावादी सभी विद्वानों के लिए समादृत है, जब कि 'नई कविता' नई कहानी' आदि के लिए यह सत्य नहीं है। केवल भाषा और शैली की दृष्टि से ही नहीं विषयवस्तु, भाव और विचार में भी पिछले दशक के निबन्ध अधिक संश्लिष्ट और परिपक्व हुए हैं।

निबन्ध लेखन में अपेक्षित योग है निबन्धकार की प्रतिभा, अनुभव और शिक्षा का। इनके कारण हो वह विषय को ग्रहण करता है उस पर चिन्तन करता है और शिल्प-विधान के द्वारा प्रस्तुत करता है। अतः निबन्ध प्रौढ़ और सुशिक्षित मस्तिष्क की अभिव्यक्ति है; वह प्रयोग नहीं, संश्लिष्ट योजना है। यही कारण है कि एक ओर अपने शिल्प-विधान में और दूसरी ओर अपनी विषय-वस्तु में निबन्ध-कला का विकास पिछले-दशक से स्पष्ट परिलक्षित है। इस दशक के निबन्धों की शैली में नाटक की नाटकीयता, कहानी की तीव्रानुभूति, उपन्यास का वैशिष्ट्य, सम्भाषण की सरलता सम्पृक्त रूप पा सके हैं। विषय की दृष्टि से पिछले दशक के निबन्धों को दो प्रमुख वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—

(१) विशुद्ध साहित्यिक विषयों पर निबन्ध ।

(२) साहित्येतर विषयों पर निबन्ध ।

साहित्यिक विषयों पर निबन्ध लिखने वाले निबन्धकार अधिकतर प्राध्यापक हैं। साहित्य के अध्ययन और अध्यापन के परिणाम स्वरूप आलोचनात्मक साहित्य परिपुष्ट हो रहा है। कोरी टीकाओं का युग बीत गया है और कृतियों तथा कवियों के गुण दोषों का आकलन मात्र भी समाप्त हो गया है। आज का निबन्धकार कृति, कृतिकार अथवा साहित्यिक सिद्धान्त पर गहराई से विचार करता है, उसका परिवेश विविधता को लेकर चतुर्दिक व्यापक ही नहीं वरन् उसमें गहन गभीरता की दृष्टि भी स्पष्ट है। ऐसे निबन्धों में एक ओर मनोवैज्ञानिक दृष्टि विकसित हो रही है तो दूसरी ओर ऐतिहासिक ! कृति के निर्माण में एक ओर कृतिकार के मन और मस्तिष्क का योग है तो दूसरी ओर उस वातावरण का भी, जिसमें वह रहता है। यही कारण है कि आज का साहित्य कालातीत और इतिहासशून्य नहीं है। अतः ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य ही वह संदर्भ उपस्थित करता है जो मनोवैज्ञानिक-बोध की पृष्ठभूमि प्रस्तुत करता है। कलाकार की प्रवृत्तियों पर युग, समाज और परिवार के साथ-साथ उसकी अर्थ-व्यवस्था का भी प्रभाव पड़ता है। निराला विक्षिप्त हो गए, इस कटु सत्य की विवेचना करने वाला आलोचक अथवा साहित्यिक निबन्धकार कवि की मनःस्थिति और उसके ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य को समझता है और समझाता है। 'रंगभूमि' का सूरदास बिना ऐतिहासिक संदर्भ के एक मिथ्या कल्पना मात्र रह जायेगा, और ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर वह एक अमर चित्र है; सेवासदन की 'सुमन' की महत्ता का आधार भी यही है। अतः साहित्यिक विषयों के निबन्धकार में आज जो विशेष उदारता परिलक्षित होती है उसका एकमात्र कारण है उसका मनोवैज्ञानिक और ऐतिहासिक बोध। निबन्धकार के अनुभव का क्षेत्र जितना विशाल होगा उतनी ही अधिक उसमें उदारता होगी, और विषय की गहराई में जा सकने की सामर्थ्य भी अधिक होगी।

तीसरी विशेषता आज के साहित्यिक निबन्धकार में है उसकी शिक्षा के कारण तुलनात्मक दृष्टि का विस्तार। आज का व्यक्ति अधिक साधन सम्पन्न है, विपुल अध्ययन सामग्री उसे सहज सुलभ है। वह अन्य भाषाओं के साहित्य से भी पहले के निबन्धकार की अपेक्षा अधिक परिचित है, वह तुलनात्मक अध्ययन सरलता से

प्रस्तुत कर सकता है !

उपर्युक्त विवेचन के उपरान्त हम इस निर्णय पर नहीं पहुँच सकते कि आज का हर साहित्यिक निबन्धकार प्रतिभा सम्पन्न है, उसके अनुभव का परिवेश विराट है और उसका ज्ञान विशाल है ! और उसके निबन्ध उच्चकोटि के हैं। सत्य तो यह है कि साधन–सम्पन्नता के बावजूद भी आज का निबंधकार उस उच्च-कोटि के निबंध नहीं दे रहा है, जिसे वह दे सकता है। हर प्राध्यापक निबंधकार बन रहा है, पर उसके निबंध साधारण कोटि के ही रह जाते हैं। इसका कारण यह हो सकता है कि वह अपने साधनों का उपयोग करने का अवसर नहीं प्राप्त कर सकता ; अथवा वह समुचित समय ज्ञानवर्द्धन में देने मे असमर्थ है, अथवा सामाजिक और आर्थिक संदर्भ उसके विचारो में व्यवधान उपस्थित कर देते है, अथवा मनोवैज्ञानिक बाधा उसे चिन्तन का समय नहीं देती। इसमें संदेह नहीं कि पिछले दशक का व्यक्ति पूर्ववर्ती युग की अपेक्षा अधिक मानसिक क्लान्ति (Mental strain) के युग में जी रहा है। वह ऊसरता मे विभ्रान्त है, और अपनी शक्तियों का उपयोग नहीं कर पाता।

साहित्यिक निबन्ध के क्षेत्र में अगणित निबन्धकार आ रहे हैं। संभवतः कुछ निबंध तो हर प्रोफेसर ने लिखे हैं। उनके निबंध मुख्यतः विद्यार्थियों के दृष्टिकोण से लिखे गए हैं, इसलिए अधिकांश विषय ऐसे हैं जो परीक्षा के दृष्टिकोण को सामने रख कर लिखे गए हैं। इस दृष्टि से निर्मित निबंध–साहित्य अपने विशेष लक्ष्य के कारण केवल विद्यार्थियों में ही सीमित रहा है। पर आज साहित्यिक निबन्धकारों की ऐसी कोई विभाजन रेखा नहीं खीची जा सकती कि वे साहित्यिक विषयों के अतिरिक्त अन्य विषयों पर निबन्ध नहीं लिखते। वरन् आज तक ही निबन्धकार साहित्यिक और साहित्येतर दोनों प्रकार के निबन्ध कुशलता से लिखता है–जैसे आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, बाबू गुलाबराय, डॉ॰ देवेन्द्रनाथ शर्मा आदि। सत्य तो यह है कि साहित्य जीवन का प्रतिबिम्ब है, इसलिए ऐसा कोई विषय नहीं है जिसका संबंध जीवन के साथ हो और वह साहित्य में न आये। 'साहित्यक' और' साहित्येतर' का वर्गीकरण अति स्थूल है, और इस दृष्टि-कोण से किया गया है कि निबंध के विषयों को सहज रूप से भिन्न करके देखा जा सके। कुछ विद्वानों ने साहित्यिक निबंधों को आलोचना, नाम भी दिया है। साहित्येतर

विषयों पर निबंध रचना में विरोध नहीं है, केवल विरोधाभास है।

'साहित्येतर' विषयों के अंतर्गत आत्मपरक, व्यक्तिगत अनुभूतियां, अपने अनुभवों की अभिव्यक्ति, 'खट्टे-मीठे' 'कटु-मधुर' वे सभी अनुभव हैं जिनसे लेखक और उसका समाज प्रभावित है। इन निबंधों में अनन्त विविधता है, जीवन-समुद्र की लहरों की गणना सम्भव नहीं है, पर वे अगणित लहर अपना अस्तित्व रखती हैं, इसमें संदेह नहीं। वे सब निबंध के विषय बन सकती हैं। विविध विषयों पर विविध रूपों और शैलियों में निबंध लिखे गए हैं, और लिखे जा रहे हैं। इस विविधता को बांधने का प्रयास करते हुए आलोचकों ने निबन्ध की कोटियां निर्धारित की हैं — आलोचनात्मक, विवेचनात्मक, उपदेशात्मक, कल्पनात्मक, भावात्मक, संस्मरणात्मक, कथात्मक, वर्णनात्मक, विवरणात्मक, विचारात्मक, मनोवैज्ञानिक, ऐतिहासिक, राजनीतिक, वैज्ञानिक, वैयक्तिक, कलात्मक, वैचित्र्यप्रधान, करुणा-प्रधान, हास्य-प्रधान, व्यंग-प्रधान, आदि आदि। यह वर्गीकरण कहीं शैलीगत है कहीं विषयगत और कहीं दोनों ही दृष्टियों से अपूर्ण और अवैज्ञानिक है। भावात्मक निबन्ध संस्मरणात्मक भी हो सकता है, कल्पनात्मक और कलात्मक भी, करुणा व हास्य प्रधान भी; इसी प्रकार विचार प्रधान निबंध वैज्ञानिक, ऐतिहासिक, राजनीतिक भी हो सकता है। यह ओवरलैपिंग जिस वर्गीकरण में हो वह वर्गीकरण वैज्ञानिक नहीं हो सकता। अतः पिछले दशक के निबन्धों के अध्ययन के उपरान्त यदि हम उस वैविध्य को विभाजित करना चाहें तो वह सरल नहीं है। विषय की दृष्टि से विचार प्रधान और भाव प्रधान निबंध प्रमुख हैं, एवं शैली की दृष्टि से कलात्मक एवं गवेषणात्मक निबन्धों की प्रधानता है।

पिछले दशक के निबन्ध साहित्य का शैली की दृष्टि से विकास निश्चित है। पिछले दशक की शैलियों के कुछ उदाहरण —"यह नहीं है कि पाश्चात्य कला में शिव की, पर-जन-हित की बात या मानव-कल्याण की बात सन्निहित न हो जो मौलिक अन्तर है, वह यह है कि शिव उनके यहां कला में बाहर से आते हैं, कला ही में उनका अधिष्ठान नहीं होता, जबकि ठीक इसके विपरीत हमारे यहां न केवल कला, बल्कि कलासृष्टि का अधिष्ठान, मानव मन और उसका भविष्य मानव शरीर और उसके परिसर, इन

सभी में शिव का अधिष्ठान माना गया है।"

—कला,शक्ति और शिव (श्री विद्यानिवास मिश्र)

"जन्म हो वसन्त का और उत्सव मदन देवता का। कुछ तुक नहीं मिलता। मेरा मन पुराने जमाने के उत्सवों को प्रत्यक्ष देखना चाहता है। पर हाय, देखना क्या संभव है? .... मेरा मन अधभूले इतिहास के आकाश में चील की तरह मंडरा रहा है. कहीं चमकती चीज़ नज़र आई नहीं कि झपाटा मारा। पर कुछ दिख नहीं रहा है। सुदूर इतिहास के कुज्झटिकाच्छन्न नभोमडल में कुछ देख लेने की आशा पोसना ही मूर्खता है, पर आदत बुरी चीज है। आर्यों के साथ असुरों, दानवों और दैत्यों के संघर्ष से हमारा साहित्य भरा पड़ा है। रह रह कर मेरा ध्यान मनुष्य की इस अद्भुत विजय-यात्रा की ओर खिंचा जाता है ......"

—आम फिर बौरा गए (आचार्य श्री हजारी प्रसाद द्विवेदी)

"मैं कांग्रेस-जनों की बुराई करते हुए भी गांधी जी की भांति चार आने का मेम्बर न होता हुआ भी और लोगों के आग्रह करने पर भी गांधी टोपी को पूर्णतया न अपनाने पर भी, और जेल जाने का प्रमाण-पत्र न प्राप्त करते हुए भी, कांग्रेस के आदेशों का परम भक्त हूं। इस बात को पिछली सरकार के सामने भी स्वीकार करने को तैयार था।"

—प्रभु! मेरे औगुन चित्त न धरो (बाबू गुलाबराय)

माताभूमि नए युग की देवता है। सुन्दर संकल्प, सशक्त कर्म और त्याग भावना जिसके लिए समर्पित हों, वही देवता है। देवता के बिना मनुष्य रह नहीं सकता। युग-युग में मानस लोक को भरने के लिए देवता की आवश्यकता होती है। देवता भी सदा एक से तेज नहीं चमकते, वे उगते और अस्त हो जाते हैं। इन्द्र अग्नि के कल्प और शिव-विष्णु के युग तत्कालीन मानव की सर्वोतम भाव भक्ति और सृजन शक्ति कर प्रसाद पाकर बीत गए।'

—माताभूमि (डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल)

"स्वर की कोमलता अथवा परुषता का स्रोत है हृदय का रस। इसमें न पाबंदी है

मनुष्य होने की ओर न निषेध है जंगली जानवर होने का। काव्य और कला का यह चिर उपासक मानव भी तो न सदा कोमल रहता है और न कठोर. आवेश के क्षणों में वह भी कठोर शब्दों और ध्वनियों का ही प्रयोग करता है। सुसंस्कृत मानव द्वारा रचे गए रौद्र, वीर और भयानक रस प्रधान सकल काव्य इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं। तब कहना ही पड़ेगा कि रसोद्रेक प्राणी मात्र को नैसर्गिक एवं चिरन्तन प्रक्रिया है।"

—साहित्य जिज्ञासा (आचार्य ललिताप्रसाद सुकुल)

' मार्क्स का सिद्धान्त साहित्य में जिस प्रकार प्रयुक्त हो रहा है, उसे प्रायः साहित्यिक प्रगतिवाद के नाम से पुकारते हैं। यह तो स्पष्ट है कि मार्क्स का यह सिद्धांत सामाजिक जीवन से संबंध रखता है. कला-विवेचन से नहीं। किन्तु वर्ग-संघर्ष के आधार पर उसने जिस समाजतंत्र का निरूपण किया, वह भविष्य का इतना सुन्दर स्वप्न था कि संभवतः पूर्व काल की सारी सामाजिक और सांस्कृतिक योजनाएं उसके सामने फीकी जान पड़ीं।"

—नवीन यथार्थवाद (आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी)

श्री हरिशंकर शर्मा के निबन्ध व्यंग्य प्रधान हैं; जैसे—

"भक्तों, अब देर करने से काम न चलेगा। उठो, चन्दे का चमत्कार देखो, दिखाओ और बिरादरी या दलबन्दी का बल बढ़ाने की तैयारी करो। तिकड़मदेव को पूजो और वोट नारायण की उपासना करो। बस, सारी विभूतियां तुम्हारी शरण में आ पड़ेंगी। आधुनिक काल में सफलता का यही रहस्य है, यानी इस युग में धर्म का यही मर्म है।"

—खुदगर्जी जिन्दाबाद (श्री हरिशंकर शर्मा)

"केवल अनुभूति की अनिर्वचनीयता के कारण ही नहीं अभिव्यक्ति की विशेष कलाभिरुचि के कारण भी कविता में (और सौन्दर्य में भी अस्फुटता और ध्वन्यात्मकता आ जाती है। अभिव्यक्ति की यह विशेषता छायावाद में भी देखी जा सकती है। किन्तु कविता जब कला के द्वारा दृश्य जगत् (बहिर्जगत्) को अपना चित्रपट बनाती है तब

उसमें अस्फुटता और ध्वन्यात्मकता अधिक नहीं रहती।"

—परिक्रमा (श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी)

"प्रसाद और गेटे की सबसे बड़ी खूबी है कि उन्होंने मानव जीवन के किसी भी पहलू को अछूता नहीं छोड़ा। उनकी कृतियाँ जीवन-समष्टि के समन्वयात्मक संस्कारों का भव्य समारोह हैं। उनकी दृष्टि रमणी की कोमलता और स्थूल सौंदर्य तक ही सीमित नहीं, वरन् क्षितिज से दूर विश्व-व्यापी चेतना को स्पर्श करती है। इन दोनों महाकवियों के ग्रन्थ 'फॉस्ट' और 'कामायनी' क्रूर काल के भाल पर अमर सौभाग्य-बिंदुवत् हैं। एक में जीवन-समष्टि का सांगोपांग पदार्थ-पाठ है तो दूसरे में उसका सारा अंश। एक में विरोधी तत्त्वों का संधान है तो दूसरे आत्मिक-मनोभावों को अधिकाधिक रम्य बनाने का उपक्रम। दोनों में चिरन्तन स्वर और शाश्वत-संगीत सुन पड़ता है।"

—साहित्य दर्शन (श्रीमती शचीरानी गुर्टू)

उपर्युक्त उदाहरणों मे एक ओर शैली का वैशिष्ट्य दूसरी ओर विषयों की विविधता का आभास सहज ही हो जाता है। पिछले दशक के प्रमुख निबन्धकारों का संक्षिप्त और साधारण परिचय भी स्वतंत्र लेख की अपेक्षा करता है। इस निबन्ध में केवल पिछले दशक के प्रसिद्ध निबन्धकारों के नामों का अंकन मात्र करके ही सन्तोष करना होगा।

पिछले दशक के प्रमुख निबन्धकार

स्व० बाबू गुलाबराय
स्व० आचार्य ललिताप्रसाद सुकुल
स्व० नलिन विलोचन शर्मा
आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी
आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी
डा० रामविलास शर्मा
डा० नगेन्द्र
श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी
श्रीमती शचीरानी गुर्टू
डा० देवेन्द्रनाथ शर्मा
डा० वासुदेवशरण अग्रवाल
श्री रामवृक्ष बेनीपुरी
श्री रामधारी सिंह 'दिनकर'
श्री प्रभाकर माचवे
श्री विद्यानिवास मिश्र
श्री जैनेन्द्र कुमार

डा० भागीरथ मिश्र	डा० बलदेव प्रसाद मिश्र
डा० कन्हैयालाल सहल	डा० गणपतिचन्द्र गुप्त
श्री राजनाथ शर्मा	श्री हरिशंकर शर्मा
महापंडित राहुल सांकृत्यायन	श्री भदन्त आनन्द कौशल्यायन
श्री प्रकाशचन्द्र गुप्त	डा० रघुवीरसिंह
श्री चतुरसेन शास्त्री	श्री माखन लाल चतुर्वेदी
श्री लक्ष्मीनारायण सुधांशु	श्री शिवदानसिंह चौहान
डा० सरनामसिंह 'अरुण'	डा० देवराज उपाध्याय

उपर्युक्त निबन्धकारों का अध्ययन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि साहित्यिक निबन्ध विद्यार्थियों के लाभ को दृष्टि में रखकर लिखे गए हैं। और अन्य निबन्धों में मनोवैज्ञानिक-बोध एवं आत्मपरक अनुभूति की व्यापकता है। व्यक्तिगत निबन्धों की शैली विकसित हो रही है। इस कोटि के निबन्धों में लेखक का सम्पूर्ण व्यक्तित्व संबद्ध होता है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दों में—"व्यक्तिगत निबंध का लेखक किसी एक विषय को छेड़ता है, किन्तु जिस प्रकार वीणा के एक तार को छेड़ने से बाकी सभी तार स्वयं झंकृत हो उठते हैं, उसी प्रकार उस विषय को छूते ही लेखक की चित्त-भूमि पर बंधे हुए सैकड़ों विचार बज उठते हैं। इसीलिए लेखक जितना ही बहुश्रुत और सहृदय होगा निबन्ध उतना ही प्रेरक और सरस होगा।" इस कोटि के निबन्धकार हिन्दी में बहुत नहीं हैं पर पिछले दशक में अनेक निबन्ध इस प्रकार के लिखे गए हैं—आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के 'अशोक के फूल' में आचार्य ललिताप्रसाद सुकुल के 'इनसे' में, बाबू गुलाबराय के 'मेरे निबन्ध' में तथा श्री विद्यानिवास मिश्र के 'तुम चंदन हम पानी', 'कदम की फूली डाल' और 'आंगन का पंछी' और 'बनजारामन' के अनेक निबन्ध इस कोटि के हैं। ये सरस और कलात्मक हैं।

निबन्धों के शीर्षकों की ओर भी पिछले दशक के निबन्धकारों का ध्यान गया है। वे आकर्षक शीर्षक देने लगे हैं। बाबू गुलाबराय के 'हाथ झारि के चले जुआरी' 'प्रभु ! मेरे औगुन चित्त न धारो'; आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के 'अशोक के फूल', 'आम फिर बौरा गए'; श्री दिनकर के 'अर्धनारीश्वर' और 'नीम के पत्ते' आचार्य ललिताप्रसाद सुकुल 'देखकर तस्वीरे यूसुफ कह दिया कुछ भी नहीं,' 'मेरी सादगी देख क्या चाहता

हूं !' तथा 'इनके' अन्य निबन्ध, डा० रामकुमार वर्मा के 'मैं व्यापारी बन गया', 'आंसुओं की विजय' आदि इसके प्रमाण हैं।

पिछले दशक के निबन्ध-साहित्य पर विहंगम दृष्टि डालने के उपरान्त हमें आलोचकों के मत पर भी ध्यान देना होगा। आधुनिक साहित्य के समीक्षकों का यह मत है कि पिछली दो दशाब्दियों से साहित्य का बौद्धिकरण किया जा रहा है; गद्य हो या पद्य, आज साहित्य विशुद्ध भावात्मक प्रक्रिया न रहकर एक बौद्धिक प्रतिक्रिया भी बन गया है। इस नाते यह सहज निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि इन दशाब्दियों में अपने बौद्धिक परिवेश के कारण साहित्य में प्रबुद्ध निबन्ध रचना भी प्रचुर प्रमाण में होनी चाहिये। परन्तु यह वस्तुतः सत्य नहीं है। यह हिन्दी या भारतीय साहित्य के लिए ही नहीं परन्तु अन्तरराष्ट्रीय साहित्य के लिए भी सत्य है। अंग्रेजी साहित्य में जिस तीव्रता से निबंध का ह्रास हुआ वह साहित्यालोचकों के लिए एक चिन्तनीय विषय है। पर क्या पिछले दशक में हिन्दी निबन्ध साहित्य का ह्रास हुआ है ? हम निश्चित रूप से कह सकते हैं—नहीं। पर साथ ही इस सत्य को भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि साधन-सम्पन्न युग में जिस कोटि और जिस परिमाण में निबन्ध रचना आवश्यक थी, वह नहीं हुई ! हमें विश्वास है, आनेवाले दशक में यह अभाव पूर्ण हो जायेगा, और उपयोगितावाद का मोह छोड़कर स्वतंत्र रूप से निबन्ध रचना हो सकेगी। निबंध-कला का विकास युग की मांग है, उसे पूर्ण होना ही चाहिये।

डॉ० पवन कुमार मिश्र

हिन्दी नाटक : एक मूल्यांकन (१९५२ से १९६२)

नाटक मुख्य रूप से दृश्य काव्य है जिसका अर्थ सहज रूप में यह है कि साहित्य की यह विधा दृश्य और काव्य दोनों विशेषताओं से विभूषित है। नाटक को केवल पाठ्य मानना किसी भी दृष्टि से समीचीन नहीं कहा जा सकता है। अपनी उपर्युक्त दोनों विशेषताओं के कारण ही नाटक साहित्य की श्रेष्ठतम विधा का स्थान ग्रहण करता है। अभिनेयता नाटक का सहज गुण है जिसके अभाव में नाटक कान्तिहीन हो जाता है।

संस्कृतकाल से लगाकर वर्तमान युग तक के रंगमंच का इतिहास बड़ा पेचीदा और चक्करदार है। रंगमंच और नाटक का आपसी सम्बन्ध भी बड़ा घनिष्ठ है। वस्तुतः नाटक की सफलता की कसौटी रंगमंच है, तथा रंगमंच का निर्माण युग विशेष की रुचि और तत्कालीन आर्थिक अवस्था के आधार पर होता है। रंगमंच के व्यवस्थापकों एवं कलाकारों को नाट्य रचना के साहित्यिक एवं कलागत मूल्य के साथ साथ रंगमंच के संस्थापकों की रुचि का भी ध्यान रखना पड़ता है अतएव नाटक का स्वरूप प्रत्येक युग में परिवर्तित होता रहता है। रंगमंच एक कलात्मक संस्था है। रंगमंच अभिनेता, मंच सज्जा, संगीत, प्रकाश तथा अन्य कलाओं का मात्र मिश्रण नहीं है। रंगमंच स्वयं एक स्वायत्त मौलिक कला है जिसकी अपनी स्वतंत्र सत्ता है।

नाटकों का महत्व केवल उपन्यास के समान पढ़ने तक ही नहीं है वरन् सार्वजनिक

अभिनय करने में है, तथा रंगमंच ही वह माध्यम है जिसके द्वारा नाटककार अपनी बात सामान्य जनता तक अति प्रभावशाली ढंग से पहुँचा सकता है। प्रसिद्ध नाटककार जार्ज बर्नार्ड शा ने एक बार नाटकों की उत्पत्ति के विषय में अपना मत प्रकट करते हुए कहा था— "नाटक हमारी दो उद्दाम प्रवृत्तियों के सम्मेलन से पैदा हुआ है— नृत्य देखने की प्रवृत्ति और कहानी सुनने की प्रवृत्ति।" इस उक्ति में पूर्णता लाने के लिए अपने देश के संगीत को इसके साथ समाविष्ट करने की आवश्यकता प्रतीत होती है। तभी भारतीय नाटक का पूर्ण रूप सामने स्पष्ट हो सकता है।

रंगमंच के दो प्रमुख रूप हैं। एक लोकमंच और दूसरा नागरमंच। लोकमंच की धारा बड़ी महत्वपूर्ण है और उसने अनादिकाल से आज तक भारतीय जनमानस को तृप्ति प्रदान की है। डा० सुरेश अवस्थी ने एक स्थान पर लिखा है— 'लोक नाटक प्रत्येक देश की परम्परागत संस्कृति का अत्यंत समृद्ध एवं गहराई तक पहुँचा हुआ अंग होता है। नृत्य और संगीत की ही भाँति लोक साहित्य की इस शाखा में भी राष्ट्रीय प्रतिभा की वास्तविक झाँकी मिलती है, विभिन्न सांस्कृतिक रूपों वाले भारतवर्ष में लोक की कलात्मक अभिव्यक्ति के इस स्वरूप को विस्तृत क्षेत्र मिला है। हमारे देश में अनन्त नाटक साहित्य है जो एक ओर तो विविध जाति एवं चरित्र गत विशेषताओं की दृष्टि से और दूसरी ओर सौन्दर्यगत आकर्षण तथा कलात्मक दृष्टि से अत्यन्त समृद्ध है। चाहे कोई उत्सव हो या त्यौहार हो या जन जीवन की अन्य सामान्य घटनाएँ, कोई न कोई नाट्य प्रदर्शन हो ही जाता है जिसमें कि गीत नृत्य पुराण प्रसंग और कथा सभी परस्पर सम्बद्ध हो। जनता का जीवन तथा उसकी चेतना का अभिन्न अंग यह नाटक प्रकृति की प्रतिच्छवि के समान है।" लोकनाटकों के लिए विषय चयन की कोई कठिनाई उपस्थित नहीं होती है। विभिन्न पुराण, किम्वदन्तियाँ, कथाएँ, ग्रंथ आदि की गंगा इन नाटक लेखकों को स्वच्छ, शुद्ध, शीतल और निर्मल नीर प्रदान करती है, लोकमंच वस्तुतः देश के जन जीवन की सांस्कृतिक चेतना का प्रतिरूप होता है। लोकमंच अतिप्राचीनकाल से आज तक किसी न किसी रूप में जन-मानस में विद्यमान है।

नागर-मंच की धारा के प्रवाह ने समयानुसार कई नये मोड़ लिए हैं जब कि लोकमंच की सरलता में किसी प्रकार का विशेष परिवर्तन परिलक्षित नहीं होता है। नागरमंच का अभ्युदय लोकमंच से प्रेरणा प्राप्त कर ही हुआ है; उस रूप में लोकमंच

नागरमंच का जनक है।

अपने देश के रंगमच को गति बड़ी पेचीदा रही है। संस्कृतकालीन नागरमंच के रूप का सही-सही ज्ञान भरत नाट्यशास्त्र से होता है। यह मंच उत्कृष्टता की सीमा तक पहुँच चुका था। इस मच पर संस्कृत के सभी प्रकार के नाटकों का अभिनय हुआ है। मुगलकाल में नागरमंच की धारा लुप्तप्राय: ही हो गई। नवाब वाजिदअली शाह ने इसे पुनर्जीवन प्रदान किया। इन्होंने अभिनय के लिए 'रहसखाने' बनवाए। अंग्रेज़ों के आगमन से उनका प्रभाव इस देश के मंच पर हुआ। उनकी नकल पर इस देश मे कई थियेटरों का निर्माण हुआ जिनमें अंग्रेजी नाटकों का ही अभिनय होता था। रगमच की दिशा मे पारसी रगमच' की विशिष्टता और उसके महत्व को भुलाया जाना असम्भव है। अंग्रेजी के मच तथा लोकमंच से प्रेरणा प्राप्त कर इस मच का उदय हुआ और हिन्दी नाटकों के क्षेत्र में इसने क्रांति का शख फूंक दिया। यह मंच हिन्दी, उर्दू और गुजराती की सम्मिलित निधि रहा है। करीब ५० वर्षों तक इस मंच ने इस देश की बड़ी सेवा की है। जहां एक ओर इसके नाटक-लेखकों द्वारा हिन्दी साहित्य के भंडार को समृद्धि प्रदान की गई वहीं दूसरी ओर इसने जन समाज की आकांक्षाओं को तृप्ति प्रदान की तथा अभिनय के द्वारा देश विदेश मे कीर्ति भी अर्जित की। इतना होने पर भी हिन्दी के विद्वद् समाज ने सदैव इसका तिरस्कार ही किया यहाँ तक कि एक युग ऐसा भी आगया जब बिना सोचे समझे इस मंच को गालियां देना एक फैशन हो गया। हिन्दी में आज भी रगमच का अभाव है। यह प्रश्न भी बार बार उठ खड़ा होता है कि हिन्दी में रंगमच का अभाव क्यों है ? मेरी समझ में हिन्दी के रगमच के अभाव का मूल कारण हिन्दी के उस काल के विद्वानों की वह घृणा है जिसने अपने ही अङ्ग को सदैव उपेक्षा और हीन दृष्टि से देखा है। नाटक के अतिरिक्त साहित्य की अन्य सभी विधाओं में भावचित्र को काल्पनिक नेत्रों के सम्मुख रखकर ही प्रभाता कृति का आस्वाद ले सकता है किन्तु नाटक को रंगमंच पर अभिनीत देखते हुए प्रभाता के मन में भाव सत्वर सवेद्य हो उठता है और रसास्वादन सुलभ होता है। मात्र उच्चारण की भाषा द्वारा भाव सम्यक रूप से व्यक्त नहीं किया जा सकता है क्योंकि मात्र भाषा भाव व्यक्त करने में असम्पूर्ण और अक्षम है। भाषा के सहित इगित और भगिमा का सायुज्य उसकी पूर्णता का प्रेरक है इसीलिए दृश्य नाटक तथा रंगमंच का विशेष महत्व है।

इसके पूर्व मैं उल्लेख कर चुका हूं कि लोकमंच की धारा वर्तमान युग तक किसी न किसी रूप में प्रवाहमान है। इस मंच पर आज भी नौटंकी, स्वांग, भगत, रामलीला, रासलीला, कठपुतली आदि अपना अस्तित्व बनाए हुए हैं पर इन मंच की ओर भी हमारे देश का पढ़ा लिखा अपने आपको सभ्य और सुशिक्षित माननेवाला हृदय जागरूक नहीं है। बदलते हुए युग ने लोकमंच को स्पर्श नहीं किया है तथा शिष्ट (शिक्षित) जन समुदाय इसे अवहेलना की दृष्टि से देखने का अभ्यस्त होता जा रहा है फलतः यह ग्रामवासी बनकर अपना जीवन एकांतिक ही व्यतीत कर रहा है। 'ग्राम' भी धीरे धीरे शहरों की लपट से झुलसने लग गए हैं और उनकी श्रद्धा भी स्खलित होती सी प्रतीत होने लगी है इसका प्रभाव लोकमंच पर विषादपूर्ण दृष्टिगोचर होता है। फलतः इसका स्वरूप संकुचित होता जा रहा है। सिनेमा का व्यापक प्रभाव भी अपने विष बुझे दांतों से इसे दंशन कर रहा है, सिनेमा का प्रचंड वैभव मनोरंजन की चाह तो पूरा करता है, परन्तु संस्कारों के भार से दबी और भूली सी अभिनयात्मक आदिम प्रवृत्ति को न तो पूर्ण अवसर प्रदान करता है और न दर्शकों को अभिनेताओं के मायावी लोक में अपनी हस्ती खो देने का निमन्त्रण देता है। सिनेमा के पर्दे पर चलती फिरती और जादूगरी से बोलने वाली मूर्तियों से प्रदर्शन के समय रागात्मक संबन्ध स्थापित होना उतना ही दूभर है जितना किसी स्वप्न सुन्दरी से नाता जुड़ना।

हम लोकमंच से प्रेरणा ग्रहण कर ही अपने अनुरूप रंगमंच का निर्माण कर सकते हैं, पर इसके लिए उस लोक रुचि की मांग को समझना होगा जिसके सहारे अब तक भी नौटंकी पार्टियां और मंडलियां जीवित हैं; हिन्दी के सुधी और मर्मज्ञ विद्वानों ने इस ओर पूर्ण ईमानदारी और निष्ठा से अबतक विचार नहीं किया है। डा० जगदीशचन्द्र माथुर ही एकमात्र ऐसे विद्वान दिखाई पड़ते हैं जो इसके साथ आत्मसाक्षात्कार कर पाए हैं। यहां उनके शब्दों को उद्धृत करना अधिक उपयुक्त होगा। "छः सात वर्ष हुए बिहार के एक साधारण ग्राम में दौरा करते समय मुझे उस गांव की ही एक मंडली द्वारा प्रस्तुत किया गया नाटक देखने का अवसर मिला। ठठ के ठठ पुरुष और नारी जमा थे। स्टेज के नाम पर एक चौकी। एक ढोलकवाला था। अभिनेता कुल चार पांच। दर्शक तीनों तरफ। न कोई पर्दा, न कोई विशेष सजावट। नाटक का नाम था 'जालिमसिंह' जो उत्तरी बिहार में खासा प्रसिद्ध है। अभिनय में कोई विशेष कला नहीं थी। कहानी अच्छी

होते हुए भी उसमें कई अश्लील अंश थे। लेकिन मुझे लगा जैसे उस नाटक के खेलनेवालों और चारों ओर उमड़नेवाली जनता में एक संशयहीन आत्मीयता हो, जिसका मैं अंग नहीं बन सका। उसके बाद बिहारी और पूर्वी यू० पी० के भोजपुर इलाके के लोकप्रिय कलाकार भिखारी ठाकुर के विषय में बहुत कुछ सुनकर और उनके बिदेसिया के नाम पर जुट पड़नेवाली जनता की मनोवृत्ति का अध्ययन कर मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूं कि देहाती रंगमंच उन आदिम अभिनयात्मक इच्छाओं की अभिव्यंजना है जिसके बल पर ही सिनेमा के तीव्र प्रचार के बावजूद रंगमंच अपना अस्तित्व कायम रख सकता है। देहाती रंगमंच की बुनियाद में अभिनेता और दर्शक के बीच वही तदात्मायता है जिसका जिक्र मैं ऊपर कर आया हूं। यह तभी संभव हो सकता है जब नाटक मंडली के अभिनेता और प्रबन्धक, देहाती जनता की रुचि और मांग का अध्ययन करें। उनकी तथाकथित अश्लीलता या बेरोक रसानुभूति से नाक भौं सिकोड़े और उच्चस्तर से आविर्भूत होने वाले उपदेशक की भांति, नीति अथवा उद्धार की झड़ी न लगाएं और न आर्थिक शोषण का उन्मूलन करने के लिए जनता को भावोद्वेलित करने की आशा करें यह तो प्रधानतः मनोरंजन का क्षेत्र है। इसे परिमार्जित करने का एक ही मार्ग है, यानी जो मनोरंजन भोंडा है उसे सुन्दर और कलपूर्ण बनाया जाय।'' इस विचार सरणि के आधार पर विचार करने से यह निष्कर्ष प्राप्त होता है कि पारसी रंगमंच में भी जिस सुधार की अपेक्षा थी वह सुधी जनों से उस में न हो सका। 'पारसी रंगमंच' के भोंडेपन को दूर कर यदि उसे स्थाई रंगमंच का स्वरूप प्रदान करने का प्रयत्न किया गया होता तो आज के रंगमंच का अभाव जो कांटे की तरह खटकता है दूर होगया होता। संस्कृत के मंच के अंतर्धान होने के पश्चात और नांदी तथा सूत्रधार को बहिष्कृत कर देने के बाद यही मंच उस खाई को पाट सकता था। इसकी कुछ बुराइयों अथवा खामियों से हिन्दी क्षेत्र एकदम बौखला उठा और उसने नए मंच की स्थापना का बीड़ा उठाया। फलतः इसी की प्रतिक्रिया पर अव्यवसायी कम्पनी की स्थापना की गई पर इसकी जीवन यात्रा अल्पकालीन ही रही। पारसी रंगमंच का परिष्कृत रूप 'पृथ्वी थियेटर्स' में दीख पड़ा था पर वह भी अब अस्त ही हो चुका है।

रंगमंच के अभाव का असर नाट्य रचना पर भी पड़ता है। वर्तमानकाल के कई नाटकों की रचना इसीलिए 'फिल्मी फार्मूले' पर की गई है। अब तो ले देकर स्कूलों

और कालेजों में ही रंगमंच सिमिटकर जा पहुँचा है, जहाँ वर्ष में एक दो बार उत्सव समारोहों में नाटकों का और वह भी केवल एकांकियों का प्रदर्शन होता है। स्कूलों और कालेजों का यह मंच एक प्रकार से रूढ़ अथवा अनगढ़ ही कहा जाना चाहिए। विभिन्न मंचों से सार ग्रहण कर नवीन मंच की स्थापना इस युग का विशेष कर्तव्य है। पर इस रंगमंच की स्थापना कैसे हो सकेगी ? इस देश के वातावरण और संस्कार के अनुरूप जिस रंगमंच की स्थापना की जानी अनिवार्य है वह हमारे देश की संस्कृति की अन्तः-सलिला को उपेक्षित कर कभी भी स्थाई रूप नहीं ले सकेगा। संस्कृत के रंगमंच की कमनीयता, उसका सुरम्य वातावरण, हमारे देश के रंगमंच के लिए वांछनीय हैं। रंगशाला की सजावट, संगीत और नृत्य का प्रचुर प्रयोग इन सभी विषयों पर संस्कृत रंगमंच की विशिष्ट धरोहर है। पाश्चात्य अनुकरण पर कृत्रिम साधनों का सहारा लेकर, अथवा प्रतीकवाद का दामन पकड़कर जिस ताश के महल का निर्माण किया जावेगा उसकी सीमा नगरों तक ही रहेगी और नगरों में भी एक विशेष वर्ग ही उसमें अभिरुचि ले सकेगा अतएव वह इस देश को मान्य नहीं होगा और कभी भी ढह पड़ेगा। रंगमंच की यदि पुनः प्राणप्रतिष्ठा करनी है तो संस्कृत रंगमंच की ललित रंगपीठ, सरस स्वाभाविकता और शास्त्रोक्त मुद्राओं तथा भाव भंगिमाओं से भरे पूरे अभिनय को ही अपनाना होगा। इसका यह अर्थ नहीं है कि रंगमंच पहले बने और नाटक की रचना बाद में हो वस्तुतः दोनों ही सहधर्मा हैं।

आलोच्यकाल के नाटकों में पश्चिम का प्रभाव अधिक मात्रा में पड़ा है। यहां तक कि पश्चिम के वादों से प्रभावित होकर उनकी अन्धाधुन्ध नकल पर भी नाटक लिखे गए हैं। अस्तित्ववादी नाटकों का श्रीगणेश भी हिन्दी में हो चुका है। सामाजिक और प्रतीक-वादी नाटक तो लिखे ही जा रहे हैं। संस्कृत के नाटकों की शैली का भी पूर्ण परित्याग कर दिया गया है। सूत्रधार आदि को नाटकों से निष्कासित ही कर दिया गया है। वैसे तो सूत्रधार की योजना संस्कृत नाटकों में 'आवरण भंग' के लिए होती थी। उसका स्थान रिक्त ही है। सूत्रधार और विष्कंभक को यदि यूनानी कोरस पद्धति में ढालकर एक नवीन प्रकार के रंगनायक की सृष्टि की जा सके, जो यवनिका और पर्दों के बिना ही नाटक की पृष्ठभूमि और भिन्न अंकों का एक दूसरे से संबन्ध प्रकाशित कर सके तो सूत्रधार के अभाव की पूर्ति हो सकती है।

नाटकों की कथावस्तु में भी आलोच्यकाल में विविधता दृष्टिगोचर होती है। समस्यामूलक और यथार्थवादी नाटकों की रचना भी इस काल में हुई है। कुछ समस्यामूलक नाटक प्रचार की लपेट में आ गए हैं और फलतः उनकी आत्मा क्षयग्रसित हो गई है। पश्चिमी नाटककारों विशेषकर इब्सन और शा ने आधुनिक युग के नाटककारों को बहुत प्रभावित किया है किन्तु शा अथवा इब्सन जैसा मेधावी व्यक्तित्व हिन्दी में अभी तक पैदा नहीं हुआ है। अंधाधुंध नकल नकल ही रहेगी उसमें रस का संचार नहीं हो सकता है। समस्यामूलक नाटकों में भी कला का होना आवश्यक है। मात्र यथार्थ का प्रदर्शन साहित्य नहीं है यथार्थ का कलात्मक उद्घाटन ही साहित्य है। नवीनता की झोंक से कुंठित और वाद से ग्रस्त रचना किसी ठिकाने की नहीं हो सकती है। मौलिकता का मोह और नवीनता का प्रदर्शन जब व्यसन का रूप धारणकर साहित्य में अवतरित होने लगता है तब साहित्य का वह रूप भ्रष्ट ही होता है उच्चकोटि का नहीं। हिन्दी नाटकों में यह रोग अब अधिक घर करने लगा है।

पिछले दशक में नाटकों की रचना प्रचुर परिमाण में की गई है। किन्तु ऐसे नाटकों की संख्या नगण्य-सी है जिसने जनमानस को आन्दोलित कर तृप्ति प्रदान की हो। श्रेष्ठ नाटकों की संख्या इनी गिनी ही रही है। नाटकों में ऐतिहासिक, सामाजिक, जासूसी, मनोवैज्ञानिक, यथार्थवादी, प्रतीकवादी, अस्तित्ववादी आदि सभी प्रकार के नाटकों की रचना की गई है। 'फिल्मी फार्मूले' पर लिखे गए नाटकों की संख्या भी अच्छी खासी है पर सर्वाधिक नाटकों की संख्या ऐतिहासिक और पौराणिक ही रही है यहाँ तक कि पं० लक्ष्मीनारायण मिश्र भी समस्यामूलक नाटकों का घेरा तोड़कर ऐतिहासिक नाटक ही लिखने लग गए हैं। पुराने खेमे के नाटककार अभी भी अपने ढंग से सतत क्रियाशील दिखाई पड़ते हैं जिनमें सर्वश्री डॉ० रामकुमार वर्मा, हरिकृष्ण प्रेमी, अश्क, उदयशंकर भट्ट आदि उल्लेखनीय हैं।

डा० रामकुमार वर्मा साहित्यकार ही नहीं समर्थ आलोचक भी हैं। उनमें सर्जक और आलोचक का सुन्दर समन्वय है। उनके नाटकों की भूमिका में भी उनकी अपनी स्थापनाएँ भी हैं। उनके अनुसार नाटक जीवन की प्रभावपूर्ण अनुकृति है चाहे वह वर्तमान रूप हो अथवा अतीत के स्वर्णिम पृष्ठों से लिया गया हो। नाटककार की सफलता इसी में है कि वह दर्शकों और श्रोताओं के सम्मुख तत्कालीन जीवन का सजीव

चित्र उपस्थित कर सके। श्रोता या दर्शक कुछ समय तक समझने लगें कि वे किसी के जीवन की सच्ची घटना देख रहे हैं। जिस प्रासाद या कक्ष में सच्ची घटना घटित हो रही है उसकी दीवार हटा दी गई है और हम व्यक्ति, घटना और परिस्थिति को प्रत्यक्ष देख रहे हैं। वर्माजी एकांकीकार भी हैं। पर उनके पूर्ण नाटक अधिकतर ऐतिहासिक ही हैं। ऐतिहासिक नाटक लिखते समय नाटककार को अत्यधिक सूझबूझ और सतर्कता से कार्य करना अनिवार्य होता है। साहित्यकार कोरा इतिहासकार नहीं होता उसे ऐतिहासिक सत्य में कला की प्राणप्रतिष्ठा करनी होती है। ऐतिहासिक सत्य को प्रखर बनाने में कल्पना का योगदान बड़ा महत्वपूर्ण होता है। डा० रामकुमार वर्मा ने अपने नाटकों में पात्रों के 'मनोविज्ञान' की ओर विशेष ध्यान दिया है मनोविज्ञान का प्रवेश (इस रूप में) वे पश्चिम की देन मानते हैं। पर यह कहना तर्कसगत प्रतीत नहीं होता है। संस्कृत-साहित्य में भी 'चिन्तन और मनोविज्ञान' नाटकों में बराबर देखा जा सकता है। एक प्रश्न यह भी उपस्थित होता है कि क्या मनोवैज्ञानिक और चिन्तनपूर्ण' नाटक अभिनेयता की दृष्टि से हीन कोटि के होते हैं? वस्तुतः ऐसे नाटकों का प्रदर्शन भी सफलता पूर्वक किया जा सकता है। पश्चिम के इस श्रेणी के नाटक तो प्रायः अभिनेय ही हैं। इब्सन, शा, और यू-जीन-ओ नील के नाटक इसके प्रमाण हैं। यह बात दूसरी है कि पाठक इन्हें पढ़कर भी आनंद पा सकता है। यह मैं पहले ही संकेत कर चुका हूं कि नाटक साहित्य का वह श्रेष्ठतम रूप है जिसमें दृश्य और श्रव्य दोनों विशेषताएं सन्निहित हैं। साहित्य का रूप होने से नाटक का माध्यम भी मूलतः शब्द ही है। मेरे अल्प अभिमत से नाटकों का पाठ्य और दृश्य विभाजन मूल-भूत त्रुटि है। यदि इन दोनों का समन्वय लेखक करने में असमर्थ है तो उसे साहित्य के अन्य रूपों के क्षेत्र में अपनी लेखनी को कष्ट देना अधिक उपयुक्त है। रंगमंच भी अपरिवर्तशील संस्था नहीं है, उसमें भी नाटक के अनुरूप अवतरित होने की क्षमता होनी चाहिए। यदि पाठ्य-नाटक केवल संवाद शैली में रचित उपन्यास है तो उसे उपन्यास-संज्ञा से अभिहित करना ही श्रेयस्कर होगा।

प्राचीन भारतीय मनीषियों ने साहित्य के क्षेत्र में रस की महत्ता प्रतिपादित की है। वर्तमान काल में यह कहा जाने लगा है कि रस का स्थान मनोविज्ञान ने ले लिया है जो उचित नहीं है।

पिछले दशक में डा० रामकुमार वर्मा के तीन नाटक प्रकाशित हुए। इनमें 'कला

ग्रौर कृपाण' में उदयन के बौद्धधर्म में दीक्षित होने की कथा है। नाटक की परिणति करुण रस में हुई है तथा इसमें लेखक का विषय मनोरंजन के साथ साथ 'अहिंसा की हिंसा' पर विजय दिखला कर मानवता को संदेश भी देना है। विजय पर्व (१९५८) अशोक के जीवन से सबंधित है। इसमें ऐतिहासिक यथार्थ की पूरी रक्षा की गई है। कलिंग का युद्ध इतिहास की बड़ी मार्मिक घटना है जिसका चित्रण इसमें बड़े प्रभावशाली ढंग से हुआ है। नाना फड़नवीस (१९६३) वर्मा जी की नवीन रचना है; नाना फड़नवीस भारतीय इतिहास का ज्वाज्वल्यमान नक्षत्र है। इस नाटक में पात्रों के आंतरिक संघर्ष का चित्रण उत्कृष्ट रूप में हुआ है। लेखक के स्वयं के शब्दों में नाना का जीवन वास्तव में अन्तर्द्वंद्व और संघर्ष का प्रतीक है और इसी परिस्थिति में उनके चरित्र का आलोक समस्त महाराष्ट्र की राजनीति पर पड़ा है।" वर्मा जी की भाषा सुव्यवस्थित है। संवाद उपयुक्त है। लम्बे और दुरुह सभाषणों का समावेश नहीं है। घटनाक्रम की योजना में लेखक कुशल है किन्तु फिर भी मानवीय संवेदना को गहराई से व्यक्त करने में नाटक के पात्र सफल नहीं हैं।

श्री हरिकृष्ण 'प्रेमी' मूलतः ऐतिहासिक नाटककार हैं और अनवरत रूप से नाटकों की रचना करते चले जा रहे हैं। प्रेमी जी के अधिकांश नाटक प्राचीन ऐतिहासिक परिवेश में वर्तमान युग की समस्याओं का उदघाटन करते हैं। प्रेमी जी नाटकों में यथार्थ-वाद को संयत रूप में उपस्थित करने के अधिक समर्थक हैं। उन्होंने साहित्य में लोकहित का समावेश वांछनीय माना है। उनके अनुसार—"भारत की प्राचीन संस्कृति को नियमित करने वाले आदर्श गुणों में समाविष्ट कर उनके माध्यम से पाठकों को वर्तमान युग के विग्रहात्मक जीवन से विकर्षित कर पुनः सांस्कृतिक विभूति की ओर लेजाना" ही साहित्य का प्रमुख उद्देश्य है।

प्रेमी जी का 'डेढ़ अरब' (१९५७) गांधी जी के हृदय परिवर्तन वाले सिद्धांत को सन्मुख रख कर लिखा गया है। कथानक आइ० एन० ए० के समय का है। कला की दृष्टि से यह नाटक निम्न कोटि का है। अस्वभाविक घटनाएँ, दीर्घ कथोपकथन, भग्न प्राचीर महाराणा संग्रामसिंह के जीवन से सबन्धित है और प्रकाशस्तंभ की कथावस्तु बप्पा रावल के जीवन की महत्त्वपूर्ण घटनाओं से जुड़ी

है। जनश्रुतियों और देवी चमत्कार पूर्ण घटना का सहयोग भी प्रेमी जी ने अपनी रचनाओं में किया है।

संरक्षक (१९५८)—भारत में अंग्रेजी राज्यकालीन इतिहास का एक पृष्ठ है। इसमें उन दोषों का विस्तार चित्रण है जिनके कारण भारत पराधीनता के पाश में बद्ध हो गया। इस नाटक में जनता की शक्ति और उसके प्रभाव को जागरूक करने के लिए लेखक प्रयत्नशील जान पड़ता है। यथा "प्रजा यदि ठान ले तो कोई भी विदेशी हम पर शासन नहीं कर सकता है। प्रजा अगर संगठित होकर खड़ी हो जावे तो हुँकार मात्र से शासक का कलेजा कांप जावे"। बिदा (१९५८) की कथा शाहजादा अकबर के उस प्रयत्न से संबन्धित है, जिसके द्वारा वह हिन्दू मुस्लिम ही नहीं वरन् समस्त समाज में सदभावना की स्थापना कर देश में पुनः शांति स्थापित करना चाहता था। ममता (१९५८) सामाजिक नाटक है, इसकी प्रमुख कथा प्रेम से संबन्धित है जिसके परिपेक्ष्य में सामाजिक रूढ़ियों तथा जातीय बन्धनों पर आघात किया गया है, स्वच्छन्द प्रेम इस नाटक की मूल समस्या है। इसमें लेखक ने प्रतिपादित किया है कि प्रेम का सहज विकास बन्धन विहीन भूमिका पर ही सभव है। संवत प्रवर्तन (१९५९) शकारि विक्रमादित्य के जीवन से संबन्धित है। इस नाटक में कथा का आधार जन साहित्य में उपलब्ध कथा और कल्पना से पर्याप्त मात्रा में सहयोग लिया गया है। इस नाटक के संवाद अधिक भावुकता पूर्ण है। शतरंज के खिलाड़ी (१९५५) साम्प्रदायिक एकता को प्रतिष्ठित करने के लिए लिखा गया है। लेखक के अपने शब्दों में "शतरंज के खिलाड़ी में मेरा परम प्रिय विषय साम्प्रदायिक एकता है, जिसे जरा उदार होकर सोचने पर राष्ट्रीय एकता और जरा गहरे उतर कर देखने पर मानवीय एकता भी कह सकते हैं।"इस नाटक की सबसे बड़ी विशेषता यथार्थ सिद्धांत का प्रतिपादन है। इसमें जोहर' को ही उच्चतम आदर्श न मानकर जीवित रह कर कर्म करने को ही आदर्श माना गया है। ताण्डवी विद्रोह जगाने के लिए 'जोहर' से विरत होकर जीवित रहती है। 'सांपों की सृष्टि' (१९५९) में अलाउद्दीन खिलजी के अन्तिम दिनों की झांकी प्रस्तुत की गई है। इसमें यह भी बतलाया गया है कि अलाउद्दीन खिलजी का पारिवारिक जीवन असफल एवं अभावग्रस्त था। अलाउद्दीन का अन्त संघर्ष का चित्रण मनोवैज्ञानिक है। लेखक के शब्दों में "यह नाटक आज के भारत की मांग पूरी करता है--क्योंकि हमारे सामने समाज की वे भूलें जिनसे हमें

पददलित होना पड़ा आज भी वर्तमान हैं। प्राचीन इतिहास उनके संबंध में चेतावनी देता है।" हरिकृष्ण प्रेमी की नवीनतम कृति 'रक्तदान' है जो बादशाह बहादुरशाह जफ़र के जीवन पर आधारित है। बादशाह जफ़र का जीवन घटनाओं से परिपूर्ण है। बेगम जीनत का चित्रण भी बादशाह की संगिनी के रूप में ठीक ठीक हुआ है। बादशाह जफ़र के चरित्र की सबसे बड़ी कमजोरी यह थी कि वे विश्वासघातियों पर विश्वास कर लेते थे इस नाटक में कथोपकथनों में स्वभाविकता तो है पर कहीं २ गांधी जी के सिद्धांत बादशाह जफ़र के मुँह से कहलवाए गए हैं।"

प्रेमीजी के नाटकों में आदर्शवाद की स्थापना मुख्य रूप से हुई है। हिन्दू मुस्लिम एक्य, राष्ट्र प्रेम, मानव प्रेम की भावनाओं को प्रतिपादित करने के लिए ही 'प्रेमी' जी ने नाटक लिखे हैं ऐसा प्रतीत होता है। कथा के गठन में अन्वितियों के निर्वाह पर ध्यान नहीं दिया गया है। उन्होंने भारतीय नाटयशास्त्र के नियमों को भी अपने नाटकों में नहीं उलझने दिया है। इतना अवश्य है कि 'प्रेमी' जी के नाटकों में वही युद्ध वही संधियां, वही दावपेंच, वही सहायताएँ, वही राष्ट्रीय, साम्प्रदायिक एकता, वही संघर्ष बार बार आ जाता है।

चरित्रों के संयोजन में भी 'प्रेमी' जी ने भारतीय नाटयशास्त्र के नियमों को सामने नहीं रखा है। विदूषक, विट चेट आदि को इनके नाटकों में कोई स्थान प्राप्त नहीं है, कुछ विशिष्ट राष्ट्रीय आदर्शों को अपना एकान्त लक्ष बना लेने के कारण 'प्रेमी' जी के पात्र बहुत कुछ उन आदर्शों के ही प्रतिरूप बनकर रह गए हैं और इसी कारण मानवीय संवेदनाओं को उत्पन्न करने में असमर्थ हैं। 'प्रेमी' जी के पात्र मात्र भावनाओं के प्रतीक हैं।

नाटकों में संवाद योजना का अपना महत्व है। प्रेमी' जी ने अपने संवादों में भावतत्व और विचारतत्व दोनों का समावेश किया है। 'प्रेमी' जी के नाटकों की विशेषता यह है कि ये पूर्णरूप से अभिनेय हैं और एकाधिकबार अभिनीत भी हो चुके हैं, इनके नाटकों की भाषा सरल खड़ी बोली है। उन्होंने संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग केवल गहन विचारों की अभिव्यक्ति के लिए किया है। इनकी भाषा भावानुरूप परिवर्तित होती रहती है इसी कारण भाषा, प्रसाद, माधुर्य और ओज तीनों गुणों से समन्वित है, अंग्रेजी के साधारण प्रचलित शब्दों का प्रयोग भी इनके नाटकों में कहीं कहीं है। लोकोक्तियों

और मुहावरों का सहज प्रयोग भाषा में सजीवता और प्रौढ़ता का संचार करता है। वस्तुत: मध्ययुगीन इतिहास से सामग्री का चयन कर नाटक लिखने वालों में 'प्रेमी' जी का श्रेष्ठतम स्थान है। 'प्रेमी' जी ने नाटकों की रचना प्रचुर परिमाण में की है। पर ऐसा प्रतीत नहीं होता है कि उन्होंने उत्तरोत्तर प्रगति की है प्रारंभ के नाटकों के पश्चात 'प्रेमी' जी आगे न बढ़कर उसी आवर्त में परिचालन करते हुए से दिखाई देते हैं।

५० भगवतीप्रसाद वाजपेई का नाटक राय पिथौरा (१९५८) शुद्ध असफलता का ही परिचायक है। वस्तुत: वाजपेई जी के पास नाटककार की प्रतिभा शून्य ही है. इस नाटक की भाषा भारी भरकम और बोझिल है। यहां तक कि स्टेज निर्देशन में भी काव्यात्मक और भावुकता ग्रस्त भाषा का प्रयोग है। उदाहरण के लिए इसी नाटक के इस निर्देशन का अवलोकन कीजिए — 'जब दीवारों पर धूपाधारों में स्थापित अगरबत्तियां सुगन्धित धूम्र उडाने लगती हैं तब दूरागत पवन झकोरे उनसे टकराकर ग्रीवा से लिपट जाते हैं और कभी कुन्तल संसार से अवगत होकर मुस्करा उठते हैं।"

इस नाटक में नायक का चरित्र सफल रूप में रखने की चेष्टा की गई है। चंद और पृथ्वीराज दोनों का चित्रण ठीक है। भाषा के प्रयोग में उस प्रदेश के शुद्ध शब्दों का प्रयोग ही उचित होता है उन्हें तोड़ने मरोड़ने से नाटक की आत्मा का ही हनन हो जाता है। भगवती बाबू द्वारा 'घणी खम्मा' के स्थान पर 'घणी क्षमा' का प्रयोग किसी भी दृष्टि से उचित नहीं है।

लक्ष्मीनारायण मिश्र समस्यामूलक नाटककार के रूप में हिन्दी साहित्य में जाने जाते हैं। किन्तु आलोच्यकाल के दशक में वे शुद्ध रूप से ऐतिहासिक नाटककार रह गए हैं। मिश्र जी प्राचीन रस सिद्धांत के पक्षपाती हैं और आधुनिक अंग्रेजी प्रभाव को वे हितकर नहीं मानते हैं। एक स्थान पर उन्होंने लिखा है "भारतीय कला-साहित्य का रथ कई शती पूर्व से अंग्रेजी शासन और शिक्षा के आरंभ तक रस' की धुरी पर ही चलता आया। पूरी पचास शती की विजय यात्रा के बाद पूर्वजों की यह परम्परा अंग्रेजी साहित्य की शिक्षा के पचास वर्ष में ही मिट गई। भरत के रस दर्शन से बिछुड़कर हम अरस्तू की कथार्सिस का विष पीने लगे।" लक्ष्मीनारायण मिश्र प्रारंभ में ऐतिहासिक नाटकों के विरोधी थे संन्यासी की भूमिका में उन्होंने लिखा है कि "इतिहास के गड़े मुर्दे उखाड़ने का काम इस युग के साहित्य में वांछनीय नहीं। अतीत का पल्ला छोड़कर नवीनता के रंगमंच

पर आने वाले मिश्र जी हिन्दी क्षेत्र के प्रथम नाटककार हैं और उन्होंने एक पर एक तावड़तोड़ कितने ही समस्या नाटकों की रचना करके ही दम लिया। अपने इन नाटकों में श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र इब्सन और शा से अधिक प्रभावित हैं। मिश्र जी की प्रथम नाटकीय रचना अशोक है जिस पर बहुत कुछ प्रसाद का प्रभाव है. प्रसाद जी की भाव-प्रधान, अन्तर्संघर्ष का स्वगत कथनों में तथा बाह्य संघर्ष का हत्या, युद्ध आदि में चित्रण करने वाली नाट्यकला के प्रति उन्होंने अपने समस्यामूलक नाटकों में विद्रोह व्यक्त किया है।

मिश्र जी ने पुनः ऐतिहासिक नाटक लिखना क्यों शुरू किया ? उनकी नाट्य कला में इस परिवर्तन का कारण क्या है ? इसका उत्तर भी उन्होंने स्वयं ही दे दिया है। यथा "प्रसाद के नाटकों में भारतीय संस्कृति और जातीय जीवन दर्शन की जो हानि मुझे दिखाई पड़ी भावी पीढ़ी के पथभ्रष्ट होने की आशंका मेरे भीतर उपजने लगी—इसके निरा-करण के लिए मुझे ऐसे नाटक रचने पड़े जिनमें हमारी संस्कृति और जीवन-दर्शन का वह सत्य उतर उठे जो कालिदास और भास के नाटकों में पहले से ही निरूपित है।" इस कारण के सिवा मिश्रजी के इस ओर मुड़ने का कारण एक और भी है और वह यह कि मिश्र जी की अन्तश्चेतना प्रसाद और उनकी कला से प्रभावित है। यद्यपि 'वितस्ता की लहरें' और 'चन्द्रगुप्त' एक ही किस्म की चीजें नहीं हैं पर इनके नाटकों में प्रसाद जी की कला का स्पष्ट प्रभाव दिखलाई पड़ता है।

वितस्ता की लहरें (१९५३) नामक नाटक में मिश्रजी ने—समय,स्थान तथा कार्य की एकता का दृढ़ता से पालन किया है। इस नाटक में नाटककार ने अनेक प्रकार से यवन संस्कृति तथा भारतीय संस्कृति की तुलना करके भारतीय संस्कृति के गौरव को इसके सृजन, संस्कार, उदारता के भावों को प्रतिष्ठित करने की चेष्टा की है। कथानक में इतिहास और कल्पना का सुन्दर समन्वय दृष्टिगोचर होता है। वस्तु का विकास स्वाभाविक तथा कलापूर्ण है। प्रमुख पात्रों का चित्रण भी विस्तारपूर्वक किया गया है, संवादों को मिश्रजी ने परिस्थिति तथा पात्रानुकूल गम्भीरता और आवेग, तथा हास्य विनोद और व्यंग के द्वारा सर्वथा स्वाभाविक और प्रभावोत्पादक बना दिया है। कार्यव्यापार से भी अधिक संवाद के माध्यम से चरित्रों का उद्घाटन बड़ी कुशलता से किया गया है।

मिश्र जी की नाट्यकला में भारतीय आत्मा अपने वास्तविक गौरव के साथ नई

साज सज्जा में प्रगट हुई है। इनमें यूरोप के विकसित नाटकों की पद्धति का पूर्ण रूप से उपयोग किया गया है. लेकिन वह भारतीय मान्यताओं के प्रतिकूल नहीं है। हिन्दी के नाट्य साहित्य को मिश्रजी की देन बहुत बड़ी है डा० देवराज उपाध्याय के शब्दों में "हिन्दी नाट्य साहित्य में चाहे जो कुछ घटना घटे पर एक बात नहीं होगी। वह यह कि प्रसाद के रोमांटिक कल्पना–प्रधान नाटकों के दिन लद गए। उन्हें फिर से पुनर्जीवित करनेवाला नाटककार सचमुच बड़ा साहसी होगा। इसका श्रेय मिश्र जी को है। भविष्य में जो भी नाटक हिन्दी में लिखे जायेंगे उनकी रचना मिश्र जी की पद्धति पर होगी या उसी का कोई विकसित रूप होगा। क्या उतने विश्वास के साथ कोई कह सकता है कि मिश्र जी द्वारा प्रवर्तित नाटक शैली की जड़ को किसी नूतन प्रतिभा ने जरा भी टस से मस किया है। सबसे बड़ी बात यह है कि मिश्र जी ने हिन्दी नाटक को उपयुक्त शरीर दिया है। प्राणों का सम्पादन तो पहले भी था पर शरीर के अभाव में उसका महत्व नगण्य है। कालिदास ने दिलीप के दिव्य वपु का वर्णन करते हुए लिखा है–

व्यूढ़ो रस्को वृषस्कंध शालप्रांशर्महाभुज: ।
आत्म कर्मक्षमंदेहं क्षात्रो धर्म वापर: ।।

ठीक उसी तरह मिश्र जी ने हिन्दी नाटक को "नाट्यधर्म ....आत्मकर्म क्षमं देहं" से समन्वित किया है।"

मिश्रजी के दो नाटक दो विशिष्ट विभूतियों के जीवन को लेकर लिखे गए हैं। इनमें एक साहित्यिक विभूति है—भारतेन्दु और दूसरी मानवेतर विभूति है–गांधी जी, मृत्युंजय (१९५८) गांधी जीवन पर आधारित है और कवि भारतेन्दु (१९५५) भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र के जीवन पर। मृत्युंजय में घटनाओं का समावेश उतना नहीं है। संवाद ही संवाद हैं। इस कारण नाटक उतना सफल हो नहीं पाया है। गांधी जी के महत्व का अंकन अभी किसी और श्रेष्ठ कलाकार की प्रतीक्षा में है। इस नाटक में मिश्रजी का अंग्रेजी शिक्षा पर भी रोष व्यक्त हुआ है। एक स्थान पर गांधी स्वयं कहते हैं "अंग्रेजी साहित्य जो यहां विश्वविद्यालयों की शिक्षा का प्रधान विषय बन गया है उससे इस देश के तरुण ब्रूटस, मैकबेथ बनने लगे हैं।"

कवि भारतेन्दु में भारतेन्दु जी के जीवन की कुछ घटनाओं को लेकर ताना बाना

बुना गया है। इस नाटक में भारतेन्दु जी की दान-वीरता और सरलता तो सफल रूप में व्यक्त हुई है किन्तु साहित्य रूप (जो सबसे प्रधान है) दबा रह गया है। इस दृष्टि से यह नाटक असफल ही कहा जावेगा। इस नाटक के संबंध में मिश्र जी का कथन है कि 'इस नाटक से कवि भारतेन्दु के व्यक्तित्व और वातावरण का बोध जो पाठकों को हो सके उस अल्हड़ हृदय की धड़कन जो वे देख सुन सकें तब मेरा यह श्रम सार्थक होगा, नहीं तो अपने इतिहास के एक महान मनीषी को स्वप्न में देख लेने भर का फल मुझे मिल जायेगा और लेखनी की महायात्रा भी निष्फल नहीं होगी।' वस्तुतः स्वप्न दर्शन की सफलता ही मिश्र जी को इसमें प्राप्त हुई है पाठक को वे संतोष प्रदान नहीं कर सके हैं।

ऐतिहासिक नाटकों के क्षेत्र म देवराज 'दिनेश' का भी किंचित क्वचित योगदान है। मानव प्रताप १९५२) और यशस्वी भोज (१९५५) इनके दो ऐतिहासिक नाटक हैं। 'दिनेश' जी की भाषा बड़ी ओजपूर्ण और प्रवाहमयी है। 'भोज' में छोटी छोटी प्रचलित किम्वदन्तियों का भी सुन्दर मिश्रण है।

रामप्रसाद रावी'का प्रबुद्ध सिद्धार्थ (१९५६) 'दि लाइट आफ एशिया' पर आधारित है। जिसमें सिद्धांत पक्ष का अत्यधिक विवेचन होने के कारण नाटक की आत्मा क्षयग्रस्त हो गई है. बाबू ब्रजरत्नदास का आदर्श राम (स० २०१२) नाटक के लक्षणों के अनुसार रचित होने पर भी शिथिल है। संवाद में भी जान नहीं है और न किसी समस्या का ही निदान करने में समर्थ है।

आचार्य चतुरसेन शास्त्री ने अशोक के जीवन की व्याख्या करते हुए 'धर्मराज' (१९५६) नामक नाटक की रचना की। उन्हीं के अनुसार "इस नाटक में अशोक के जीवन का इतिवृत्त नहीं है उनके जीवन की व्याख्या है। ······यह नाटक रंगमंच के लिए नहीं विद्यार्थियों के लिए लिखा गया है।" आचाय जी का दूसरा नाटक अमरसिंह है जिसमें राजपूतों के शौर्य का चित्रण किया गया है। इनका छत्रशाल (१९५४) साधारण कोटि का ऐतिहासिक नाटक है। इनका ही 'पगध्वनि' (१९५२) छः अंकोंवाला नाटक है जो गांधी जी के आदर्शों पर आधारित है। इसमें न तो अंकों में परस्पर सम्बन्ध है और न कथानक ही सुगठित है। नाटक में केवल भावना के रेखाचित्र हैं। इस नाटक की भूमि में केवल प्यार की पीड़ा है प्रस्तावना में पूजा है। छठे अंक में प्रतीकवादी पद्धति का

प्रयोग कर नागरिकता, सभ्यता, अहिंसा, राजनीति, पूंजी, सत्य, धर्म, सत्याग्रह आदि को पात्रों के रूप में प्रस्तुत किया है।

मोहन राकेश के एक नाटक की चर्चा इन दिनों काफी हुई है। उसकी प्रशंसा भी हुई तथा पुरस्कार से वह गौरवान्वित भी हुआ है। मंच पर एकाधिकबार (आषाढ़ का एक दिन) (१९५८) अभिनीत भी हुआ है। पर आद्योपांत पढ़ने के पश्चात मुझे इस नाटक से बड़ी निराशा हुई। इसमें ऐतिहासिक तथ्य तो है ही नहीं। इस नाटक में लेखक ने कालिदास की जीवन-झांकी प्रस्तुत करने की कोशिश की है। पर प्रारम्भ से अन्त तक एक भी चरित्र ऐसा नहीं है जो अपने आप में सहज रूप में दिखाई पड़े। कालिदास को कामुक प्रेमी मानकर एक काल्पनिक कथा गढ़ ली गई है जिसका नुस्खा बाजारू और फिल्मी है। पूरे नाटक में कालिदास का कवि रूप कहीं भी उभर कर सामने नहीं आता है। कई बार प्रचार और दनादन प्रचार किसी वस्तु की स्थापना करने में सहायक सिद्ध होता है वरना "बहुत शोर सुनते थे हाथी की दुम का" वाली कहावत यहीं चरितार्थ होती है।

रंगमंचीय कला से पूर्ण परिचित और अँगरेजी तथा भारतीय नाटकों में अभिरुचि रखनेवाले, पारखी और मर्मज्ञ नाटककार डा० जगदीशचन्द्र माथुर ने अपनी सशक्त लेखनी से दो महत्वपूर्ण कृतियों की रचना की है। एक है कोणार्क और दूसरी शारदीया। यदि डा० जगदीशचन्द्र माथुर इस दिशा में सतत लगे रहे तो वे एक बड़े अभाव की पूर्ति कर सकते हैं। कोणार्क हिन्दी के श्रेष्ठतम नाटकों में से है। कोणार्क में स्थापत्य कलाप्रेमी कलाकार विशु के नाटकीय चरित्र पर प्रकाश डाला गया है। जयशंकर प्रसाद की नाट्य कला से एक कदम आगे केवल माथुर की ही कला दीख पड़ती है। शारदीया (१९५९) माथुर जी का दूसरा नाटक है जिसमें राजनीति पटु सैनिक तन्तुवायु की कहानी है। कोणार्क एक नवीन नाट्यशिल्प को लेकर आया है। शारदीया में यह शिल्प और आगे बढ़ा है। ऐतिहासिक तथ्यों की गवेषणा, पात्रों का यथार्थ मनोवैज्ञानिक चित्रण, कथोपकथन में सजीवता, ऐतिहासिक वातावरण का निर्माण, कल्पना और सत्य का सुन्दर समन्वय, घटनाओं का सफल विवरण जितना इन नाटकों में है उतना इस दशक के किसी भी नाटक में नहीं है। शारदीया में मानव प्रेम का

उत्कृष्ट रूप दिखाई देता है। शारदीया के संबन्ध में डाक्टर दशरथ ओझा का मत द्रष्टव्य है "ऐतिहासिक नाटकों में शुद्ध मानवीय प्रेम की ऐसी दिव्य झलक 'प्रसाद' के उपरान्त यहीं देखने को मिलती है। यह नाटक रंगमंच नाटकीय भाषा चरित्र चित्रण, अन्तर्द्वंद्व, रस, नाटकीय कौतूहल संवादों की तीव्रता और क्षिप्रता की दृष्टि से सर्वोत्कृष्ट नाटक प्रतीत होता है। हिन्दू मुसलमानों की सहिष्णुता इसका सन्देश है जो आज भी उपयोगी सिद्ध हो सकता है। हिन्दी के नाटकों के अभाव को जितना इन दो नाटकों ने दूर किया है उतना इस दशक के सब नाटकों ने मिलकर भी नहीं। उक्त दोनों नाटक हिन्दी की स्थाई निधि हैं और हिन्दी साहित्य इन पर गर्व कर सकता है।"

सेठ गोविन्ददास ने हिन्दी के उत्कृष्ट कवियों और साहित्यकारों के जीवनवृत्त के आधार पर भारतेन्दु और रहीम नामक दो नाटकों की रचना की है। भारतेन्दु (१९५५) में लेखक ने भारतेन्दु और उनकी पत्नी मन्नोदेवी के चरित्र का चित्रण बड़े विस्तार से किया है। संवत् १९१२ से लेकर १९४१ तक की घटनाओं का समावेश होने के कारण समय की एकता नहीं रखी जा सकी। लेखक ने पात्रों के चरित्र को मार्मिकता से व्यक्त किया है पर कुछ संवाद दीर्घ अनाटकीय और अस्वाभाविक भी हो गए हैं। रहीम (१९५६) में लेखक ने रहीम के राजनीतिक जीवन के चढ़ाव उतार, उतार के बाद पुनः चढ़ाव और पुनः उतार की घटनाओं का कलात्मक और मर्मस्पर्शी वर्णन किया है। इस नाटक के संवाद भी सरस, सजीव, सशक्त तथा अधिकतर संक्षिप्त हैं।

इस दशक के पौराणिक नाटकों में रांगेय राघव का "स्वर्गभूमि का यात्री", मोहनलाल जिज्ञासु का पर्वदान (१९५२), वी० मुकर्जी गुंजन का शक्तिपूजा (१९५२) लक्ष्मीनारायण मिश्र का चक्रव्यूह (१९५३) जगदीश का प्रादुर्भाव (१९५५) तथा उदयशंकर भट्ट का विद्रोहिणी अम्बा उल्लेखनीय है।

विगत दस वर्षों में जासूसी नाटक भी लिखे गए हैं। इनमें वृन्दावनलाल वर्मा का केवट (१९५२) तथा राजकुमार का काली आकृति (१९५९) है। रहस्य रोमांच की घटनाओं से परिपूर्ण इन नाटकों में और सस्ते किस्म के बाजारू उपन्यासों में विशेष अन्तर नहीं है। श्री वृन्दावनलाल वर्मा ने कई नाटकों की रचना की है। वर्मा जी के अन्य नाटक ललित विक्रम (१९५३) निस्तार, देखादेखी (१९५६) है। वर्माजी यदि हिन्दी

को ऐतिहासिक उपन्यासों से समृद्ध करें तो अधिक उत्तम है। श्री राजकुमार वर्मा का पंचगामी (१९६१) भारत की उत्तरी सीमा पर घटने वाली चीन की विश्वासघात कहानी को केन्द्रित कर लिखा गया है। पर कुल मिलाकर यह नाटक बेजान है।

गुरुदत्त उपन्यासकार और नाटककार दोनों हैं। सन् १९५८ में उनका एक नाटक 'मेरी पसन्द' प्रकाशित हुआ है। गुरुदत्त सफल नाटककार नहीं है। इनकी सबसे बड़ी कमजोरी मनमाने ढग से एक सिद्धान्त विशेष की स्थापना है। नाटक पूर्ण रूप से अस्वाभाविक एव लचर है। इसमें कवि प्रभाकर के चरित्र में न तो रोमांस ही पनप पाता है और न सिद्धान्त ही, एक अनमेल खिचड़ी सी ही है। अभिनय की दृष्टि से भी नाटक में बहुत कमियां हैं। भाषा में छिछलापन है।

विष्णु प्रभाकर का चन्द्रहार (१९५२) प्रेमचन्द के गबन का रूपान्तर होते हुए भी मौलिक-सा ज्ञात होता है। इन्हीं का एक अन्य नाटक है डाक्टर (१९५२) मनोवैज्ञानिक नाटक। इसमें एक नारी के मन के प्रबल संघर्ष का सफल चित्रण है। इसकी कथा एक लेडी डाक्टर के जीवन से सम्बन्धित है जिसे उसका पति अयोग्य समझकर त्याग देता है। नाटक में अन्य कोई विशेषता नहीं है।

दयानाथ झा का कर्मपथ (१९५३) उत्तर बिहार के देहाती समाज के दो वर्गों का संघर्ष प्रस्तुत करता है पर कला की दृष्टि से नाटक अत्यंत साधारण है। अभयकुमार यौधेय का नारी साधना (१९५४) दो अंकों का सामाजिक नाटक है। आकस्मिक घटनाओं के प्रयोग से नाटक की आत्मा विनष्ट हो गई है। चरित्र चित्रण भी कलापूर्ण और मौलिक नहीं है। रघुवीर शरण मित्र का भारत माता (१९५४) राष्ट्रीय स्वतंत्रता के क्रांतिकारी वीरों (चन्द्रशेखर आजाद, भगतसिंह) की साहसपूर्ण घटनाओं को लेकर लिखा गया है। नाटक में कार्य की मात्रा पर्याप्त है। संवाद चुस्त और प्रवाहपूर्ण हैं। ऐसे ही राजनैतिक वातावरण को लेकर लिखा गया नाटक गोआ अभिषेक (१९५५) भी है जिसके लेखक श्री देवदत्त अटल हैं। राष्ट्रीय समस्याओं की ओर हिन्दी का नाटक-लेखक चेतन दृष्टि रखता है यह शुभ लक्षण है। पर सशक्त कलाकार अभी इस ओर नहीं बढ़ रहे हैं।

उपेन्द्रनाथ 'अश्क' प्रमुख रूप से एकांकीकार हैं पर कुछ पूर्ण नाटक इन्होंने भी

लिखे हैं। इनमें अंजो दीदी विशेष उल्लेखनीय है। इसमें नियमबद्ध जीवन को सनक बनाने वाले चरित्र का मखौल उड़ाया गया है। अश्क के बड़े नाटकों पर कवि सुलभ सांकेतिकता एक झीने बादल की तरह आवृत्त रहती है। उसकी तह में उनकी नियंत्रित भावुकता और सौन्दर्यदृष्टि है। उनका कैद' नामक नाटक इस टेकनीक का सुन्दर नमूना है।

नवीन नाटककारों में रमेश मेहता ने रंगमंच के उपयुक्त कई नाटक लिखे है। ये नाटक अधिकतर हास्य व्यग से परिपूर्ण हैं। इसमें 'उलझन', 'फैसला', दामाद तथा रोटी और बेटी हैं। रमेश मेहता के नाटकों पर पारसी नाटकों का पूर्ण प्रभाव दिखाई देता है, 'उलझन' हास्य पूर्ण नाटक है जिसमें क्वांरे पुरुष को मकान किराये पर मिलने की समस्या है। नाटक का उद्देश्य मनोरंजन ही है और इसमें कहीं कहीं अश्लीलता भी आगई है। फैसला करुणा प्रधान है यद्यपि हास्य का समावेश भी उसमें है। इसमें विधवा पर घर के लोगों के अत्याचार का वर्णन है। इसके पात्रों में बिहारी सज्जनता का प्रतीक है पर उसे पागल बना दिया गया है। सुरेश और शोभा नई सभ्यता के प्रतीक हैं। 'दामाद' शुद्ध हास्यप्रधान नाटक है। इसमें एक पुलिस इन्सपेक्टर का चित्रण है जो शराबी होने पर भी मित्र के लिए अनुपम त्याग करता है। रोटी और बेटी रमेश मेहता का नया नाटक है जो अछूतोद्धार की समस्या को लेकर लिखा गया है। कथावस्तु बड़ी सजीव और यथार्थ है। लेखक के अनुसार— "हरिजन हमारे देश का राष्ट्रपति बन सकता है — पर भीतर ही भीतर एक बहुत बड़े समाज के साथ रोटी और बेटी का व्यवहार नहीं कर सकता है।" इसमें पात्रों का चरित्र चित्रण बड़ा स्वाभाविक और मनोवैज्ञानिक है। रमेश मेहता के व्यग बड़े चुटीले, दमदार तथा पैने होते हैं। इसी नाटक में लीडर बनने का नुस्खा देखिए—' मस्तराम झूठ की जड़ एक सेर। रविदास— बेईमानी के बीज दो सेर। मस्तराम— बदनीति का बनप्सा तीन सेर और मक्कारी का मुनक्का एक धड़ी। रवि०— ठीक है कुल वजन हो गया ग्यारह सेर। मस्तराम— इन सब चीजों को खारबाजी की खरल में रगड़कर पार्टीबाजी की पोटली में बांधलो। रवि०— अच्छा बांध दिया। म० अब पत्ते बाजी के पानी में भिगो दो। रवि०— भिगो दिया। म०— फिर एय्यारी की हांडी में डाल चालबाजी के चूल्हे पे चढ़ादो। रवि०— समझ लिया है। उसके बाद क्या करना है। म०— जब जोशा तैयार हो जावे, तो छल कपट की छाननी में छान लो। रवि०— छान लिया। म०— अब बेशरमी के बेदमुश्क के साथ एक महीने में चार सौ बीस

बार सेवन करो । छः महीने के भीतर लोडरी चमक उठेगी । आदि । रमेश मेहता के नाटक मच पर सफलता से खेले गए हैं ।

रामनरेश त्रिपाठी का "पैसा परमेश्वर" (१९५२) कला की दृष्टि से मंजा हुआ न होने पर कथा-वस्तु की दृष्टि से अधिक महत्वपूर्ण है । इस युग में समस्त मान्यताओं को अपदस्थ कर पैसा सब के ऊपर चढ़ बैठा है इसी सत्य का उद्घाटन लेखक ने किया है । इसके नायक एक अजनबी जी हैं जो भारत के हर तबके, हर फिरके के साथ सम्पर्क साधकर तत्य संकलन करते हैं । उन्हें मजदूर, नेता, महन्त, वकील, कथावाचक, गांव का स्कूल, ग्रेजुएट, सम्पादक, प्रकाशक, पण्डित जी, कवि-सम्मेलन, चप्पल की दुकान, मत्री आदि से एक ही निष्कर्ष प्राप्त होता है कि पैसा सबसे बड़ा परमेश्वर होता है । आज की सभ्यता पैसे की छीना-झपटी का सुसंस्कृत रूप है और शिष्टाचार, विनय, नम्रता मधुर वाक्य, विलास ये सब पैसे की रूक्षता को कम करने के लेप हैं । इस सभ्यता में दया और सहानुभूति के भाव बदला पाने की नीयत से प्रगट किए जाते हैं आत्मा की स्वाभाविक प्रेरणा से नहीं । सेठ, डाक्टर, वकील, शिक्षक, लेखक, सम्पादक, साधु, सन्त सभी पैसे के अवतार हैं । साम्यवाद, समाजवाद, निरीश्वरवाद, समानाधिकार, सत्कार और पार्टियां आदि सब पैसे के ही कच्चे बच्चे हैं । नाटक में गांधी जी के दो वाक्य प्रेरणा के स्रोत हैं — (१) "सत्य को भय में लपेट कर आगे मत करो हार जायगा ।" (२) 'पाप को उजाले में रख दो छिप जायगा अँधेरे में रक्खोगे तो पनपेगा । नाटक की कथावस्तु इस दृष्टि से सशक्त है । नाटक अधिकतर संवादमय है पर विचार करने के लिए कुछ नहीं है । लेखक के अपने निष्कर्ष महत्वपूर्ण हैं । यथा— "सेठ पैरों में इत्र इसलिए लगवाते हैं कि गरीब मत्था टेकते समय सुगंध का आनन्द ले लें ।" कथा सुनते समय लोग सट्टे बाजार और माल की चर्चा अधिक करते हैं । शिक्षा Negative हो गई है ।" "ग्रेजुएट कमराजीवी हो गया है" आदि । अजनबी को गांव अभी भी शुद्ध मिलता है शहर पर तो पैसा हावी हो गया है । कथा-वस्तु की इतनी विराटता लिए हुए दूसरा नाटक हिन्दी में नहीं है । प्राचीन विचारों का प्रतिपादन खटकनेवाला अवश्य है पर फिर भी प्रयोग की दृष्टि से नाटक उत्तम है ।

हास्य व्यंग के नाटक लेखकों में चिरंजीत का अपना अलग स्थान है । दादी माँ जागी (१९५३) में इनके पांच नाटक हैं । १. दादी माँ जागी २. खजाने का सांप ३. अल-

बारी विज्ञापन ४. साथ वाला मकान ५. सड़क पर। दादी माँ जागी में परिस्थितियों के परिवर्तन से हास्य की सृष्टि की गई है। दादी माँ २५ वर्षों तक सोने के पश्चात जागती है तब तक उसके घर में नये युग का प्रवेश हो चुका है। पुराने दकियानूसी विचारों का अन्त हो गया है। दादी माँ प्राचीन की प्रतीक है, सन्तति नवीन की। दोनों का संघर्ष रोचक और हास्यपूर्ण है। 'खजाने का साँप' का वातावरण और भी हास्यपूर्ण है। इसमें उस विश्वास पर कुठाराघात किया गया है जिसके अनुसार किसी चलते-फिरते ज्योतिषी के कथन पर मनुष्य विश्वास कर लेता है। 'अखबारी विज्ञापन' एक टाइपिस्ट और उसकी अविश्वासी पत्नी की रोचक कथा है। इसमें 'विज्ञापन' भ्रांति पैदा करना है। विज्ञापन दिया गया है नौकरी के लिए पर पत्नी समझती है शादी के लिए। अंत में पत्र का सम्पादक आकर कहता है मैंने गलत नम्बर आपको दे दिया है। तब कहीं जाकर निराकरण होता है। साथ वाला मकान एक कैप्टन के विचारों का संघर्ष प्रस्तुत करता है। चिरंजीत के संवाद प्रभावोत्पादक है और कला की दृष्टि से नाटक उत्तम है। यदि चिरंजीत जी हिन्दी को और नाटक दे सकें तो इस क्षेत्र में नई संभावनाएँ पैदा हो सकती हैं।

विनोद रस्तोगी द्वारा लिखित नए हाथ प्राचीन और नवीन मान्यताओं का संघर्ष उपस्थित करता है। नाटक मंच को ध्यान में रख कर लिखा गया है।

नवीनता की झोंक में प्रतीकात्मक नाटकों का प्रणयन भी हिंदी में हो रहा है। इनमें लक्ष्मीनारायणलाल के नाटक विशेष उल्लेखनीय है। 'मादा कैक्टस' की प्रतीक व्यंजना अत्यन्त सघन, गभीर एवं मार्मिक है. इसमें क्रमबद्ध घटनाओं का अभाव है। केवल कैक्टस को केन्द्र में रखकर इसके परिपोषक अरविन्द के चतुर्दिक एक अल्प सी घटना घटित होती है। अरविन्द पुराने मारल वेल्यूज़ को ठीकरा समझता है और प्राचीन सोशल स्ट्रक्चर का आमूल परिवर्तन चाहता है। वह परम्परा को अन्धविश्वास कहता है। नवयुग की प्रतीक आनंद यूनिवर्सिटी में लेक्चरर तथा चित्रकला एवं संगीतकला की पुजारिन है किन्तु स्वभाव से बड़ी मनस्विनी है। उसका लक्ष्य है अरविन्द के साथ विवाह से ऊपर उठकर सच्चे दोस्त के समान रहना। प्रतीकात्मक नाटकों की परम्परा पुरानी ही है। पर इस युग में जो प्रतीकात्मक नाटक लिखे जा रहे हैं वे सीधे पश्चिम से प्रभावित हैं। सामान्य पुरुष के लिए इन प्रतीकों को समझना भी कठिन है। अतएव इस प्रकार के नाटकों की

सीमा पढ़े-लिखे लोगों तक और विशेष रूप से अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोगों तक ही रहेगी। वर्तमान युग के अधिकांश नाटककार विभिन्न विश्वविद्यालयों से सम्बद्ध हैं अतएव उन पर पाश्चात्य प्रभाव भी अत्यधिक मात्रा में पड़ा है जैसे फ्रायड, एडलर, जुंग के मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों, मार्क्स के द्वंद्वात्मक भौतिकवाद, इतिहास की अर्थमूलक व्याख्या और मोलियर, गेटे, लेसिंग, शा, इब्सन स्ट्रण्डबर्ग, गोगल, टालस्टाय, चेखव, गोर्की, मेटरलिंक आदि का (पृष्ठ ३८४) इसी दृष्टि से मादा केक्टस समझना भी एक वर्ग तक ही सीमित है। नाटक लेखक स्वयं इस ओर सशंकित हैं। भूमिका में इस ओर ध्यान देते हुए आप लिखते हैं—"भविष्य में इसके मंच रूप के प्रति मुझे अत्यधिक आस्था है जो किसी उदबुद्ध निर्देशक की संवेद्यकला से यह अपना वास्तविक सृजन पाएगा— ऐसा निर्देशक जो यह जानेगा कि मादा केक्टस पहेली के रूप में क्यों लिखा गया है। ...... बात टेढ़ी थी इसीलिए तभी इसमें प्रतीकों का सहारा लेना पड़ा। संगीत से लेकर कार्यों तक, घटनाओं से पात्रों तक, नीलाम के बाजे से अनाथालय के बच्चों के गीत तक, मादा केक्टस से मुर्गाबी चिड़िया तक...... ।' प्रतीकों के सम्बन्ध में लेखक के विचार इस प्रकार हैं— "प्रतीक की अपनी कोई अलग भाषा नहीं होती, प्रतीक तो स्वयं लेखक की प्रकृत भाषा और सहज बोल हैं— ऐसी भाषा, जो हम नित्य प्रति के जीवन में बोलते हैं। चेतन अचेतन रूप से जिन्हें हम संप्रेषणीयता और बोधतत्व के माध्यम बनाते हैं। इस तरह के प्रतीक हमारी अभिव्यक्ति के जीवन्त आधार हैं— अतः हमारे व्यक्तित्व के अंग हैं, जैसे स्वप्न अंग हैं। और नाटक में प्रतीक का धर्म केवल यह है कि समवेद्य बात को तथ्य को शब्दों की अपेक्षा कहीं अधिक सीधे और शक्तिशाली ढंग तथा सुन्दर रूप से प्रस्तुत कर सकता है। इस तरह मादा केक्टस का प्रतीक, प्रतीक योजना के फैशन के लिए नहीं है— प्रतीक महज प्रतीक के लिए— इसे मैं खोखली बेमानी धाक जमाने की बात मानता हूँ।" इस स्पष्टोक्ति के बावजूद भी प्रतीक की समस्या सुलझती नहीं प्रतीत होती है। प्रतीक यदि इसी धरती की उपज हो तो भी ठीक है किन्तु बाहर से उधार ली हुई सामग्री उतनी अधिक चेतना प्रदान करनेवाली कभी नहीं हो सकती जितनी अपनी धरती के उरस से फूटी हुई सामग्री। मादा केक्टस किस वस्तु का प्रतीक है इस पहेली को बुझाने के लिए प्रयास की आवश्यकता है गोया बुद्धि-परीक्षा है। यह मानव की 'जिजीविषा' भी हो सकती है जो कठिनाइयों के बीच और पनपती है। पर एक स्थिति ऐसी भी आती है जब यह वृत्ति समाप्त हो जाती है। आनन्दा के फेफड़ों

का एक्सरे इसी बात को स्पष्ट कर देता है। केवल उपयोगिता-मात्र को चाहने वाला नए युग का प्रतीक है। सुजाता पहले तो सौन्दर्य की प्रतीक है पर बाद में परित्यक्ता हो जाने पर अर्थात् केवल उपयोगिता मात्र के अभ्यर्थी, आधुनिकता के प्रतीक अरविन्द के अभाव में परित्यक्ता बनने पर अध्ययन करके वह ज्ञान समन्वित सौन्दर्य की प्रतीक बन जाती है। मादा कैक्टस नए युग का मूल्य कही जा सकती है और आनंदा नए मूल्यानुसार जीवन बिताने की इच्छा रखने वाली, सन्तान को अपने मार्ग में बाधक समझनेवाली नवयुग की प्रतिच्छाया। ददा पुराने युग का प्रतिरूप है। उसका विवाह मिस खान से होता है जो सांसारिक सुख या आदर्श रहित भौतिक सुख मात्र की आकांक्षिणी है।

"सुजाता प्रतीक है कला की सुन्दरता का। जब अरविन्द अर्थात् नया युग आनंदा अर्थात् उपयोगिता के वश में होकर पारिवारिक स्नेह, दया, ममता, माया आदि को त्याग देती है तो सुजाता अर्थात् कलागत सुन्दरता के द्वारा दिवाकर अर्थात् शक्ति से नाता जोड़ लेती है। उस दशा में मादा केक्टस—नवयुग का मूल्य—सूख जाता है अर्थात् समाप्त हो जाता है। आनंदा के दोनों फेफड़ों का एक्सरे करना मानों उपयोगिता के दोनों पक्षों की अन्तंपरीक्षा है। अरविन्द का आनंद को पुकारते हुए गिरना, नए मूल्यों पर आधारित कलाकृति का मूर्छित होना है। सुधीर का मुर्गाबी आदि कोमल पक्षियों को मारने वाली बन्दूक को फेंक देना अपने भौतिक सुख-मात्र में केन्द्रित प्रवृत्ति का परित्याग कर उदार वृत्ति धारण करना है।

इसमें तीन कोटि के जीवन की अभिव्यक्ति है। एक कोटि में मिस खान हैं, जिनका लक्ष्य एक मात्र सुख विहार है, जिन्हें किसी कलाकृति से कोई नाता नहीं जो अल्हड़ यौवन बिताते हुए निश्चिन्तता पूर्वक जीवन यापन कर लेने के पक्ष में है। वे इस सिद्धांत का प्रतिपादन करते हैं कि कोमल वृत्तियों को जीवित रखकर परिपुष्ट करने की कोई आवश्यकता नहीं! यदि उनके हनन से हम भौतिक जीवन को सुखी बना सकते हैं तो उनकी हत्या में कोई दोष नहीं है। ये उनके प्रारंभिक विचार थे। जब ये पुष्ट होने लगते हैं तो हत्याकारी बन्दूक फेंक देते हैं। अर्थात् विचारों की परिपुष्टता के बाद भौतिकवादी को भी क्रूरता, निर्दयता का त्याग करना पड़ता है।

दूसरा वर्ग जीवन के भौतिक सुख के साथ साथ कलाकृति के निर्माण के भी

पक्ष में है। अरविन्द और आनंद का सह धर्मा होना इस बात का सूचक है कि कलाकृतिकार अपनी कला में सहायता करने वाली उपयोगिता को ही अपनी चिर संगिनी बनाना चाहता है। वह वैवाहिक जीवन को बन्धन समझकर उन्मुक्त प्रेम का अभिलाषी है, वह परम्परागत सुन्दरता के साथ गठबन्धन करने को तैयार नहीं। अतः अपनी धर्मपत्नी सुजाता का परित्याग करता है। किन्तु अन्त में अपने कृत्यों पर पश्चाताप करते हुए मूर्छित हो जाता है। तात्पर्य यह है कि परम्परा गत सुन्दरता का परित्याग कर तात्कालिक उपयोगिता के साथ विचरण करने वाला चिरकाल तक सशक्त नहीं रह सकता, उसकी कृतियाँ शाश्वत एवं चिरस्थायी नहीं बन सकती।

"परित्यक्ता सुजाता की अध्येता रूप में तपस्या और दिवाकर से पुनः गठ बन्धन इस तथ्य का प्रतीक है कि स्थायी कला सृष्टि, परम्परागत सुन्दरता का गठबन्धन दिव्य शक्ति समन्वित होने पर ही संभव है।" (दशरथ ओझा)

'अन्धा कुआ' आधुनिक समाज की समस्याओं से भ्रान्त मानव की मानसिक द्विविधा, अस्थिरता आदि के स्पष्टीकरण एवं विश्लेषण की नवीन चेतना से प्रभावित एक महत्व पूर्ण प्रयत्न है।

डा० लक्ष्मीनारायण लाल के अन्य प्रतीकात्मक नाटक 'सुन्दर रस' और 'सूखा सरोवर' है। 'सूखा सरोवर' में सरोवर जीवन का और जल जीवन के सरोवर का जल जीवन के स्वास्थ का प्रतीक है। आधुनिक आडम्बरपूर्ण प्रणयादि का प्रतीक है राजकुमारी की आत्महत्या जिसके कारण जीवन की रसमयता समाप्त हो जाती है। 'सुन्दर रस' में यह दिखाने का प्रयत्न किया गया है कि किस प्रकार आज का मानव सौन्दर्य की मिथ्या भ्रांति में पड़कर अपनी नैसर्गिक सौन्दर्य गरिमा को दूर छोड़ देता है। सुन्दर रस की प्रतीक व्यंजना मादा कैक्टस के समान प्रभावशाली नहीं बन पाई है।

सब चलता है' सुदर्शन बब्बर कृत त्रिअंकीय नाटक है जिसमें स्वच्छ प्रेम विवाह प्रतिपादन किया गया है। 'डूबते तारे' में मगल कवि के स्वाभिमान और धनी लड़की चन्द्रा की यौन विकृतियों का संघर्ष दिखला गया है। नाटककार को मनोभावों के चित्रण में पर्याप्त सफलता नहीं मिली।

इस दशक का, प्रयोग की दृष्टि से, 'तीन आँखों वाली मछली', लक्ष्मीनारायण लाल

का प्रथम अस्तित्ववादी नाटक (और शायद हिन्दी का भी प्रथम) कहा जा सकता है। मछली इस नाटक में मनु' की जिजीविषा की प्रतीक है। इसके लिए लेखक ने भूमिका में स्पष्ट संकेत कर दिया है। यथा—"मैंने यह भी जाना कि हमारे रंगमंच की नाट्य, सामग्री को जीवनमय, रसमय बनाने के लिए हमारे सांस्कृतिक जीवन की गाथाएँ कितनी महत्वपूर्ण हैं। इससे केवल यथार्थ का दर्शन ही नहीं मिलता वरन् वह हमारे जीवन में इस तरह उठता है कि हम उसकी डोर पकड़कर जीवन में गतिमान हो जाते हैं। जो मृत्यु एडवोकेट श्याम बिहारी दास के लिए प्रथम अंक में भय है, त्रास देती है, वही मृत्यु आगे संघर्ष है, और उत्तरोत्तर वही मृत्यु उन्हें मुक्तिदायक अनुभूति देती है—जैसे पुराण की गाथा की वह छोटी सी मछली एक जीवन को छोड़ती हुई, उससे आत्म विकास करती हुई, मुक्ति के अंधकार से चलकर मुक्तिमय, गहन प्रशान्त सागर में पहुँच जाती है। इस गाथा अनुरंजन से नाटक में यथार्थ जीवन से प्राप्त वह घटना, वह विशेष चरित्र जो पहले इतने असामान्य और नाटकीय लगते थे, उन सबको जैसे अपनी सनातन-सहज भूमि मिलगई। यह नाटक स्वतः "ज्योतिषी" से चलकर तीन आँखों वाली मछली की संज्ञा को प्राप्त हुआ है, जिसमें भविष्य के विकास की सारी निष्ठा छिपी है और उस सन्दर्भ में मछली की तीसरी आँख कमल-नयन से मिली है जिसमें उस अदृश्य मछली से अपने पिता का साक्षात्कार कराया है।"

पश्चिमी जगत में जिन वादों का प्रचलन होता है वे बासी होकर हमारे यहां आते हैं। उनकी नकल पर साहित्य की रचना किसी भी प्रकार से समीचीन नहीं हो सकती है।

हिन्दी के नाट्य साहित्य को समृद्ध करने लिए अन्य प्रतिभाएं भी गतिशील हैं जिनमें शम्भूनाथ सिंह, अभयकुमार यौध्य, रैना आदि हैं। हिन्दी का नवीन नाट्य साहित्य पश्चिम से अधिक प्रभावित है। जिसके कारण उसकी आत्मा ही अनजानी हो गई है। इसी कारण ऐसे नाटक मंच पर भी सफल नहीं हो सकते हैं। बाबू जयशंकर प्रसाद के नाटकों पर भी पश्चिम के नाट्य कला का प्रभाव पड़ा है। पर प्रसाद की भूमि भारतीय होने से उनके नाटक पराए नहीं प्रतीत होते हैं। वे इस देश की, मिट्टी की रचनाएं हैं। हमारे यहां के नाटककारों को, फ्रायड, एडलर, जुंग, के मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद, इतिहास की अर्थ मूलक व्याख्या और मोलियर, बूयूइ, गेटे,

लेसिग, शॉ, स्ट्रिण्डवर्ग, गोगा। टालस्टाय, चेखव, गोर्की, मेटरलिक, यूजीन ओ नील, काकपैन, पेरेन्देलो, लोर्का, क्लाउदेल, एनाडल, सार्त्रे, विलियम्स, चार्ल्स मारगन, ग्रेहम-ग्रीन, क्रिस्टोफरकाई, टी. एस. ईलियट, जीन काकतो, आदि नाटककारों ने बहुत प्रभावित किया है। आधुनिक नाटकों में संगीत का प्रयोग भी नहीं या अत्यधिक अल्प मात्रा में होता है। टेकनीक में भी परिवर्तन हुआ है।

इस दशक के नाटकों के अध्ययन करने पर निम्नलिखित निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं—

१. नाटक पश्चिम के प्रभाव से अधिकाधिक ग्रस्त होते जा रहे हैं जिसके कारण नाटक दुरूह एवं अस्वाभाविक होते जा रहे हैं।

२. नाटकों के लिए हिन्दी में अभी भी रंगमंच का अभाव ही है अतएव कुछ नाटककार "फिल्मी फार्मूलों" पर नाटक लिखने लगे हैं।

३. नाटकों की शैली आदि में पश्चिम के प्रभाव से बड़ा परिवर्तन होता जा रहा है।

४. नाटकों की रचना प्रचुर मात्रा में हुई है जिनमें जासूसी से लगाकर अस्तित्व-वादी नाटक तक हैं किन्तु श्रेष्ठ नाटकों का अभाव अभी बना हुआ है।

५. पौराणिक ऐतिहासिक नाटकों को रचना सर्वाधिक रही है किन्तु हिन्दी का ऐतिहासिक नाटक 'प्रसाद' से आगे अभी तक नहीं जा पाया है।

६. नाटकों की कथावस्तु में विविधता दृष्टिगोचर होती है।

७. हास्य और व्यंग प्रधान नाटकों की रचना अभी भी पर्याप्त मात्रा में नहीं हो रही है।

८. नवीनता का मोह 'नाटककारों के सिर पर चढ़कर बोल रहा है अतएव अस्वाभाविक और विभिन्न विभिन्न प्रयोग होने लगे हैं। भाषा गत प्रयोग के लिए नरेश मेहता का 'सुबह के घटे' देखा जा सकता है।

९. अभी भी हिन्दी का 'नाट्य शिल्प' प्रौढ़ता को प्राप्त नहीं कर पाया है अतएव साहित्य के विभिन्न रूपों में जहां प्रभावशाली रचनाएं दिखलाई

देती है वहां नाटक क्षेत्र शून्य है।

१०. हिन्दी में रंगमंच के अभाव का तो अनुभव हो रहा है किन्तु उस ओर कोई दृढ़ प्रयत्न नहीं किया जा रहा है।

११. यदि नाटक साहित्य की यही दशा रही तो हिन्दी के इस क्षेत्र का भविष्य शुभ नहीं प्रतीत होता है।

"नाटक साहित्य में मानव की आत्माभिव्यक्ति के साथ ही उसके व्यक्तित्व के प्रति होने वाली प्रतिक्रियाओं की भी छाया रहती है जिस संसार में रह कर उस पर आघात हुए हों"।

—'सप्तसिन्धु' से साभार

× × ×

"नयी टेकनीक में नाटक लिखने का जोश सही है। मगर छपे हुए विलायती नाटकों की नकल में अनाप-शनाप हाथ मारना बहुत बेतुका है। बहुत से नाटककार योरप-अमेरिका के सुसम्पन्न रंगमंचों के लिए लिखे गए नाटकों की नकल कर हिन्दी के अविकसित रंगमंच को गालियां देते हैं।"

—'वातायन' एकांकी विशेषांक

रामप्रीत उपाध्याय

दर्शक और एकांकी

प्रगति प्रकृति का शाश्वत नियम है। प्रकृति के जितने भी चर अचर प्राणी हैं—सभी प्रगति के प्रशस्त पथ पर प्रगतिशील होते हुए अपनी मंजिल पर अल्प से अल्प समय में पहुँचने का प्रयास करते हैं। समय के अन्तराल में यही प्रवृत्ति काम करती है। समय के धरातल पर अनेक प्राणी आये, बसे और चले गये पर समय की गति क्षण भर के लिये भी अवरुद्ध नहीं हुई और निरतर सर्जना का चक्र धारण कर अविरल गति से गतिशील होती रही तथा मनुष्य मात्र को कम से कम समय में अधिक से अधिक आनन्द के उपभोग की शिक्षा देती रही। मानव अपने बढ़ते हुए कदमों के साथ ज्ञान-विज्ञान के इस युग में आया और उस शिक्षा का व्यवहार अपने दैनिक जीवन में करने लगा। अल्प समय में अधिकतम लाभ उठाने की प्रवृत्ति ने ही एकांकी को जन्म दिया। नाटक में तीन चार घण्टे का समय लग जाता था। भला इस संघर्षशील युग में मनुष्य को इतना अवकाश कहां कि वह इतना लम्बा समय एक स्थल पर बैठकर व्यतीत करे। अतः उसने एकांकी नाटक का निर्माण किया और कम से कम समय में अधिकतम लाभ उठाने लगा। एकांकी नाटक इसी मनोवृत्ति का सफल सुन्दर परिणाम है।

एकांकी एक अंक का नाटक होता है तथा उसमें जीवन के किसी एक भाव, एक विचार अथवा किसी एक घटना का वर्णन होता है। वह जीवन के एक पहलू का चित्र

है। उसमें एक निश्चित लक्ष्य होता है और यह ज्यों ही पूरा होता है, नाटक भी समाप्त हो जाता है। कम से कम समय में जीवन के किसी अनमोल क्षण का उद्घाटन कर देना ही प्रत्येक एकांकी का उद्देश्य होता है। इस सम्बन्ध में प्रो० रामगोपालसिंह के विचार द्रष्टव्य हैं— "एकांकी एक अंक का ही नाटक होता है जिसमें एकांकीकार एक ही घटना को नाटकीय लाघव से, उसमें औत्सुक्य, सम्भ्रम और विस्मय का सृजन कर उसे चरम सीमा तक विकसित करता है और नाटकीय विस्मय के साथ उसका इस रूप में अन्त करता है कि एकांकी की समस्त घटनाएं और कथा तथा उसके पात्र दर्शक या पाठक के मन प्राण और भावना के संगी बनकर सांकेतिक रूप से उसके मनोभावों का विषय बन जाते हैं और उसमें विचारों और भावों की अदम्य उत्तेजना उत्पन्न कर देते हैं तथा दर्शक या पाठक के मानसिक स्नायुओं में गुदगुदी उत्पन्न कर उसका मनोरंजन करते है या उसे झकझोर कर उसके मर्म को स्पर्श कर उसमें कुछ करने का दृढ़ संकल्प उत्पन्न कर देते हैं।" इस तरह हम देखते हैं कि एकांकी में एक अंक, एक घटना, एक कार्य और एक समस्या होती है जिसका निर्वाह एकांकीकार अपने मनोबल के आधार पर करता है। इसकी शैली में एक प्रकार की सक्षिप्तता एव गतिशीलता होती है। कथोपकथन इसका प्राण होता है।

एकांकी में पात्र बहुत कम होते हैं। कारण अधिक पात्रों के रहने से नाटककार पात्रों के चारित्रिक विकास को दिखलाने में असमर्थ हो जाता है। जिस पात्र में जितना ही अन्तर्द्वन्द्व होता है वह पात्र उतना ही निखरता है। प्रत्येक एकांकी में नायक, नायिका, खलनायक और गौण पात्र होते हैं जो एकांकी के विकास में योग देते हैं। कथोपकथन एकांकी का प्राण होता है। कथोपकथन के द्वारा ही पात्रों को चारित्रिक विशेषताओं पर प्रकाश डाला जाता है और परिस्थितियों की सूचना दी जाती है। अनावश्यक कथोपकथन से एकांकी का विकास रुक जाता है। लम्बे-लम्बे कथोपकथन, अधिक उपदेशात्मक भाषण मन को उबा देते हैं। अतः कथोपकथन सूक्ष्म और प्रभावपूर्ण होने चाहिये। कथोपकथन में यथार्थ एवं आदर्श का समन्वय होना चाहिये।

संकलनत्रय का अर्थ है कार्य, काल और स्थान की एकता। अगर यह एकता नहीं है तो एकांकी केवल कौतूहल मात्र रह जायेगा। इस विषय में डा० रामकुमार वर्मा

का मत द्रष्टव्य है। 'एकांकी ही एक ऐसी रूपक रचना है जिसमें संकलनत्रय का विधान अनिवार्य रूप से आवश्यक है। एक सम्पूर्ण कार्य एक ही स्थान और एक ही समय में घटित होना चाहिये। इस शैली में संकलनत्रय का विधान है जो एकांकी कला के लिये आवश्यक ही नहीं अनिवार्य भी है।

एकांकी नाटक का अन्त सुखान्त, दुखान्त या दोनों का मिश्रण भी हो सकता है। इसका कथानक चरम सीमा की ओर अग्रसर होता है और ज्यों ही उसका लक्ष्य पूरा होता है त्यों ही इसका कथानक समाप्त हो जाता है। हर रचना के पीछे कोई न कोई उद्देश्य होता है। एकांकी भी इसका अपवाद नहीं। एकांकी भी वाद से अछूता नहीं रह पाया है। कुछ यथार्थवादी होते हैं तो कुछ आदर्शवादी। इतना ही नहीं कुछ एकांकीकारों ने आदर्शोन्मुख यथार्थवाद के आधार पर भी रूपकों का निर्माण किया है। कवि या कलाकार सब की उपेक्षा कर सकते हैं पर समय की गति की उपेक्षा नहीं कर सकते।

हिन्दी के आधुनिक एकांकियों पर पाश्चात्य नाटकों तथा कलाकारों का प्रभाव स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है। इन एकांकियों में इब्सन और बर्नडशा की छाया परिलक्षित होती है। पर इसको हम अनुकरण नहीं कह सकते क्योंकि हमारे एकांकियों में भारतीय एवं विदेशी दोनों के गुणों का समावेश मिलता है।

रूप गुण एवं आकार की दृष्टि से एकांकी, नाटक से भिन्न होता है। नाटक अगर फूलों का गुलदस्ता है तो एकांकी उसका एक मनोरम फूल जिसका अपना एक स्वतन्त्र अस्तित्व होता है। एकांकी एक अंक, एक घटना, एक समय और एक उद्देश्य की सीमा में बंधकर भी अपने विशिष्ट गुणों द्वारा पाठकों एवं दर्शकों को अपनी ओर आकर्षित कर लेता है। डा० रामकुमार वर्मा ने 'पृथ्वीराज की आंखें' नामक एकांकी संग्रह में एकांकी की व्याख्या इस प्रकार की है— "एकांकी नाटकों में अन्य प्रकार के नाटकों से कुछ विशेषता होती है। उसमें एक ही घटना होती है और वह घटना नाटकीय कौतूहल से कौतूहल का संचय करते हुए चरम सीमा तक पहुँचती है। उसमें कोई अप्रधान प्रसंग नहीं रहता। विस्तार के अभाव में प्रत्येक घटना कली की भांति खिलकर पुष्प की भाँति विकसित हो उठती है, उसमें लता की भांति फैलने की विश्रृंखलता नहीं।"

कुछ भारतीय विद्वान पश्चिमी विद्वानों के अनुकरण पर एकांकी में संकलनत्रय

(Three Unities) की अनिवार्यता पर जोर देते हैं— स्थल की एकता, काल की एकता और कार्य की एकता, पर मेरी राय में यह आवश्यक नहीं है। ये सारी बातें विद्वान लेखक पर निर्भर करती हैं। वह अपनी रुचि के अनुसार किसी को अंगीकार कर सकता है और किसी को छोड़ भी सकता है। उसके बाद भी उसका एकांकी विशृंखल नहीं होता, वरन् सुसंगठित रह कर लक्ष्य की प्राप्ति करता है। विषय के आधार पर एकांकी के निम्न लिखित वर्गीकरण हो सकते हैं—

१. कथानक प्रधान — इस प्रकार के नाटकों में नाटककार का प्रधान उद्देश्य किसी कथा पर प्रकाश डालना होता है। वह किसी छिपी हुई विशिष्ट कथा को लोगों के सामने स्पष्ट कर देता है। श्री उपेन्द्रनाथ 'अश्क' का लक्ष्मी का स्वागत', श्री हरिकृष्ण प्रेमी का 'मानमन्दिर' और डा० रामकुमार वर्मा का 'राजरानी सीता' कथानक प्रधान एकांकी नाटक है।

२. चरित्र प्रधान एकांकी— ऐसे नाटकों में नाटककार का मुख्य उद्देश्य पात्रों की चारित्रिक विशेषताओं का दिग्दर्शन कराना होता है। इसमें उसके द्वन्दों का स्पष्टीकरण होता है। चरित्र प्रधान एकांकी श्रेष्ठ माने जाते हैं। सेठ गोविन्ददास का कंगाल नहीं' और विष्णु प्रभाकर का 'मां बाप' चरित्र प्रधान एकांकी हैं।

३. व्यंग अथवा हास्य प्रधान एकांकी नाटक— ऐसे नाटकों में एक विशेष प्रकार का व्यंग और हास्य रहता है। नाटककार अपने सिद्धान्त के प्रतिपादन के लिये किसी के भी प्रति व्यंग कर सकता है। कभी कभी व्यंग और हास्य के द्वारा किसी छिपी हुई घटना एवं तथ्य पर विशेषरूप से प्रकाश पड़ जाता है। सेठ गोविन्ददास कृत 'कंगाल' और श्रीअश्क कृत 'लक्ष्मी का स्वागत' इसी कोटि में आते हैं। हास्य प्रधान एकांकी नाटकों में इस प्रकार का तीखा व्यंग न होकर उच्चकोटि का व्यंग निहित रहता है। श्री उदय-शकर भट्ट कृत 'बीमार का इलाज' इसी कोटि का है। हिन्दी साहित्य जगत में ऐसे नाटकों की कमी है।

४. समस्या प्रधान नाटकों में किसी समस्या को प्रस्तुत करके लेखक उसके समाधान की चेष्टा भी करता है। श्री भगवती चरण वर्मा कृत 'मैं और केवल मैं' एक

समस्या प्रधान एकांकी है। समस्या प्रधान एकांकी में किसी समस्या का उद्घाटन, निर्वाह और निदान होता है।

५. ऐतिहासिक, सामाजिक और राजनैतिक एकांकियों में इतिहास, समाज और राजनीति की अधिक चर्चा रहती है। एक चरित्र प्रधान एकांकी ऐतिहासिक सामाजिक और राजनैतिक तीनों हो सकता है। इस प्रकार एकांकी के अनेक भेद विभेद हो सकते हैं। जैसे—भाव प्रधान, कल्पना प्रधान, अनुभूति प्रधान। ऐसे एकांकियों में नाट्यकार की अपनी अनुभूतियों की अधिक झलक मिलती है।

अतः भारतेन्दु युग के एकांकियों का वर्णन करना आवश्यक है।

भारतेन्दु युग :— भारतेन्दु कालीन एकांकियों को हम विषय की दृष्टि से तीन भागों में बांट सकते हैं — राष्ट्रीय नैतिक विचारधारा, सामाजिक यथार्थवादी धारा और पौराणिक आदर्शवादी धारा। राष्ट्रीय नैतिक विचार धारा के अन्तर्गत इस युग की राष्ट्रीय रचनाएं आती हैं। नाटककार अपनी रचनाओं द्वारा जनता में राष्ट्रीय भावनाओं का संचार करते थे। जैसे भारतेन्दु का भारत दुर्दशा, भारत जननी आदि। सामाजिक यथार्थवादी धारा के अन्तर्गत नाटककार राष्ट्रीय जागृति के साथ ही साथ सामाजिक रूढ़ियों, प्राचीन मान्यताओं और सामाजिक कुरीतियों की आलोचनाएं करते थे। राधाचरण गोस्वामी कृत 'भारत में यवन लोग' और पं प्रतापनारायण मिश्र कृत 'कलि कौतुक' इसके उदाहरण हैं।

पौराणिक आदर्शवादी धारा के अन्तर्गत इस युग के एकांकीकार अपनी रचनाओं में धार्मिक एवं आध्यात्मिक कथाओं की चर्चा कर जनता को धर्मोन्मुख करते थे। भारतेन्दु कृत 'माधुरी' और पं बद्रीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' का 'प्रयाग राम गमन' इसके उदाहरण हैं।

द्विवेदी युग :— इस युग में एकांकी कला का विकास नहीं हो पाया। भारतेन्दु युग के एकांकियों का केवल पिष्टपोषण होता रहा। इसके तीन कारण थे। (क) नाटक देखने के बजाय लोग पढ़ने में ही आनन्द लेने लगे।

(ख) नाट्यकला एवं नाटक मंडलियों का प्रचार मंद पड़ गया। (ग) हिन्दी में

रंगमंच का बिल्कुल अभाव था। इस युग में जितने भी एकांकी लिखे गये, सबमें पश्चिमी प्रभाव दृष्टिगोचर होने लगा। कारण, भारतीय इस युग तक आते आते पश्चिमी साहित्य एवं उसकी गतिविधियों से पूर्णतया परिचित हो चुके थे। इस युग के एकांकीकारों में मंगलाप्रसाद विश्वकर्मा, सियाराम शरण गुप्त, रामसिंह वर्मा, रूपनारायण पाण्डेय, पांडेय बेचन शर्मा उग्र, सुदर्शन, बद्रीनाथ भट्ट, पं० रामनरेश त्रिपाठी, श्री जी० पी० श्रीवास्तव आदि का नाम उल्लेखनीय है। पं० बद्रीनाथ भट्ट कृत 'चुंगी की उम्मेदवारी' श्री सुदर्शन का 'राजपूत की हार' श्री रामनरेश त्रिपाठी के 'सपनों के चित्र', श्री जी० पी० श्रीवास्तव कृत 'दुमदार आदमी' और श्री उग्र रचित 'चारवेचारे' इस युग के सफल एकांकी हैं। विषय की दृष्टि से इस युग के एकांकियों को हम पांच भागों में बाँट सकते हैं— क— सामाजिक व्यंगात्मक, ख— राष्ट्रीय ऐतिहासिक ग— मनोवैज्ञानिक, घ — धार्मिक, ट— अनूदित। उपर्युक्त वर्गीकरणों के अलावा इसके अन्य भी अनेक गौण वर्गीकरण हो सकते हैं परं यह मेरा उद्देश्य नहीं है।

प्रसाद युग

प्रसाद युग :— श्री जयशंकर प्रसाद ने सन् १९२९ में 'एक घूंट' नामक एकांकी की रचना की और एकांकी हिन्दी साहित्य का सफल एकांकी माना गया। डा० नगेन्द्र, डा० सत्येन्द्र, प्रकाश चन्द्र गुप्त, डा० हरदेव बाहरी आदि विद्वानों ने उसे ही हिन्दी का प्रथम एकांकी माना है। इस सम्बन्ध में डा० नगेन्द्र का मत द्रष्टव्य है— सचमुच हिन्दी एकांकी का प्रारम्भ प्रसाद के एक घूंट से हुआ है। प्रसाद पर संस्कृत का प्रभाव है— इसलिये वे हिन्दी एकांकी के जन्मदाता नहीं माने जा सकते, यह बात मान्य नहीं है। एकांकी की सारी विशेषताओं का 'एक घूंट' में दर्शन होता है।

आधुनिक काल :— आधुनिक काल के एकांकीकार ही पिछले दशक के ख्याति प्राप्त एकांकीकार हैं और उनका ध्यान मानव मन की भाव लहरियों को चित्रित करने में लीन रहा है। इसी मन: स्थिति के अंकन के लिये मनोविज्ञान का आधार लिया गया है और उसका रूप स्पष्ट करने के लिये ही पिछले दशक का एकांकीकार कहता है— एकांकीकार अपनी बंद मुट्ठी दिखाकर प्रश्न करता है कि इसमें क्या है ? दर्शक उत्तर देता है— दो आंसू, एक हंसी और आधा चुम्बन— और यही है एकांकी। उसमें वेदना है, हंसी है, और उल्लास है। मन के इन्हीं विविध रूपों को चित्रित करता है आज का एकांकीकार।

आधुनिक काल में हिन्दी एकांकी का प्रारम्भ डा० रामकुमार वर्मा से माना जाता है। अतः सर्व प्रथम मैं इनका ही परिचय दूंगा।

डा० रामकुमार वर्मा :— डा० वर्मा हिन्दी एकांकी के जनक माने जाते हैं। अब तक इनके कुल बीस एकांकी संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं जिनमें प्रसिद्ध हैं— पृथ्वीराज की आँखें, रेशमी टाई, चारुमित्रा, विभूति, सप्त किरण, कौमुदीमहोत्सव, रजतरश्मि, रूपरंग, ध्रुवतारिका, ऋतुराज, दीपदान, कामकन्दला, बापू, इन्द्रधनुष, रिमझिम, चार ऐतिहासिक एकांकी, श्री विक्रमादित्य आदि।

डा० वर्मा एक उच्च श्रेणी के चिंतक हैं। वे सर्व प्रथम कवि हैं, बाद में नाटककार, गद्यकार एवं आलोचक। इनके एकांकियों के पात्र मध्यम वर्ग के हैं। इनके अनेक एकांकी हिन्दी में अभिनय प्रयोग माने जाते हैं। आपके एकांकी सरस और मार्मिक होते हैं। इनका क्षेत्र ऐतिहासिक और सामाजिक दोनों है। मनोविज्ञान के विद्वान होने के नाते वे मनोवैज्ञानिक संघर्ष के चित्रण में दक्ष हैं और हैं जीवन के चिरंतन सत्य विश्लेषण में अधिक कुशल और सिद्धहस्त। हिन्दी में एकांकी नाटक को श्रेष्ठ कलात्मक रूप देने में इनका विशेष योग है। सच पूछा जाय तो डा० वर्मा हिन्दी एकांकी के जनक और एक निष्ठावान भक्त हैं। पश्चिमी एकांकी कला को भारतीय सांचे में ढालने में ये पटु हैं। वे भारतीय संस्कृति के परम पुजारी और अतीत गौरव के प्रेमी हैं। मनोविज्ञान के विद्यार्थी होने के नाते वे हर वस्तु को मनोवैज्ञानिक धरातल पर ही उतारने का प्रयास करते हैं।

श्री भुवनेश्वर मिश्र :— पंडित भुवनेश्वर मिश्र एक सफल एकांकीकार हैं। अब तक इनके निम्नलिखित एकांकी संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं— कारवां, श्यामा, एक— साम्यहीन साम्यवादी, शैतान, प्रतिमा का विवाह, रोमांच, लाटरी, ऊसर, एक वैवाहिक विडम्बना, पतिता, रहस्यरोमांच, मृत्यु, सवा आठ बजे, इन्सपेक्टर जनरल, रोशनी और आग, फोटोग्राफर के सामने, तांबे के कीड़े, इतिहास के केंचुल, आजादी की नींव, सींकों की गाड़ी, सिकन्दर, अकबर, चंगेज खाँ आदि। पं० भुवनेश्वर मिश्र पर बर्नडशा का अधिक प्रभाव है। उन्होंने मध्यवर्गीय समाज की खोखली नैतिकता पर गहरा प्रहार किया है तथा मध्यवर्गीय समाज के चित्रण में अधिक सफल हुए हैं। 'ऊसर' आपका सर्वश्रेष्ठ एकांकी माना जाता है। इसमें पाश्चात्य सभ्यता से आक्रान्त आडम्बरपूर्ण उच्च मध्यवर्ग के

खोखले जीवन का चित्र मिलता है जो अहंकार ग्रस्त और हृदयहीन हैं।

श्री उपेन्द्रनाथ 'अश्क' :— श्री अश्कजी एक उच्च श्रेणी के एकांकीकार हैं। इनकी लेखनी आज भी प्रगति के पथ पर अबाध गति से बढ़ रही है। इनके निम्नलिखित एकांकी संग्रह प्रकाशित हो चुके है — पापी, देवताओं की छाया में, तूफान से पहले, चरवाहे, कैद और उड़ान, आदि मार्ग, पर्दा गिराओ, छठा बेटा, कैसा साहब कैसी आया, बतासिया, सयाना मालिक, जीवन साथी, अधिकार का रक्षक, बेबात की बात, आदि।

इनके एकांकियों में सामाजिक समस्याओं की प्रमुखता रहती है और इनके पात्र मध्यमवर्ग के होते हैं। श्री अश्क वैवाहिक और पारिवारिक जीवन के चित्रण में बड़े दक्ष हैं। इनके एकांकी में तीखा व्यंग और हास्य का पुट भी मिलता है। इनकी भाषा पात्रानुकूल होती है और आप गम्भीर मनोवैज्ञानिक संघर्ष के चित्रण में बड़े सफल है। इन्होंने सामाजिक, सांकेतिक और प्रतीकात्मक आदि अनेक प्रकार के एकांकी लिखे हैं। 'अधिकार का रक्षक' श्री अश्क जी का एक व्यंगात्मक एकांकी है। उसमें इन्होंने अपने प्रमुख पात्र मि० सेठ के चरित्र द्वारा यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि हर व्यक्ति के दो रुप होते हैं। एक बाह्य और दूसरा आन्तरिक। जो सज्जन होते हैं उनके दोनों रूप समान होते हैं और जो दुर्जन होते हैं उनके दोनों रूप असमान होते हैं। मि० सेठ बाह्य रूप से हरिजनों नौकरों, छात्रों एवं नारियों के अधिकार के रक्षक हैं या वोट के समय हो जाते हैं पर आन्तरिक रूप से वे भक्षक हैं। प्रस्तुत एकांकी में लेखक ने उनके चरित्र पर तीखा व्यंग किया है। अश्क जी ने दुखान्त और सुखान्त दोनों तरह के सामाजिक और राजनैतिक एकांकियों की रचना की है। अश्क जी एक विद्रोही कलाकार हैं। इनके पात्र सामाजिक हैं और यथार्थ के धरातल पर रहते हैं। इनका 'तौलिया' एक विशिष्ट व्यंग एकांकी है। एक तौलिये को लेकर पति पत्नी में आये दिन कोहराम मचा रहता है। एक उदाहरण लीजिये —

बसंत (पति)— और मुझे जीवन से घृणा नहीं, मुझे शरीर से भी घृणा नहीं और मैं सच कहदूँ, मुझे जिन्दगी से भी घृणा नहीं।

मधु (पत्नी)— 'तो फिर कूड़ों के ढेर पर बैठिये।

इस प्रकार उनके एकांकी हास्य और व्यंग से युक्त रहते हैं।

श्री उदयशंकर भट्ट:— श्री भट्ट जी एक सफल एकांकीकार हैं। इनके अबतक निम्नलिखित एकांकी संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं—समस्या का अंत, आदिमयुग, धूमशिखा, स्त्री का हृदय, चार एकांकी नाटक, अस्तोदय, पर्दे के पीछे, उसके बाबूजी, अपने अपने खाट पर, यह स्वतंत्रता का युग, विश्वमित्र, मत्स्यगंधा, गांधी का रामराज्य धर्म परंपरा एकला चलोरे, अमर अर्चना, मालती माधव, वनमहोत्सव, मदन दहन, गिरती दीवारें, जवानी और ६ एकांकी आदि। इन्होंने 'पर्दे के पीछे' शीर्षक एकांकी में पूंजीवादी व्यवस्था का खोखलापन दिखाया है। इस स्वतंत्रता के युग में नारी स्वतंत्रता की भावना पर इन्होंने विचार विमर्श किया है। इनका प्रधान स्वर यथार्थ सामाजिकता का है। इन्होंने अपने एकांकियों में यह दिखलाने का प्रयास किया है कि भारतीय जीवन को पाश्चात्य सभ्यता और संस्कृति ने किस सीमा तक प्रभावित किया है। इनका दृष्टिकोण सामंजस्यवादी है। भट्ट जी सामाजिक और पौराणिक एकांकी लिखने वाले सफल एकांकीकार हैं।

इनके एकांकी अधिकतर दुखान्त होते हैं। अन्तर्द्वन्द्व के चित्रण में आप बड़े कुशल हैं। डा० रामकुमार वर्मा का मत इनके सम्बन्ध में द्रष्टव्य है—ये जीवन के यथार्थ और उसमें निहित संवेदना के कुशल कलाकार हैं। करुणा इनकी संपत्ति है और उसका उपयोग ये अपने नाटकों में बड़ी कुशलता के साथ करते हैं। नारी मनोविज्ञान और जीवन यथार्थ समीक्षा में आप पटु हैं। इनके पास 'अश्क' की तरह व्यंग नहीं है उनमें तो वस्तुस्थिति के चित्रण की नवीनता है और जैसे चित्रकार अपनी तूलिका के स्पर्शों से अपने चित्र में सुख या दुख का चित्र रेखाओं में उभार देता है, उसी प्रकार ये अपने संवादों के क्रम में जीवन के सुखदुख को स्पष्ट कर चित्र की भांति रख देते हैं। आप हर प्रकार के एकांकी लिखते हैं। इन्होंने गीति नाट्य, एकांकी, नाट्यरूपक, रेडियो रूपक का भी सफल निर्माण किया है।

श्री जगदीशचन्द्र माथुर:— श्री माथुर एक सफल एकांकीकार हैं। इनके निम्नलिखित संग्रह प्रकाशित हो चुके है—भोर का तारा, ओ मेरे सपने, जय पराजय, घोंसला, कबूतरखाना, भाषण, शारदीया, बूंदी, रीढ़ की हड्डी।

इनके एकांकियों में हास्य एवं व्यंग का सुन्दर समन्वय है। शैली रोचक और प्रशंसनीय है। इनके एकांकी मनोरंजक, सहज और सरस हैं। इनके पात्र मध्यवर्ग के हैं। इनमें अभिनेयता है। इनके चरित्र चित्रण स्वाभाविक और कथोपकथन सरल तथा

सरस हैं। इनके एकांकी व्यंग और हास्य से परिपूर्ण होते है। इनकी दृष्टि बड़ी पैनी है। वे अपनी रचनाओं में रूढ़िगत संस्कारों पर प्रहार करते हैं तथा नवीन मान्यताओं का समर्थन करते हैं। वे सामाजिकता के प्रबल पोषक एवं पुजारी हैं।

श्री विष्णु प्रभाकर:—आप एक उच्चकोटि के कलाकार हैं। इनके एकांकी सामाजिक और मनोवैज्ञानिक होते हैं। इनके निम्नलिखित एकांकी संग्रह प्रकाशित हो चुके है—इंसान और अन्य एकांकी, क्या वह दोषी था। इनके सामाजिक नाटकों की विशेषता यह है कि वे वर्तमान समाज व्यवस्था के ह्रास और आडम्बर का व्यंगपूर्ण चित्र उपस्थित करते समय मनोविज्ञान का सहारा लेते हैं और पात्रों की चारित्रिक विशेषताओं पर अधिक से अधिक प्रकाश डालते हैं। अन्तर्द्वन्द्व के चित्रण में अधिक सफल हैं।

श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र:—ये सांस्कृतिक चेतना के एकांकीकार हैं। अबतक इनके निम्नांकित संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं—अशोक के वन, प्रलय के पंख पर, एक दिन कावेरी में कमल, बलहीन, नारी का रंग, स्वर्ग में विप्लव, भगवान मनु तथा अन्य एकांकी आदि। इनकी शैली अत्यन्त स्वाभाविक है। इनके एकांकियों की भाषा संस्कृत के तत्सम् शब्दों से लदी हुई नहीं अपितु प्रसाद गुण से परिप्लावित है।

डा० प्रेम नारायण टंडन:—डा० टंडन एक कुशल कलाविद कलाकार हैं। इनके निम्नलिखित संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं—प्रेरणा, संकल्प, कर्मपथ दिवास्वप्न, और अन्य एकांकी। इनके एकांकियों के विषय सामाजिक और ऐतिहासिक और पौराणिक हैं। इनके पात्र बड़े सजीव और कर्मठ होते हैं। इनके पात्र यथार्थ की भूमि पर स्थित होकर ही अपने कर्म की ओर अग्रसर होते हैं। 'निराला' पर इनका एकांकी महाकवि के जीवन की झांकी प्रस्तुत करने वाला सफल एकांकी है।

सेठ गोविन्ददास:—सेठ गोविन्ददास भारतीय संस्कृति एवं भारतीय आत्मा के सफल एकांकीकार हैं। इनके निम्नलिखित संग्रह प्रकाश में आये हैं—सप्तरश्मि, एकादशी, पंचभूत, बुद्ध की एक शिष्या, स्पर्धा, सच्चा कांग्रेसी कौन, कृषियज्ञ आदि।

इनके ऐतिहासिक तथा पौराणिक एकांकी विशेष प्रभावपूर्ण हैं। इनके एकांकियों में शिल्प तथा कथा वस्तु का सुन्दर संतुलन है। इनके एकांकी गम्भीर होते हैं।

इन्होंने सामाजिक, नैतिक. राजनैतिक, आदि अनेक प्रकार के एकांकी लिखे हैं। इनका दृष्टिकोण आदर्शवादी और सुधारवादी है। इनके विषय में डा० रामकुमार वर्मा का निम्नलिखित मत है— 'मनोविज्ञान के सौन्दर्य की अपेक्षा शिवत्व इनके कथानकों में प्राण की तरह निवास करता है। कथानक में कौतूहल रखने में इन्होंने बड़ी सफलता प्राप्त की है। विविध दृश्यों में कथानक का विस्तार करना, नाटक के प्रारम्भ में प्रवेश और अन्त में उपसंहार रखना इनकी शैली की विशेषता है। इन्होंने एकांकी नाटकों में विविध शैलियों का प्रयोग किया है और उसमें सफल भी हुए हैं। इनके एकांकियों में सामाजिक, ऐतिहासिक तथा राजनैतिक परिस्थितियों का सुन्दर चित्रण है। वे आर्य संस्कृति के पोषक हैं। इन्होंने अपने नाटकों में जीवन के कटु अनुभवों का सुन्दर चित्रण किया है। इन्होंने नाटक के लिए संकलनत्रय को आवश्यक माना है।

श्री गणेश प्रसाद द्विवेदी:—श्री गणेश प्रसाद दिवेदी हास्य एवं व्यंगके सफल एकांकीकार हैं। इनके निम्नलिखित संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं— सोहाग बिन्दी, अन्य नाटक, दगा, वह फिर आई थी, परदे का अपर पार्श्व शर्माजी, गोष्ठी, रपट, रिहर्सल, धरती माता, श्री द्विवेदी विनोद परिहास, और कौतूहल में विशेष विश्वास रखते हैं। इनमें साधारण को विशेष बनाने की अद्भुत क्षमता है। 'टैगोर दिवस' इनका एक प्रमुख एकांकी है। इसके एक व्यंग का नमूना 'देखिये—एक लड़की कहती है—बाबा, ये लोग जब एक बार बोलना शुरू कर देते हैं तो रुकना मानो जानते ही नहीं। गोया किसी को और कुछ काम ही नहीं। ये अपने पात्रों से अनमोल वचन में कहलवा देते हैं।' जैसे-टैगोर के मुख से—'मातृत्व नारी जीवन की पहली और सबसे प्रबल आकांक्षा है। आप मौलिक एकांकीकार हैं। आप अंग्रेजी साहित्य और टेकनीक के पूर्ण पंडित हैं। पाश्चात्य ढंग के मनोविश्लेषण प्रधान एकांकियों का सूत्रपात करने का श्रेय इन्हीं को है। आप जीर्ण शीर्ण परंपराओं के कट्टर विरोधी हैं। आपके एकांकियों में कलात्मक अभिव्यंजना है। आपका क्षेत्र सामाजिक व्यंग है इन्होंने अपने एकांकियों में मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से यौन समस्या का भी विवेचन किया है। वे वैषम्य प्रेम के चित्रण में काफी सफल हैं। वे नारी के प्रति पूर्ण सौहार्दभाव रखते हैं। इन्होंने अपने एकांकियों में पश्चिमी एकांकी शास्त्र से विषय, टेकनीक तथा तत्व लेकर भारतीय आत्मा को खूब संवारा है। इन्होंने पाश्चात्य आदेर्शों का भी अनुकरण किया है। अभिनय कला दृष्टि से भी आपके एकांकी

सफल हुए हैं।

श्री हरिकृष्ण प्रेमी :— श्री प्रेमी जी एक उच्च कोटि के एकांकीकार हैं। इनके कथानक ऐतिहासिक और राष्ट्रीय विचारों से पूर्ण होते हैं। इनके कई संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। इनकी भाषा संयत और शैली आकर्षक होती है। इनका 'मालव-प्रेम' इनके राष्ट्रीय विचारों का द्योतक है। इस नाटक की नायिका विजया देश के लिये अपने नवोदित प्रेम का गला घोंट देती है और राष्ट्र के लिये अपना सब कुछ न्योछावर कर देती है।

श्री सद्गुरुशरण अवस्थी :— श्री अवस्थी जी के नाटकों में संस्कृत ढंग से सांस्कृतिक तथ्यों का प्रतिपादन किया गया है। इन्होंने अपने एकांकियों में वेद, पुराण, इतिहास, साहित्य और ज्ञान विज्ञान सभी पहलुओं पर विचार किया है। इनका आदर्श प्राचीन और अर्वाचीन का सुन्दर समन्वय ही रहा है। इनके निम्नलिखित संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं— शकुन्तला, तुलसीदास, अहिल्या, कैकेयी, शम्बूक, विभीषण, महाभिनिष्क्रमण, सती का अपराध, त्रिशंकु, सुदामा, ध्रुव, प्रहलाद आदि।

वृन्दावनलाल वर्मा एक उच्चकोटि के एकांकीकार हैं। इनके एकांकी का विषय ऐतिहासिक और सामाजिक है। 'लो भाई पंचो लो' इनका एक श्रेष्ठ एवं अर्वाचीन एकांकी है। इसमें उन्होंने ग्रामीण जीवन एवं राजनीति का सुन्दर चित्र उपस्थित किया है।

आचार्य सीताराम चतुर्वेदी :— आप एक उच्च कोटि के एकांकीकार हैं। आपके एकांकियों का विषय विशेष रूपेण सामाजिक, ऐतिहासिक और पौराणिक है। आपका प्रथम एकांकी 'बलिदान' (पन्ना) सन् १९२८ में ही प्रकाशित हुआ था। तब से लेकर आज तक आपके करीब बीस एकांकी प्रकाशित हो चुके हैं जिनका क्रम विषय की दृष्टि से इस प्रकार है— ऐतिहासिक— तुलसी का वैराग्य, भीष्मप्रतिज्ञा, बलिदान। सामाजिक— अपराधी, आत्मत्याग, शरणागत, मायात्री, आधीरात, प्राइवेट-सेक्रेटरी। व्यंगात्मक— लग गई आग उद्घाटन। पौराणिक— सावित्री सत्यवान, रत्नाकर, सीता, सीताराम, श्री कृष्णदूत, एकलव्य, शबरी के बेर, भीष्म आदि। अभिनय कला की दृष्टि से आपके एकांकी उत्तम हैं। हिन्दी साहित्य संसार को अभी आपसे बहुत

आशा है।

शम्भूदयाल सक्सेना के अनेक एकांकी संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं जिनमें दो अभिनय कला की दृष्टि से बहुत ही श्रेष्ठ माने गये हैं— सबसे बड़ी सेवा और नये एकांकी।

इनके अतिरिक्त गोविन्दवल्लभ पंत, भगवती चरण वर्मा, पृथ्वीनाथ शर्मा, गिरिजाकुमार माथुर, डा० लक्ष्मीनारायणलाल, अमृतलाल नागर, डा० धर्मवीर भारती, रामचन्द्र शुक्ल, भारतभूषण अग्रवाल, कृष्णचन्द्र आदि का नाम प्रसिद्ध एकांकीकारों के रूप में लिया जा सकता है। इन लोगों ने पिछले दशक के एकांकी के विकास में योग दिया है।

नयी पीढ़ी के एकांकीकारों में सर्व श्री विश्वम्भर मानव, सिद्धनाथकुमार, चन्द्रकिशोर जैन, रामचन्द्र श्रीवास्तव, कमलकान्त वर्मा, गोपीकृष्ण गोपेश, त्रिलोकी नारायण दीक्षित, कर्तारसिंह दुग्गल आदि का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। ये कलाकार आज भी एकांकी की रचना कर एकांकी साहित्य की अभिवृद्धि में जुटे हुए हैं। आज एकांकी नाटक का भविष्य उज्ज्वल दिखलायी पड़ता है। आने वाला दशक इन नये कलाकारों की प्रौढ़ रचनाओं से अलंकृत होगा। विषय की दृष्टि से एकांकी साहित्य अपने पिछले दशकों से बहुत सुन्दर रहा है। पहले केवल पौराणिक, ऐतिहासिक अथवा आध्यात्मिक एकांकियों की ही रचना होती थी जिसका एक मात्र उद्देश्य किसी पौराणिक परम्परा का निर्वाह या पालन करना होता था। आज के एकांकीकार प्रायः सामाजिक मनोवैज्ञानिक एकांकी लिखने में तत्पर हैं। इनकी एकांकियों में समस्याओं का समाधान एवं आदर्शों की स्थापनाएं आज सब कुछ मिल रहे हैं। हिन्दी रंगमंच की उन्नति के कारण आज का एकांकी साहित्य भी काफी धनी हो रहा है और आशा है कि यह कुछ ही वर्षों में हिन्दी साहित्य संसार में अपना विशिष्ट स्थान बना लेगा।

भारतेन्दु काल में हिन्दी एकांकी का जन्म तो अवश्य हुआ पर यह उसका शैशवकाल था। शैशवकाल में बहुत कम लोग चमकते है। यही कारण था कि लोग इसे श्रद्धा की दृष्टि से साहित्य की अन्य विधाओं की भांति नहीं देख सके पर 'होनहार बीरवान के होत चीकने पात' की उक्ति उस पर चरितार्थ हुई और यह समय पाकर चमक उठा।

द्विवेदी काल में यह कुछ मुरझाया-सा रहा। पर आधुनिक काल में आकर यह इतना खिला, चमका कि समस्त दिशाएं इसकी मधुर सुरभि से सुरभित हो गईं। इसने अपने पौराणिक पहनावे का परित्याग कर दिया और समाज एवं यथार्थ का नया वस्त्र धारण कर दिग् दिगंत को आलोकित करने लगा। एकांकी साहित्य का केवल कलेवर ही नहीं बदला, मन और भाव भी इसके बदल गये। विषय और शिल्प की दृष्टि से, भाव विचार और कर्म की दृष्टि से, यह बहुत आगे बढ़ चुका है और हिन्दी साहित्य संसार में अपना एक विशिष्ट स्थान बना रहा है। अपनी संक्षिप्तता, सरलता एवं सरसता के कारण आज का एकांकी साहित्य जन जन का कंठहार बन रहा है। यह अपने सहोदर विज्ञान और रेडियो का बहुत आभारी है जिन्होंने इसके विकास में विशेष सहयोग दिया है। इसने अपने पिछले दशक में काव्य और कला की दृष्टि से जो उन्नति की है, वह श्लाघ्य है, स्तुत्य है।

समीक्षा—

साहित्य जगत में यदि वस्तुओं की रूपरेखा वही हो जैसी होनी चाहिए तो आलोचना रुचि को परिष्कृत करेगी न कि रुचि आलोचना को।

—अज्ञात

× × ×

उपन्यास—

उपन्यास सक्रिय मानव जीवन की भाषा में भावों का गद्यानुवाद है। यह गद्यानुवाद इतना यथार्थ होना चाहिए कि उससे पाठकों का आत्म ज्ञान बढ़े।

—वोल्फर्ट

डॉ० ओमानन्द रू० सारस्वत

हिन्दी उपन्यास : पिछला दशक

सन् '५२ से '६२ तक के हिन्दी-उपन्यास-साहित्य की उपलब्धियों एवं अभावों का विश्लेषण करना खतरे से खाली नहीं है, क्योंकि इस दशक में इतना लिखा-छपा-बिका है कि प्रबुद्ध पाठक को भी 'सब कुछ' पढ़ कर अपनी 'समीक्षा' देते ज्ञान-संकोच का अनुभव होता है। फिर भी आज के इस 'एटम-स्पुतनिक-युग' में समय निकाल कर जो 'सहृदय' उपन्यासों को कृतज्ञ करते हैं (भले ही फिर उन्हें ट्रेन के सफर में या बीबी के अभाव में पड़े-पड़े पढ़ने पड़ते हों !), वे स्पष्टतः जानते हैं कि पिछला दशक हिन्दी-उपन्यासों में एक महान् 'मोड़' का है, जहाँ प्रयोग के नाम पर परम्पराएँ, शिल्प के नाम पर बिखराव और कथा के नाम पर भावोर्मियाँ प्रस्तुत हुई हैं। आयाम अनेक हैं, परिवेश

●●

पिछले दशक के उपन्यासों का मूल्यांकन करने के लिए २००-२५० पृष्ठों की आवश्यकता है, अतः इस लघु निबन्ध में केवल मर्यादित रह कर ही विचार किया गया है। १९५२ से' ६२ तक के प्रकाशित उपन्यासों को आधार मानकर ही लेखक ने विचार व्यक्त किये हैं। अतः उन उपन्यासों के सृजन काल से नहीं बल्कि प्रकाशनकाल से ही यह लेख संबंधित है।

●●

कम; किन्तु सब मिलाकर उच्चकोटि का और विश्व-साहित्य के सम्मुख प्रस्तुत किया जा सकनेवाला औपन्यासिक तत्त्व हमारे पास इस दशक में भी आया है। उपन्यास के महत्त्व को कुछ 'आ-लोचकों' ने इस दशक में गौण माना है, लेकिन मुझे उपन्यास और उपन्यासि-साहित्य किसी भी कदर कमजोर नहीं नजर आ रहा। विदेशी विद्वान् मैरियन फाक्स के शब्दों में यह विधा 'पोकेट-थियेटर' है, जहां समाज, व्यक्ति, इतिहास, रीति आदि के सजीव प्रतिरूप देखे जा सकते हैं, इसीलिये पश्चिम के साहित्यकारों ने उपन्यास को 'मध्यकालीन प्रबन्ध' की समता दी है क्योंकि उपन्यास आधुनिक संस्कृति का वृत्तलेख है। पिछले दशक की उपन्यास-समष्टि को मैं जीवन का 'महाकाव्य' कहना चाहूंगा, क्योंकि चरम परिणति प्राप्त 'प्रसाद' की कामायनी' काव्य क्षेत्र के महाकाव्यों के लिए सीमाचिन्ह बन गई है और जब तक प्रसाद जैसा शक्तिशाली व्यक्तित्व हिन्दी के साहित्याकाश पर उदित नहीं होता है, तब तक उपन्यास के रूप में ही गद्य 'महाकाव्य' रहा करेगा ('उर्वशी' के अर्जित गौरव को अक्षुण्ण रखते हुए)।

'प्रयोगवाद' या 'नई कविता' की भांति उपन्यास-क्षेत्र में भी इस दशक के पंच-पात्र बड़े प्रसिद्ध हुए। इस पंचक ('तारसप्तक' नहीं!) के नाम यों हैं—लघु उपन्यास, आंचलिक उपन्यास, नायकहीन उपन्यास, सहकारी उपन्यास एवं कथाहीन उपन्यास। प्रेमचंद–युग में एवं प्रेमचन्दोत्तर–युग में सामाजिक उपन्यास के अतिरिक्त ऐतिहासिक उपन्यास, समाजवादी उपन्यास, व्यक्तिवादी उपन्यास, मनोवैज्ञानिक उपन्यास आदि अनेक नाम आ गये थे, किंतु इधर 'नवीनता' जो आई है वह उधर नहीं थी। इस दशक के उपन्यासों के नामकरणों के प्रचलन के पूर्व जासूसी, सामाजिक, ऐतिहासिक, मनोवैज्ञानिक आदि कुछ नाम बड़े ही 'अपीलिंग' थे, किंतु इस दशक ने बड़ा फेरफार कर दिया है और यह परिवर्तन अभी सीमाचिन्ह बनता हुआ रुकने का नाम ही नहीं लेता; संभव है, शीघ्र ही हिन्दी-उपन्यास-साहित्य में 'पत्तेबाज-उपन्यास' भी जन्म ले। ('पत्तेबाज-उपन्यास' अल्ट्रा-मोडर्न है. फ्रांस में ऐसे प्रयोग हुए हैं। कहते हैं, उपन्यासकार अपने उपन्यास के कथानक को स्वतःपूर्ण एक-एक पृष्ठ पर अंकित कर देता है और उन पृष्ठों को क्रमबद्ध या संख्याबद्ध न करते हुए 'कार्ड्स' (पत्ते या ताश) की तरह फुटकर रूप में रख देता है। यह बाईंडिंग नहीं की गई फाइलनुमा पुस्तक ऐसे ही विक्रय की जाती है और पाठक जिस पृष्ठ को चाहे जिस क्रम से पढे, उसे प्रभाव की एकता का अनुभव होगा।) इस

दशक के नव्यतर उपन्यासों पर विचार करने के पूर्व हिन्दी-उपन्यास की १६५० तक की स्थिति को अति संक्षेप में देखना आवश्यक है। हिन्दी के उपन्यास-साहित्य में प्रेमचंद का व्यक्तित्व एक 'माइलस्टोन' है, क्योंकि प्रेमचंद के पश्चात् ही हिन्दी-उपन्यास को गति एवं वैविध्य प्राप्त हुआ है! प्रेमचद ने सर्वप्रथम अमानवीय तत्त्वों तथा अनहोनी घटनाओं के प्राचुर्य से उपन्यास को आदर्श और यथार्थ की समन्वयात्मक भूमिका की ओर अग्रसर किया। यह वह प्रौढ़ता थी जिसने चमत्कारपूर्ण भाषा को वास्तविक रूप दिया और विषय को गांव व किसान से सम्बद्ध कर दिया। प्रेमचंद की शैली की मुख्य प्रवृत्ति बहिर्मुखी या इतिवृत्तात्मक अधिक रही है, किंतु प्रेमचंद के बाद के उपन्यासकारों ने उसे अंतर्मुखता प्रदान की, जहां भावों का विश्लेषण, मानसिक संघर्ष एवं चरित्र के विविध पहलुओं का चित्रण अधिक रहता है। जैनेन्द्रकुमार, यशपाल, इलाचन्द्र जोशी, हजारी-प्रसाद द्विवेदी, अज्ञेय आदि कुछ विशिष्ट उपन्यासकार प्रेमचंदोत्तर-युग में प्रतिष्ठित हैं। जयशंकर प्रसाद का योगदान नई-परम्परा के मूल में रहा है।

हिन्दी-उपन्यासों के प्रारंभ-काल में मनोरंजन की जो प्रधानता थी, वह बाद में समाप्त हो गई। कुछ सर्जकों ने आदर्श या कोरे उपदेशवाद को लिया अवश्य था, किंतु वह कालान्तर में पाश्चात्य सभ्यता और विचारों के कारण यथार्थवादी दृष्टिकोण के रूप में प्रतिक्रिया कर बैठा। प्रेमचंद के समय से ही सौन्दर्यवादी आस्कर वाइल्ड, यथार्थ-वादी बालजक, ह्यूगो व फ्लाबेयर तथा समाजवादी-मानववादी टाल्सटाय व दास्तेवास्की आदि भी थे, तो साथ ही व्यक्तिवादी नीत्से एवं मनोवैज्ञानिक फ्रायड की विचारधारा भी प्रभाव डाल रही थी। इधर स्वदेश में जब गांधीजी ने स्वतंत्रता की जागृति का उद्घोष किया, तो विभिन्न विचारधाराओं के पोषक साहित्यकारों को भी अपने स्वतंत्र मार्ग पर चलने का 'सुयोग' प्राप्त हुआ एवं १६५२ के पूर्व ही व्यक्तिवाद, मनोविश्लेषणवाद, कुण्ठावाद आदि नामों से उपन्यासों में अपनी पैठ जमा ली थी।

प्रेमचंदोत्तर उपन्यासों में दो रूप हमें स्पष्ट दृष्टिगोचर होते हैं; एक है समाज-वादी और दूसरा है व्यक्तिवादी। दोनों के विचारक उपन्यासकार अपने-अपने दृष्टिकोणों से औपन्यासिक कृतियों को रखते हैं, किन्तु परस्पर विपरीत। समाज से रहित व्यक्ति की, और व्यक्ति से हीन समाज की कल्पना प्रायः निरर्थक है; किन्तु समाजवाद ने व्यक्ति को नहीं देखा और व्यक्तिवाद ने समाज की अवहेलना की—अतः दोनों एक होते हुए

भी दो बने रहे. फलतः एक तीसरी विचारश्रेणी का जन्म हुआ जिसको या तो समाज के द्वारा व्यक्ति को व्यक्ति के द्वारा समाज को देखने-परखने के लिए बाध्य होना पड़ा; इसमें से एक आंचलिकता को लिए है और दूसरी नायकहीनता को।

प्रेमचंदोत्तर-काल के लेखकों ने पहले कहानी,' साधी और कहानी की सिद्धि के बाद वे उपन्यास की ओर मुड़े, अतः कहानी के नये-पुराने तत्त्व एवं मूलसंवेदनाएं आदि उपन्यास में अनायास ही चली आईं। उपन्यासों में समयान्विति के नये प्रयोग इसी के परिणाम हैं। प्रेमचन्द के बाद जैनेन्द्रकुमार से बड़ी-बड़ी आशाएं थीं, किंतु वे फलीभूत नहीं हो सकीं क्योंकि जैनेन्द्र अपने काल्पनिक सिद्धान्तों के प्रचार-प्रसार में ही रुचि लेते रहे और वहीं रुक गये— हां, शैलीगत नावीन्य जैनेन्द्र की देन अवश्य है। 'शेखर-एक जीवनी' (अज्ञेय) उपन्यास प्रेमचन्द के पश्चात् के उपन्यासों में एक नया शिल्प तथा नवीन चिंतन लेकर प्रतिष्ठित है, किन्तु 'नदी के द्वीप' में अज्ञेय ने अतियथार्थ का आश्रय लेकर साहित्यिक आदर्श को गिरा दिया, शायद इसलिये कि इससे कलात्मक शैली में निखार आजाये। भगवतीप्रसाद वाजपेयी ने मध्यवर्ग की कहानी को ग्रहण करते हुए प्रेमचंद-शैली को स्थिर रखा। इलाचन्द्र जोशी की चार-पांच कृतियां एक साथ प्रकाश में आईं और उनमें समाज के स्थान पर व्यक्ति का विश्लेषण प्रस्तुत हुआ। इनमें संन्यासी' का आदरणीय स्थान है। महाकवि निराला ने भी अपनी शैली के द्वारा उपेक्षित गांवों को लिया, किंतु कवि की प्रतिभा वैविध्य में बंट गई। उनका 'बिल्लेसुर बकरिया' एक प्रदान है। भगवती चरण वर्मा ने 'टेढ़े मेढ़े रास्ते' में विराट् चित्रपट प्रस्तुत किया और गांवों की अभिमुखता का यह भी एक प्रमाण है। रांगेय राघव ने 'सीदे साधे रास्ते' लिखा, जिसमें उन्होंने 'टेढ़े मेढ़े रास्ते' के बाद का कथानक लिया है, किंतु रांगेय राघव उन विशिष्ट प्रभावों को नहीं जन्म दे सके जो भगवती बाबू की कलम व कल्पना ने सजित किये।

ऐतिहासिक धारा को वृंदावनलाल वर्मा ने बड़ी सफलता से पल्लवित-प्रसारित किया और चतुरसेन शास्त्री, राहुल सांकृत्यायन; रांगेय राघव आदि ने उसे बल दिया। हजारीप्रसाद द्विवेदी का 'बाण भट्ट की आत्मकथा' इस धारा का एक अत्यन्त सफल और मौलिक प्रयोग है। इसे एक सीमाचिन्ह कहना चाहिये। यशपाल के 'मनुष्य के रूप' तथा 'देशद्रोही' में शैलीगत वैशिष्ट्य होते हुए भी नग्न-चित्रण का प्रभाव स्पष्ट है। उपेन्द्रनाथ अश्क का 'गिरती दीवारें', डा० देवराज का 'पथ की खोज', अमृतलाल नागर

का 'महाकाल' आदि अनेक रचनाएं भी कथाप्रवाह और विषय की मौलिकता के लिए १९४२–५२ के लिए दशक की प्रसिद्ध कृतियां हैं। धर्मवीर भारती का 'गुनाहों का देवता' मनोविश्लेषण धारा की ही लकीर का फकीर है, उसमें शैली की दृष्टि से नवीनता मान भी लेवें तो भी उसे श्रेष्ठ कोटि के उपन्यासों में रखना कठिन है।

इस प्रकार 'परीक्षा गुरु' से लेकर 'गोदान' तथा चित्रलेखा' तक एक परम्परा रूप हिन्दी-उपन्यासों में स्थापित हो चुका था। इनके अतिरिक्त १९५२ तक त्यागपत्र (जैनेन्द्रकुमार), देशद्रोही (यशपाल), संन्यासी (इलाचन्द्र जोशी), वैशाली की नगरवधू (चतुरसेन शास्त्री), शेखर : एक जीवनी (अज्ञेय) बाण भट्ट की आत्मकथा (हजारीप्रसाद द्विवेदी) आदि अनेक स्तरीय उपन्यास हमें प्राप्त हो चुके थे। इन सबकी भित्ति पर १९५२–६२ का दशक खड़ा है और मेरे मत से अनेक मौलिक उद्भावनाएँ लिए खड़ा है।

नये नाम : नये उपन्यास

इस दशक की अनेक उपलब्धियों पर चर्चा करने के साथ-साथ इस दशक की नई औपन्यासिक नामावली तथा उसके प्रदेय को भी देखना आवश्यक है। 'फैशन और 'फोबियाँ' की दृष्टि से नहीं, बल्कि सचमुच साहित्यिक प्रगति को लक्ष्य में रख कर इस दशक में उपन्यासों ने अभूतपूर्व वैविध्य अंगीकार किया है। 'नयी कविता' की भांति 'नया उपन्यास' नाम भी बड़ी तीव्रता से ग्रहण किया गया। 'नया उपन्यास' वास्तव में जीवन की बहिर्मुखता को त्याग कर जीवन के अंतराल को देखता है, इससे ऐसे उपन्यास की कथा अन्तश्चेतना का अंग बन जाती है और उपन्यास व्यक्तिवादी या आत्मकथात्मक हो जाता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि 'नये उपन्यास' में जीवन की संवेदना अत्यन्त तीव्र एवं गहन होती है, विस्तार भी होता है किंतु अंतर्मुखी। उपन्यास-कला का यह आभ्यान्तिक प्रयाण ही नया उपन्यास' है। इस 'नये उपन्यास' के अंतर्गत जो नये नाम इस दशक में आए हैं, वे हैं— लघु उपन्यास, आंचलिक उपन्यास, नायकहीन उपन्यास, सहकारी उपन्यास, और कथाहीन उपन्यास।

लघु उपन्यास : इसी नवीन कथा-प्रकार के नामकरण करने की आवश्यकता पड़ी कि इस दशक में ऐसी कृतियों का प्रचार और उनकी लोकप्रियता बढ़ गई है। वृहद और लघु पर वर्गीय विभाजन का आरोप लगाया जा सकता है, किंतु इनके अंतर की

सूक्ष्मता और परस्पर की विभिन्नता व जटिलता पर ध्यान दिया जावे तो यह आरोप सरल हो जायगा। लघु उपन्यास में जीवन का खण्ड चित्र रहता है, यह खण्ड-चित्र महाकार भी बनाया जा सकता है किंतु सघनता के नष्ट हो जाने पर 'लघु' संज्ञा का लोप मानना पड़ेगा। डा० ब्रजेश्वर वर्मा के शब्दों में "लघु उपन्यास में कथा का चित्र-फलक अपेक्षाकृत छोटा होता है; कथा की सम्पूर्ण विषयवस्तु—कथानक, पात्र, वातावरण—किसी एक संवेदनामूलक सूत्र में गुंथकर अधिकाधिक सघन हो जाते हैं, कथानक में एकात्मकता और संहिति होती है, चरित्रचित्रण किसी पात्र अथवा किसी चरित्र वैशिष्ट्य में केन्द्रीभूत होता है, कथाकार की शैली अधिक आत्माभिव्यंजक, उसकी सहानुभूति अधिक ममत्वपूर्ण तथा उसकी संवेदना अधिक संवेगजन्य होती है।" (आलोचना, अंक १५) कविता में गीतिकाव्य या खण्डकाव्य का जो स्थान है, वही उपन्यासों में 'लघु उपन्यास' को प्राप्त होना चाहिये।

इस दशक में इस प्रकार के उपन्यास संख्या की दृष्टि से अधिक नहीं हैं, किन्तु स्तर और उच्चता की मात्रा की दृष्टि से संतोषप्रद हैं। नागार्जुन का 'बाबा बटेसरनाथ' ऐसे उपन्यासों का एक उत्कृष्ट उदाहरण है। कमल जोशी का 'बहता तिनका', डा० देवराज का 'बाहर-भीतर', अमृतराय का 'हाथी के दांत', सर्वेश्वरदयाल का 'सोया हुआ जल', गिरधरगोपाल का 'चांदनी के खण्डहर' आदि इसके अन्य उदाहरण हैं। 'लघु उपन्यास' का प्रारम्भ प्रेमचंद-युग में भी देखा जा सकता है, किंतु कलात्मक प्रौढ़ता और नाम-करण की सजीव सार्थकता इसी दशक की देन है। 'बहता तिनका' का कथानक पुराना होते हुए भी भाषा-शैली और आत्मीयता के भाव-पक्ष की दृष्टि से श्रेष्ठ है। 'बाहर भीतर' में अनमेल विवाह की समस्या है तो पुरानी, लेकिन रूप नया है। 'बाबा बटेसरनाथ' निश्चय ही इस दशक की उपलब्धि है। 'हाथी के दांत' के शीर्षक बड़े आकर्षक हैं—गड़े मुर्दे, इन्दर सभा, अगर फिरदौस बर रुए जमीन अस्त, नहले पर दहला, मृगछलना, छलनामृग इत्यादि। 'सोया हुआ जल, और 'चांदनी के खण्डहर' में समय-सम्बन्धी प्रयोग भी सफल हैं। इस प्रकार लघु उपन्यास' के रूप में एक नितान्त अभिनव विधा इस दशक में आई है जो उपन्यास को गीतात्मक एवं नाटकीय पृष्ठभूमि प्रदान कर 'रिपोर्ताज' के रूप में प्रस्तुत करती है।

आंचलिक उपन्यास : इस दशक का सर्वाधिक प्रचलित, चर्चित एवं विवादास्पद

नाम 'प्रांचलिक उपन्यास' है। फणीश्वरनाथ रेणु के 'मैला प्रांचल' के साथ ही हिन्दी-जगत् में इस नाम ने प्रवेश किया है, वैसे प्रांचलिक प्रयोग परोक्ष या प्रत्यक्ष में थोड़ा-बहुत इस उपन्यास से पूर्व भी प्राप्त है। प्रांचलिक का अर्थ एवं सम्बन्ध 'किसी अंचल विशेष' से है। अंचल या उस भूमिक्षेत्र के सामाजिक व सांस्कृतिक उल्लेखों का समावेश ऐसे उपन्यासों में प्रधान होता है। प्रत्येक अंचल की कोई न कोई विशिष्टता होती है, जिसे उपन्यासकार अपने उपन्यास में प्रधानता देता है। प्रांचलिक उपन्यास वास्तव में राष्ट्रीय उपन्यासों की सूक्ष्म अभिव्यक्ति है। कुछ लोग प्रांचलिकता को भाषा-विशिष्टता मान कर ही इसकी व्याख्या करते हैं जो सही नहीं है क्योंकि प्रांचलिक उपन्यासों में उस अंचल की भाषा के अतिरिक्त और भी बहुत कुछ होता है जिसे नगण्य नहीं माना जा सकता। भाषा का दोष तब लगता है, जब उपन्यासकार अंचल की ही भाषा का आद्योपांत प्रयोग करें और खड़ी बोली हिन्दी की शब्दावली दब जावे। वास्तव में अंचल की भाषा तो स्थानीय रंग देकर उपन्यास की स्वाभाविकता को बढ़ाकर एक चमत्कार देने वाला साधन है, किंतु जब भाषा में क्लिष्टता या हिंदीहीनता आजाती है तो 'प्रांचलिक उपन्यास' पर आक्षेप लाती है। प्रांचलिकता तो एक प्रकार की अंतर्मुखता है जहां व्यापक यथार्थ को छोड़ कर मर्यादित यथर्थ को महत्व दिया जाता है जिससे व्यापक यथार्थ व्यंजित होता रहे।

इस प्रकार के उपन्यास इस दशक में अनेक लिखे गये यथा—रेणु का मैला प्रांचल' व 'परती : परिकथा', नागार्जुन का बलचनमा', उदयशंकर भट्ट का 'सागर, लहरें और मनुष्य', देवेन्द्र सत्यार्थी का 'ब्रह्मपुत्र', राजेन्द्र अवस्थी का 'सूरज किरन की छांव', शैलेश मटियानी का 'होलदार', रामदरश मिश्र का 'पानी की प्राचीर' आदि अनेक उपन्यास प्राप्त हैं।

'मैला प्रांचल में' बिहार के पूर्णिया जिले का चित्रफलक है। व्यष्टि से समष्टि के प्रकाशन का यह अभूतपूर्व प्रयोग प्रेमचन्द के 'गोदान' के बाद की एक स्थायी उपलब्धि है। रेणु से स्वर्णिम भविष्य की आशा रखने वाले कुछ विवेचकों को 'परती : परिकथा' से आशाएं क्षीण दृष्टिगोचर हुई हैं, किन्तु वस्तुतः 'परती : परिकथा' रेणु के 'मैला प्रांचल' का विकास है। यह नई कृति अधिक तटस्थ और अधिक वास्तविकता लिए है। शिल्पगत वैशिष्ट्य लिए हुए भी यह रचना वस्तुगत महत्ता को भी पूरी तरह साधे

है। कोसी अंचल की छोटी–बड़ी रेखाएं एक महान् और समन्वित रूप हमारे समक्ष उपस्थित करती हैं। 'पानी के प्राचीर' में गोरा व राप्ति नदियों के घिरे प्रदेश की अभाव-ग्रस्त कहानी है। 'सागर, लहरें और मनुष्य' बम्बई के तटवर्ती मछुआ जीवन से संबंधित है। शैलेश मटियानी ने कुमाऊ की हिमालय–बोलियों के प्रयोग किये हैं। इस धारा से बड़ी बड़ी आशाएं हैं, किन्तु यह धारा अतिवादिता एवं अतिशयता से ग्रथित होती जा रही है, यदि इससे मुक्त न हो सकी तो इस धारा का भविष्य श्रेष्ठ नहीं दिखता। यदि यह धारा भटक न गई तो निस्संदेह ही इस धारा को कोई उच्चतम स्थान प्राप्त होगा और इसकी विपुल समृद्धि होगी।

नायकहीन उपन्यास :— उपन्यासों में पात्रों की अनिवार्यता प्रारम्भ से ही रही है, किन्तु नायकत्व की कल्पना संस्कृत नाटकों से एवं पश्चिमी प्रेरणा से आई है। शनैः शनैः उपन्यास में नायक इतना प्रबल और प्रधान हो गया कि व्यक्तिवादी उपन्यासों में उसी के महत्व को प्रतिपादित किया जाने लगा। इसकी प्रतिक्रिया इस दशक के कुछ ऐसे उपन्यासों में स्पष्ट है जो समाज या वर्ग को लेकर चलते हैं और वहां 'नायक' का मोह नहीं है। उदाहरणार्थ शिवप्रसाद 'रुद्र' का 'बहती गंगा' एक नगर का अध्ययन है और राजेन्द्र यादव का 'प्रेत बोलते हैं' एक घर की सीमा है, किन्तु इनमें कोई नायक उभर कर नहीं आता है। 'वयं रक्षामः' में ही इसका स्पर्श है। 'मैला आंचल' तक में होरी के सदृश कोई सशक्त चरित्रनायक नहीं है क्योंकि वहां भी किसान की अपेक्षा गांव या अंचल का चित्रण प्रधान है।

सहकारी उपन्यास :— इस दशक की एक विचित्र देन 'सहकारी उपन्यास' है। मैं विचित्र इसलिये कह रहा हूं क्योंकि दो या पांच लोग मिलकर किसी उपन्यास को लिखें और तब भी उसका ऐक्य बना रहे तो निश्चय ही यह एक विचित्रता है। यदि मूल कथा को प्रारम्भ में रूपरेखा से संजोया गया हो और फिर उसे दो–चार लेखक लिखने बैठे तो सम्भवतः प्रभावान्विति की रक्षा हो सके, किन्तु 'भ्रातृ साहित्यिक सृजन' की प्रक्रिया का परिचय अभी तक सामने नहीं आया है। राजनीतिक और सामाजिक आंदोलनों के परिणाम स्वरूप 'सहकारी' भावना का साहित्यिक क्षेत्र में भी पदार्पण करना क्या शुभ या अशुभ संकेत है? इस पर कहना जरा मुश्किल है क्योंकि इस प्रकार के प्रयोग अत्यल्प हुए हैं।

अज्ञेय ने १९५१ में जब 'बारहखंभा' की पहली किस्त 'प्रतीक' में प्रकाशित की, तो इस विचित्रता पर सभी को जिज्ञासा थी, किन्तु इसे फिर मन्मथनाथ गुप्त, विष्णु प्रभाकर, प्रभाकर माचवे, अमृतलाल नागर, अज्ञेय, भारतभूषण अग्रवाल, देवराज, धर्मवीर भारती, रांगेय राघव, रामचन्द्र तिवारी आदि ने सफलता से निभाया। सन् ५४ में श्री देवदूत विद्यार्थी तथा श्रीमती भारती विद्यार्थी ने 'हार या जीत' में ऐसा ही स्पर्श-प्रयोग किया, जिसमें केरल जीवन की सुन्दर झांकी भी है। यहीं तक नहीं, किन्तु नर-पात्रों को प्रगति देनेवाला नर-लेखक और नारी पात्रों को चित्रित करनेवाली नारी-लेखिका— इस युगल ने 'एक इंच मुस्कान' में भी ऐसा ही शैलीगत प्रयोग किया है। एक बात और, जहां इस ढंग के उपन्यासों से औपन्यासिक बाह्य-रूप में तीव्र परिवर्तन आया है, वहां अंतरंग में उसी अनुपात से आवर्तन-परिवर्तन नहीं आये।

कथाहीन उपन्यास :— कथा का होना प्राचीन उपन्यासों का एक आवश्यक एवं महत्वपूर्ण अंग था, किन्तु कालान्तर में इस तत्व का क्रमशः ह्रास होता चला गया और कथा अन्तर्मुखी बनती चली गई। पात्रों के मनोविश्लेषणवाद ने कथा की गौणता को और भी गौण कर दिया और इस प्रकार इस दशक में 'कथाहीन उपन्यास' के नाम की भी यत्र-तत्र चर्चा सुनाई पड़ी। कथाहीन उपन्यासों में कथानक का अभाव हो सकता है, किन्तु 'कथा-रस' आवश्यक है— अतः ऐसे उपन्यासों में बाह्य कथा की अपेक्षा अन्तर्जगत् की कथा अधिक महत्त्वपूर्ण होती है या भावों व विचारों की एकसूत्रता की प्रधानता होती है। इस दशक में अधिकांश मनोवैज्ञानिक उपन्यास इसी वर्ग के अन्तर्गत आयेंगे।

उपलब्धि और अभाव

'नये उपन्यास' को देखने के बाद इस दशक की उपलब्धि का मूल्यांकन करने के लिए तीन स्थूल विभाजन कर लेने आवश्यक हैं, क्योंकि मुख्यतः इन तीन वस्तुओं में ही पिछले दशक घट-बढ़ हुई है। वे हैं— (अ) विषय, (आ) विचार, और (इ) शिल्प।

मुझे निस्संकोच कहना पड़ रहा है कि इस दशक में 'वासना' और 'शिल्प' ही प्रधानरूप से मौलिक बन कर प्रस्तुत हुए हैं— किन्तु दशक के उत्तरार्ध में सामाजिकता की ओर झुकाव भी नवीनता का एक बीज है।

(अ) विषय : प्रेमचंद का विषय गांव और किसान है, जिसमें जमींदारी और नवाब, गरीब और अमीर, बनिये, मजदूर और साहूकार, हरिजन और क्लर्क, अंधविश्वासी और श्रद्धालु— सभी प्रतिनिधि मानव चरित्र हैं। प्रेमचंद के बाद उपन्यास की धारा गांव से हट कर नगर की ओर मुड़ी और किसान का स्थान वहां मध्य वर्ग ने लिया। पिछला दशक इस धारा के कुछ उपन्यासों को अपने में सजोये है और कुछ उपन्यास इस प्रकार की धारा के प्रतिक्रिया-से लगते हैं— किंतु प्रेमचंदयुगीन विषयों से भिन्न और मौलिक रूप लेकर प्रस्तुत हुए हैं।

हिन्दी-उपन्यास विषय के क्षेत्र में वैविध्यपूर्ण और विस्तृत क्षेत्र से युक्त है। विषय की दृष्टि से दशक को कोई विशेष मौलिक उपलब्धि नहीं हुई क्योंकि १९५२ तक प्रायः सभी विषयों को उपन्यासकारों ने स्पर्श कर लिया था। इस दशक में विषयों के चुनाव की अपेक्षा विषयों के विवेचन और प्रस्तुतीकरण में सिद्धि प्राप्त हुई है। उदाहरणार्थ कुछ विषयों को लेकर पर्यवेक्षण करना उचित रहेगा।

(१) साहसिक और जासूसी विषयों से संबंधित उपन्यासों का अभाव दृष्टिगोचर होता है। प्रेमचंद पूर्व इस धारा की सबलता देखते हुए दशक खाली-खाली सा दिखता है। (२) धार्मिक विषयों पर फुटकर उपन्यास लिखे गये, किंतु क्रांतिकारी सीमाचिन्ह नहीं है। धर्म के प्रति विरक्ति इस युग के आम प्रगतिशील में देखी जा रही है, फिर साहित्यकार उसे कैसे ले ? (३) सामाजिक चित्रण को लेकर अनेक उपन्यास लिखे गये। इनमें वर्ग-संघर्ष, अंधविश्वास, अपहृत महिलाएं, व्यभिचार, शिक्षा आदि अनेक विषय लिये गये हैं। अमृतलाल नागर का 'बूंद और समुद्र' इस युग की एक बड़ी सशक्त रचना है। इसमें बूंद व्यक्ति है और समुद्र समाज है। व्यक्ति और समाज के समन्वय का प्रभावकारी संकेत इस उपन्यास में है। रांगेय राघव की 'कब तक पुकारूं'' भी एक बृहत् सामाजिक उपन्यास है जिसमें नटों के जीवन से संबंध रखने वाले कथानक को लिया है। (४) राजनीतिक विषयों में युद्ध, प्रचार, षड्यन्त्र, पार्टीद्वंद्व, से लेकर अंतराष्ट्रीय विषयों तक को ग्रहण किया गया। राजनीतिक पृष्ठभूमि पर व्यक्ति और समाज के संघर्ष को चित्रित करने वाला विष्णु प्रभाकर का 'निशिकांत' है। गुरुदत्त के कुछ उपन्यासों में राजनीतिक संकेत हैं। (५) वैयक्तिक समस्याओं को लेकर चलने वाले उपन्यासों में मनोविज्ञान और मनोविश्लेषण अधिक प्राप्य है। इस दिशा में हम कुछ प्रगति कर सके हैं। लक्ष्मीनारा-

यशपाल का 'बया का घोंसला और सांप' उल्लेखनीय है जहां समाज गौण और व्यक्ति की प्रधानता है। भगवतीप्रसाद वाजपेयी का 'यथार्थ से आगे' उपन्यास का उद्देश्य भी व्यक्ति की उलझनों तथा समस्याओं को निरूपित करना है। उपेन्द्रनाथ अश्क का 'बड़ी बड़ी आँखें' भी इसी प्रकार का उपन्यास है जहां व्यक्ति मानस के चिंतन तथा विश्लेषण द्वारा व्यक्तिवादी जीवनदृष्टि स्थापित की गई है। उषादेवी मित्रा का 'नष्ट नीड़' भी नारी व्यथा की कथा है। उदयशंकर भट्ट ने 'नये मोड़' में व्यक्तिवादी सिद्धान्त पर जीवन की मान्यताओं का विवेचन किया है।

(६) ऐतिहासिक अथवा पौराणिक विषयों पर उपन्यास लिखनेवालों में वृन्दावन-लाल वर्मा, राहुल, चतुरसेन, रांगेय राघव, यशपाल आदि अनेक हैं। पौराणिकता की अपेक्षा इस दशक में ऐतिहासिकता ने अधिक आकर्षित किया है और यह आकर्षण यशपाल जैसे प्रगतिवादी लेखक को भी ललचा सका है। उन्होंने 'अमिता' में बौद्धकालीन वातावरण प्रस्तुत करते हुए अशोक के कलिंग विजय एवं हृदय-परिवर्तन के नये परिवेश प्रस्तुत किये हैं। वृन्दावनलाल वर्मा ने 'टूटे कांटे', 'अहिल्याबाई', माधव जी सिंधिया', 'भुवन विक्रम' आदि कई उपन्यास भेंट किये, किंतु 'लक्ष्मीबाई' व 'गढ़-कुण्डार' सी रोचकता व प्रौढ़ता नहीं प्राप्त हुई। चतुरसेन शास्त्री का 'सोमनाथ' महमूद गजनी के आक्रमण से सम्बन्धित है। शास्त्री जी ने 'वयं रक्षामः', शीर्षक वृहत् उपन्यास में प्राग्वेदकालीन जातियों के विस्मृत जीवन को कल्पना की उर्वर भूमि पर उपस्थित किया है, जिसमें नर, नाग, देव, दानव, वानर आदि के माध्यम से लेखक का गम्भीर अध्ययन भी प्रकट हुआ है। इ 'अतीत-रस' का उपन्यास कहा गया है। वसंतकुमार का 'बुद्धत्व की ओर' सामान्य ऐतिहासिक उपन्यास है। पहले से ही ऐतिहासिक धारा अति-शय सम्पन्न थी, अतः इस दशक में विशेष प्रगति नहीं दिखलाई पड़ती। (७) हास्य और व्यंग का परिष्कृत एवं बौद्धिक स्तर इस दशक में पिछले वर्षों की अपेक्षा अधिक प्रौढ़ है। अमृतलाल नागर का 'सेठ बांकेलाल' आगरा की जनपदीय भाषा में लिखित अत्यन्त श्रेष्ठकोटि की हास्य-व्यंग रचना है। (८) शिकार संबंधी उपन्यासों का अभाव है। (९) विज्ञान के इस युग में भी विज्ञान या वैज्ञानिक विषयों से संबंधित उपन्यासों का अभाव खटकता है। इलाचंद्र जोशी के 'जिप्सी' में मनिया का अमेरिका जाकर प्लास्टर

सर्जरी से अपना सारा शरीर सुडौल कर आना आदि विज्ञान के कुछ प्रासंगिक संकेत अवश्य प्राप्य हैं। चतुरसेन शास्त्री के 'खग्रास' में अवश्य ही विज्ञान का उपयोग हुआ है। (१०) प्रकीर्ण विषयों में भी छोटे बड़े अनेक उपन्यास लिखे गये हैं।

(आ) विचार : विचारों की दृष्टि से इस दशक ने सर्वाधिक सिद्धि प्राप्त की है। विषय विवेचन के लिए आज की सम्पूर्ण औपन्यासिक विचारधाराओं को दो स्थूल भागों में विभाजित कर सकते हैं— आदर्श एवं यथार्थ।

आदर्श में नैतिक आदर्शों को लेकर चलनेवाले उपन्यासकार आते हैं। यह धारा १९५२ के पूर्व अत्यन्त प्रौढ़ता प्राप्त कर चुकी थी, अतः इस दशक में इसका प्रणयन-लेखन अवश्य हुआ, किन्तु कोई नवीनता नहीं दिखलाई पड़ती। गांधी, अरविंद, सर्वोदय, भारतीयता आदि का आधार लेकर अनेक लेखकों ने आदर्शवादी उपन्यास लिखे। अनन्त गोपाल शेवड़े का 'ज्वालामुखी' इसी प्रकार का उल्लेखनीय उपन्यास है। गुरुदत्त और यज्ञदत्त की कुछ रचनाएं भी इसी श्रेणी में गृहीत होंगी। अतीत का गौरवमय चित्र प्रस्तुत करनेवाले वृन्दावनलाल वर्मा का कार्य इस दिशा में सराहनीय है।

यज्ञदत्त का 'निर्माण पथ' गांधीवादी सुधार के आदर्श को लिए है। राममूर्ति अंचल का 'सुमना' राजनीतिक तथा सामाजिक कथानक पर आधारित उपन्यास है। महेन्द्र मित्तल के 'भीगी पलकें' में एक स्वस्थ पारिवारिक जीवन का चित्र है। भगवती-प्रसाद वाजपेयी का 'गोमती के तट पर' एक सामाजिक, किन्तु दो परस्पर विरोधी चरित्रों से विकसित आदर्शवादी उपन्यास है। श्री वाजपेयी एक सफल और श्रेष्ठ उपन्यासकार हैं इस धारा के, किन्तु उनका मूल्यांकन सही–सही नहीं हो पाया है। इन्होंने प्रेमचंद धारा में एक विशिष्टता प्रस्तुत करके उसे चेतनाशील बनाये रखा है। वीरा के 'मौत का फूल' में कुण्ठा और पीड़ाओं से दमित तथा परिस्थितियों से भटका–मारा एक चरित्र आदर्शवादी ढंग से संभलता है। कंचनलता सब्बरवाल के 'नया मोड़' में सर्वोदयी आदर्श लिया गया है।

दूसरी धारा यथार्थ की है। इसमें चार प्रमुखरूप हिन्दी उपन्यास में बड़ी तेजी से ग्रहण किये गये— १. आदर्शोन्मुख यथार्थ, २. प्रकृतवादी यथार्थ, ३. अतियथार्थ और ४. मनोवैज्ञानिक यथार्थ।

आदर्शोन्मुख यथार्थ की प्रवृत्ति के कारण उपन्यास में राजा का स्थान प्रजा ने ले लिया। आदर्श और यथार्थ का समन्वय निभाते हुए प्रेमचंद ने सबसे पहले इस दिशा में एक मोड़ दिया था, वही विकसित होकर इस दशक में पनपा–फैला। चतुरसेन शास्त्री का 'मोती', प्रतापनारायण श्रीवास्तव का 'वंदना' तथा भगवतीप्रसाद वाजपेयी का 'रात और प्रभात' इसी कोटि की रचनाएं हैं। कमलेश्वर का 'एक सड़क सत्तावन गलियां' इस श्रेणी का एक सफल और प्रतिष्ठित उपन्यास है, जिसमें यथार्थवादी दृष्टिकोण लेकर कस्बे के जीवन को चित्रित किया गया है। शिवसागर मिश्र के 'दूब जन्म आई' में भी देहाती वातावरण लेकर यथार्थ व आदर्श का समन्वय है।

प्रकृतवादी यथार्थ की वृत्ति चरित्रप्रधान उपन्यासों में स्पष्टतः देखी जा सकती है। पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' के उपन्यासों ने अतियथार्थ से प्रकृतवादी यथार्थ की ओर प्रयाण किया है। उनका 'शराबी' बड़ा संतुलित उपन्यास है। 'फागुन के दिन चार' में भी उग्रजी ने अतियथार्थ की अपेक्षा प्रकृतवादी यथार्थ को ही बड़ी सचेष्टता से प्रस्तुत किया है। जैनेन्द्र ने इस विचारधारा को दूसरे रूप में ग्रहण किया। वे गांधीवादी विचारधारा से प्रभावित मनोविश्लेषण की प्रवृत्ति रखते हैं और अपने सैद्धांतिक आदर्शों में ही मर्यादित रहने के कारण वे इस दशक में कोई 'विशिष्ट' नहीं दे सके। सुनीता और कल्याणी की परम्परा का विकास ही इस दशक के 'सुखदा', 'विवर्त', और 'व्यतीत' में है। उनका 'जयवर्द्धन' तो एक बृहत्काय निबंधीय उपन्यास है जिसे पढ़ने के लिए पाठक के धैर्य और साहस की परीक्षा तक हो सकती है। प्रकृतवादी यथार्थ के अन्तर्गत प्रगतिवादी लेखकों ने दो रूप ग्रहण किये। यशपाल आदि ने मार्क्सवादी विचार लिया और रांगेय राघव आदि ने मार्क्सीय प्रभाववादी विचारों को मान्यता दी। राहुल जी मार्क्स से ही प्रभावित दिखते है, जबकि यशपाल मार्क्स और फ्रायड दोनों से। यशपाल ने 'अमिता' में इतिहास की पृष्ठभूमि पर यथार्थ को उभारा है। यशपाल वस्तुतः बौद्धिक यथार्थवादी हैं और उनका मतवाद उनके महान् कलाकार होने में बाधक है। इलाचन्द्र जोशी का 'जहाज का पंछी' इस दशा में नया परिवर्तन है। यह मनोवैज्ञानिक से सामाजिक यथार्थ की ओर दिशा संकेत करता है। इसमें एक शिक्षित बेकार युवक की कहानी है और भारतीय जीवन की कटु वास्तविकताओं का अंकन है। नागार्जुन ने अपने 'बलचनमा', 'नई पौध', और 'बाबा बटेसरनाथ' में गांवों तथा देहातों के जीवन के

सजीव अंकन किये हैं, किन्तु इनमें समाजवादी स्वर स्पष्ट है। भैरवप्रसाद गुप्त का 'गंगा मैया' में भी देहाती जीवन को प्रगतिवादी दृष्टिकोण से देखा गया है। रांगेय राघव ने 'हुजूर' में आज के शोषण और दारिद्र्य का चित्रण किया है। महेन्द्रनाथ ने 'आदमी और सिक्के' में यथातथ्यवादी चित्रण द्वारा युगसत्य को वाणी दी है।

मोहन राकेश का 'अन्धेरे बन्द कमरे' दिल्ली के विशाल केनवेश पर प्रकृत यथार्थ का चित्र है, जिसमें सचमुच ही सम्पूर्ण वातावरण घुटा-घुटा सा सचोट मार करता है। राजेन्द्र यादव का 'प्रेत बोलते हैं' में निम्नमध्यवर्ग के एक शिक्षित युवक के एक जीवन की विवशताएं हैं तथा 'उखड़े हुए लोग' में युद्धोत्तरकालीन स्त्री-पुरुष के बिगड़ते-बनते सम्बन्धों का चित्रण है। अमृतराय ने 'बीज' में प्रगतिशील चेतना को अभिव्यक्ति दी है। अश्क भी जोला की भांति यथार्थवादी हैं, किन्तु यथातथ्यवाद के कारण एक व्यंजित प्रेरणाबिन्दु का अभाव इनके उपन्यासों में है।

अतियथार्थ या नग्नवाद को अंग्रेजी में 'सररियलिज्म' कहा जाता है। इस प्रकार के उपन्यासों का इस दशक में अभाव है। द्वारकाप्रसाद तथा हिमांशु श्रीवास्तव आदि ने नग्नतथ्य देखने के प्रयत्न किये हैं। दीपक, आवारा, कांत आदि के सस्ते उपन्यासों में इसी विचारधारा को प्रश्रय मिला है, किन्तु इनमें से बहुसंख्यक उपन्यासों को श्रेष्ठ साहित्यिक कोटि में रखते संकोच होता है। शैलेश मटियानी का 'बोरीवली से बोरीबंदर तक' एक कुत्सित व अश्लीलता का नग्नवादी यथार्थ लिए उपन्यास है। राजेन्द्र यादव के 'कुलटा' में भी अश्लील और अतिवास्तविक तथ्य देखे जा सकते हैं, जो वस्तुतः अवास्तविक हो गए हैं। नग्नवाद के उपन्यासों से यह दशक बचा रहा, यह बड़ा ही शिव संकेत है।

मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद बाह्यजगत् की उपेक्षा मनोविश्लेषण या आंतरिक भावनाओं के स्पष्टीकरण का विशेष आग्रह रखता है। इसमें ग्रन्थि, काम, अहम्, कुण्ठाएं आदि अनेक मनोविकारों का आधार लेकर मानव-मन की जटिलताओं का रहस्योद्घाटन किया जाता है। इस दशक में मनोवैज्ञानिक यथार्थ के अनेक प्रौढ़ उपन्यासों का सृजन हुआ है। जैनेन्द्र के 'विवर्त' की भुवनमोहिनी अपने पति नरेश का विश्वास पाकर निराशा और आहत जितेन के मन की गांठ खोलती है और 'व्यतीत' में जयन्त अहंभाव के कारण

अनिता पर आसक्त है इसी कारण वह किसी भी नारी से मधुर प्रेम समर्पण नहीं स्थापित कर सकता। मनोविज्ञान में जैनेन्द्र से आगे बढ़नेवाले अज्ञेय हैं किन्तु इस दशक में प्रकाशित 'अपने अपने अजनबी' मे विदेशी पात्रों से व्यक्तिवादी भावनाओं के मनोरम भावपरिवर्तन ही प्रस्तुत हुए हैं, फिर भी इस उपन्यास की दृष्टि एक नये बीज का संकेत करती है। इलाचन्द्र जोशी का 'जिप्सी' नवीन युग की जागरूक चेतना का प्रतीक है। वहां मनिया का विकास दिखलाने के लिए परम्परागत अहं का ह्रास दिखलाया है। जोशीजी के 'जहाज के पंछी' में भी आधुनिक रोगग्रस्त मध्यमवर्ग की चेतना दिखलाई है। डा० देवराज के 'बाहर–भीतर' उपन्यास का मूल कुण्ठा है। इनकी 'अजय की डायरी' शैलीगत विशिष्टता रखते हुए भी मनोविज्ञान की सूक्ष्मता को स्पर्श करती है। लक्ष्मीनारायण लाल का 'काले फूल का पौदा', गिरधरगोपाल का 'चांदनी के खण्डहर' राजेन्द्र यादव का 'शह और मात', मन्मथनाथ गुप्त का 'देख कबीरा रोया' आदि उपन्यास भी इसी श्रेणी के हैं। यादवेन्द्र शर्मा चन्द्र की 'गुनाहों की देवी' को भारती के 'गुनाहों के देवता' के नाम-साम्य से ही अवहेलना नहीं की जा सकती, भारती की अपेक्षा चन्द्र ने अधिक सूक्ष्मता और प्रभाव–सकलन प्रस्तुत किया है। इस उपन्यास में राजस्थानी नारी की विवशता बड़े चित्रात्मक ढंग से है। नरेश मेहता का 'डूबते मस्तूल' में एक सामान्य नारी का चित्रण बड़े असामान्य धरातल पर हुआ है। शिष्ट मानसिक हलचल का उपन्यास 'पानी की दीवार' (रजनी पनिकर) है।

इस प्रकार इस दशक में मानसिक क्रियाओं और विविध यथार्थवादी भूमिकाओं को अधिक महत्त्व मिला है ।

(इ) शिल्प : नूतन जीवन-सत्यों को अभिव्यक्ति देने के लिए साहित्य में नई शैलियों का निर्माण करना पड़ता है। यह दशक शिल्प प्रयोग की दृष्टि से भी धनी है। परम्परागत शैलियों के निर्वाह के अतिरिक्त अन्य अनेक नई टेकनिक भी प्रयुक्त की गई हैं।

शिल्प की दृष्टि से 'आंचलिकता' एक दिशा की ही उपलब्धि है। प्रादेशिक या आंचलिक भाषाओं की शब्दावली लेकर समष्टि का चित्र प्रस्तुत करनेवाले उपन्यासों का श्रीगणेश और विकास इस दशक का प्रदेय है। 'मैला आंचल' तथा 'परती परिकथा' की चर्चा पहले आ चुकी है। कुछ उपन्यासकारों ने इस शैली का स्पर्श-मात्र ही अपनी कृति

को दिया और कुछ ने संपूर्ण रूप से उसे अपनाया है। राजेन्द्र अवस्थी का 'सूरज किरन की छांव', शैलेश मटियानी का 'हवलदार', रामदरश मिश्र का 'पानी के प्राचीर' देवेन्द्र सत्यार्थी का 'ब्रह्मपुत्र', अमृतलाल नागर का 'सेठ बांकेमल', उदयशंकर भट्ट का 'सागर लहरें और मनुष्य' आदि अनेक उपन्यास इसके उदाहरण हैं।

लोक–आख्यान की भांति विविध कहानियों में सम्बद्ध उपन्यासों के शिल्प-प्रयोग भी इस दशक में हुए हैं। भारती का 'सूरज का सातवां घोड़ा' इस दृष्टि से एक नई रचना है। वहां एक व्यक्ति माणिक मुल्ला द्वारा कही गई छः स्वतन्त्र–सी लगनेवाली कहानियों में संबंधसूत्र स्थापित करके उपन्यास सृजित किया गया है, किन्तु उद्देश्य के रूप में जोड़ा गया अन्तिम परिच्छेद शेष उपन्यास से विलग–सा लगता है, जो उपन्यास को श्रेष्ठ कोटि का नहीं होने देता। शिवप्रसाद रुद्र के 'बहती गंगा' में भी अनेक कहानियां ही है, किन्तु दो–सौ वर्षों की जीवनधारा को जिस सजीवता व एकता व तटस्थता से यहां प्रस्तुत किया गया है, वह 'सूरज का सातवां घोड़ा' उपन्यास में नहीं है।

काल–शिल्प की दृष्टि से भी उपन्यास में कुछ प्रयोग द्रष्टव्य हैं। समय की अन्विति कहानी का एकांकी की प्रमुख विशेषता के रूप में प्रतिष्ठित है, किंतु गिरधरगोपाल ने 'चांदनी के खण्डहर में' केवल चौबीस घण्टे की ही घटनाओं का संकलन किया है। इसी प्रकार 'सोया हुआ जल' केवल एक रात अर्थात् १२ घण्टे का ही उपन्यास है, जहां डाक-बंगले में उतरे हुए मुसाफिरों की रात्रि की जिन्दगी का वर्णन इस उपन्यास में है। इस उपन्यास के शिल्प को 'सिनेरियो-टेकनिक' भी कहा जा सकता है।

'सम्रास' को औपन्यासिक फीचर कहना चाहिये। 'व्यतीत' की शैली आत्मकथा-त्मक है और 'जहाज का पंछी' में भी कथानायक स्वयं ही अपनी कथा प्रस्तुत करता है। 'अजय की डायरी' को हम डायरी को हम डायरी व पत्र पद्धति के उपन्यासों में एक सिद्धि कह सकते हैं। अज्ञेय की शैली भी मौलिक है। 'सुहाग के नूपुर', 'बारहखंभा', 'एक इंच मुस्कान', आदि अन्य उपन्यास भी शिल्प की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है।

निष्कर्ष

इस प्रकार इस दशक के विविध उपन्यासों से स्पष्ट है कि हिंदी-उपन्यास एक नई दिशा की ओर मुड़ रहा है और उसमें स्वस्थ सामाजिक प्रवृत्ति के साथ साथ यथार्थ

के नये स्तर भी विकसित हो रहे हैं। हिंदी-उपन्यास के नये आयाम जो बन रहे हैं उनमें एक तरफ जीवन की गहरी अनुभूति है और दूसरी तरफ पश्चिम की नकल व मोन-आकर्षण है। मार्क्स, फ्रायड आदि की वैचारिक भूमिका का जहां तक संबंध है, वहां तक तो उचित दिशा-प्रमाण है, किंतु इन महान् लोगों के नाम पर कुत्सित व अश्लील भाव-धाराओं का आगमन आशंकित भविष्य का सृजन करता है, पर अब यह मोड़ दूसरी तरफ मुड़ रहा है अतः स्वस्थता सभवतः आयेगी। इस दशक में व्यक्ति-सत्य और समष्टि-सत्य को समानान्तर चलने के सुयोग प्राप्त हुए हैं एवं उपन्यासकार व्यक्ति के आंतरिक मनोविकारों को भी महत्ता देता है तथा वाह्य नियामक शक्तियों के निर्देश करने के लिए प्रयत्नशील है। व्यष्टि व समष्टि के समन्वय के भी अंकुर बड़े सजीव दिखलाई पड़ रहे हैं, किन्तु इस दशक के उपन्यासों में सशक्त चरित्र का अभाव खटकता है। इन उपन्यासों को पढ़ने के बाद होरी, चित्रलेखा, आम्रपाली, सुनीता, बाणभट्ट, शेखर आदि अनेक अमर व अमिट पात्रों जैसा कोई नाम स्मृति-पटल पर अंकित नहीं होता। यदि यथार्थ भूमि पर समाज एवं व्यक्ति का समन्वय करते हुए कोई श्रेष्ठ चरित्र भी प्रस्तुत हो सका तो उपन्यास-साहित्य के भविष्य में एक और कदम हिंदी, बढ़ा सकेगी— 'बून्द और समुद्र', मैला आंचल,' 'उखड़े हुए लोग', 'जहाज का पंछी', 'अपने अपने अजनबी', 'एक सड़क सत्तावन गलियां', 'सती मैया का चौरा', 'अजय की डायरी', 'धरती मेरा घर', 'चांदनी के खण्डहर;— आदि में हिन्दी उपन्यास के भावीस्वरूप निहित हैं।

संक्षेप में, इस युग की उपलब्धियों को निष्कर्ष रूप में यों प्रस्तुत किया जा सकता है :—

१. शैली की दृष्टि से यह अत्यन्त सम्पन्न दशक है। इसमें साध्य की अपेक्षा साधन को अधिक महत्त्व मिला है।

२. प्रेमचंद के 'गोदान" के बाद इस दशक में उसी के समकक्ष एक महान् उपन्यास हमें प्राप्त हुआ है— रेणु का "मैला आंचल।"

३. प्रेमचन्द के उपन्यास स्थूल, बहिर्मुखी, वर्णनप्रधान, कथाविस्तारवादी, वर्गपात्रयुक्त आदि से ग्रसित होते हुए भी प्रेमचंद की अपनी प्रतिभा एवं कलात्मकता से उत्कर्ष रूप प्राप्त कर सके; परन्तु इस महान् कलाकार के वर्षों बाद नये परिवेश में

प्रस्तुत की जानेवाली नई उपलब्धि 'परती परिकथा' हमें इसी दशक में प्राप्त हुई।

४. 'अपने अपने अजनबी' एक नया माइलस्टोन मिला है।

५. कथानकों में मनोविज्ञान की प्रधानता वस्तु जगत के स्थान पर अंतर्जगत् के आग्रह प्रधाण है।

६. मानवतावादी भावना के स्थान पर व्यक्तिवादी भावना और राष्ट्रीय-सामाजिक भावना की जगह आंचलिकता नवीन प्रदेय है। व्यापक जीवन–चित्रण के स्थान पर संकीर्ण सीमाए ग्रहण की जा रही हैं।

अन्त में, मुझे लगता है कि हिन्दी उपन्यास- साहित्य का भविष्य अत्यन्त उज्ज्वल है। भविष्य का उपन्यास व्यक्तिवादी कुण्ठाओं से ऊपर उठ कर सहज स्वाभाविक प्रणय–भाव को लेकर एक विश्व-संस्कृति का निर्माण करने में संलग्न होगा, जहां चरित्र विश्व-नागरिक-सी सार्वजनिन भूमिका पर प्रस्तुत होंगे। वर्तमान चीनी आक्रमण संभवतः किसी अप्रतिम रचना के जन्म का कारण बने। इस दशक की अनेक न्यूनताओं के होते हुए भी हमारी उपलब्धि श्रेष्ठ है और हम पूर्ण आशान्वित हैं। किसी भी साहित्य को विश्व-साहित्य के स्तर तक पहुँचने के लिए ४०–५० वर्षों का समय कम होता है किन्तु जो आशातीत उन्नति हमने की है, वह निश्चय ही प्रथम श्रेणी की एव गतिशील कही जावेगी।

लालबहादुर सिंह

हिन्दी कहानी : पिछला दशक

प्रगति और परम्परा जीवन तथा साहित्य दोनों ही की विशेषताएं हैं। ये दो तत्व दोनों के ऐतिहासिक विकासक्रम में स्पष्ट परिलक्षित होते हैं। ऐसा कभी और कहीं भी देखा नहीं गया कि वर्तमान अतीत से पूर्णतः विलग होकर आगे बढ़ा हो। निश्चित रूप से वर्तमान जीवन या साहित्य विगत परम्परा या प्रगति का ऋणी होता है; प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में दोनों ही न्यूनाधिक प्रभावित होते हैं। प्रत्येक विकास का एक सुनिश्चित इतिहास होता है, एक शृंखला होती है, युग की परिस्थितियों का प्रभाव होता है। "हिन्दी कहानी— पिछला दशक" इस तथ्य का अपवाद नहीं।

वस्तुतः हिन्दी कथा साहित्य बीसवीं शताब्दी की देन है किन्तु भारतीय कथा-साहित्य की परम्परा, उसका इतिहास उतना ही प्राचीन है जितना मानव-विकास का। भारतीय वाङ्मय ही नहीं, विश्व-साहित्य में यह तथ्य सम्यक् रूप से उपलब्ध है। काव्य के साथ-साथ कथा-साहित्य भी किसी न किसी रूप में अति प्राचीन काल से प्राप्त है। कथा कहना और सुनना मानव मात्र की सहज प्रवृति है। अतः इसकी परम्परा मानव-विकास की परम्परा से सुसम्बद्ध है। परन्तु विभिन्न युगों में कथा का स्वरूप भिन्न-भिन्न रहा है। यों सर्व प्रथम कथा-साहित्य का बीज विश्व के प्राचीनतम ग्रन्थ ऋग्वेद में उपलब्ध होता है,

तदन्तर बौद्ध, जैन-साहित्य, संस्कृत-साहित्य एवं अपभ्रंश साहित्य में इसका विकसित स्वरूप दृष्टिगत होता है। मध्य युग में इसकी परम्परा प्रेमाख्यानक कथाओं के रूप में विकसित हुई। इस प्रकार प्राचीन भारतीय वाङ्मय कथाओं से पूर्ण है।

भारतीय कथा-साहित्य की परम्परा अति प्राचीन होते हुए भी 'हिन्दी-कहानी' आधुनिक युग की देन है परिवर्तन पद्धति के अनुसार प्रत्येक वस्तु का स्वरूप युग विशेष में परिवर्तित होता रहता है। अतः शिल्प-विधान, कथा-वस्तु, भाषा-शैली, वातावरण-चित्रण एव कला की दृष्टि से आधुनिक कहानियाँ प्राचीन कथाओं से सर्वथा भिन्न हैं। परिवर्तित जीवन क्रम एवं परिवेश के अनुरूप कहानी की कला एवं शिल्प विधान में पर्याप्त भेद दृष्टिगोचर होता है। युग-विशेष की कहानियाँ अपनी अलग-अलग विशेषताएं रखती हैं। अतः पिछले दशक के कथा पर दृष्टिपात करने के पूर्व उसकी शृंखला जोड़ने के निमित्त हिन्दी कहानी के विकास पर विहंगम दृष्टिपात अपेक्षित है। कारण पिछले दशक में लिखने वाले दर्जनों कहानीकार ऐसे हैं जो पचीस या तीस वर्षों से सतत लिखते आ रहे हैं। अतः उनकी शैली एवं शिल्प विधि से परिचय प्राप्त करने एवं नये लेखकों से उनका भेद स्पष्ट करने के लिए पूर्व शृंखला की अपेक्षा है।

आधुनिक हिन्दी कहानी का विकास यद्यपि भारतेन्दु युग से प्रारम्भ हो चुका था, परन्तु कहानी कला की दृष्टि से इसका विकास सरस्वती के प्रकाशन के साथ ही प्रारम्भ हुआ। इस पत्रिका का हिन्दी कहानी के मौलिक कलात्मक विकास में अपूर्व योगदान रहा है। इसी समय कथा-सम्राट प्रेमचन्द और श्री जयशंकर प्रसाद का आविर्भाव हिन्दी कहानी के क्षेत्र में हुआ। इन दोनों मनीषियों ने हिन्दी कथा-साहित्य के विकास में अपरिमित योग दिया। इसके विकास की दिशा में इन्हीं की साधना फलीभूत हुई। ये दो कहानीकार नहीं थे वरन् दो महान कथा-शिल्पी-संस्थान निर्माता थे जिनकी छत्र-छाया में अनेक प्रतिष्ठित कहानीकारों ने कहानी-कला के विकास में सहयोग प्रदान किया और अपनी महत्वपूर्ण रचनाओं से हिन्दी कथा-साहित्य-कोष को समृद्ध किया। प्रेमचन्द मूलतः आदर्शोन्मुख यथार्थवादी परम्परा के सबसे समर्थ लेखक थे। इनकी कहानियों में जन-जीवन की वाणी मुखरित हुई है। परन्तु प्रसाद भावमूलक परम्परा के अधिष्ठाता थे। इनकी कहानियों में प्रेम, करुणा, आनन्द एव आदर्श की प्रमुखता है। इनकी भावगत प्रवृतियों पर संस्कृति, इतिहास, कल्पना की अमिट छाप है। समग्र रूप में दोनों ही

भावगत प्रवृतियों की दृष्टि से आदर्शवादी परम्परा में आते हैं अन्तर इतना ही है कि प्रसाद की कहानियों का सूत्र इतिहास और कल्पना प्रसूत है तो प्रेमचन्द के कथा-सूत्र में विराट मानव समाज की संवेदना का मंगल रूप परिलक्षित होता है। दोनों कहानीकारों की परम्परा में लिखने वाले अनेक ऐसे कहानीकार आते हैं जो आज भी अपनी लेखनी से मां भारती के लिए कुछ रचते हैं और उसकी श्रीवृद्धि करते हैं। प्रसाद-परम्परा के समर्थ लेखक हैं श्री चतुरसेन शास्त्री, विनोदशंकर व्यास, रायकृष्णदास आदि, और प्रेमचन्द की परम्परा को आगे बढ़ाने का श्रेय है कौशिक, सुदर्शन, वृन्दावनलाल वर्मा, भगवती प्रसाद वाजपेयी, शिवपूजन सहाय, चन्द्रगुप्त विद्यालंकार।

उपर्युक्त दोनों परम्पराओं के अतिरिक्त संक्रान्ति युग में अनेक नई परम्पराओं ने जन्म ग्रहण किया। मनोविज्ञान, द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद, एवं यौनवाद का आधुनिक हिन्दी कहानी पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा। हिन्दी कथा साहित्य का नवोन्मेष हुआ किन्तु दृष्टिकोण युग-सापेक्ष ही रहा। प्रेमचन्द की भांति इनका जीवन दर्शन, साहित्य-सृजन बहुजन हिताय बहुजन सुखाय नहीं। युग के परिवर्तित परिवेश के कारण इनकी मान्यताएं विभिन्न हैं और दृष्टिकोण भी सूक्ष्म तथा व्यापक है। इनकी कहानियां चरित्र-निष्ठा एवं मानव-संवेदना पर आधारित हैं। अन्तर्मन में झांकने का प्रयास इनकी साधना के मूल में है। मनोविश्लेषणात्मक पद्धति से स्त्री-पुरुष, पाप-पुण्य और नैतिकता-अनैतिकता का विवेचन एवं मूल्य निर्धारण करने का प्रयास इन कहानीकारों ने किया है। इस परम्परा के वरिष्ठ लेखक हैं जैनेन्द्र। अज्ञेय, इलाचन्द्र जोशी इस पद्धति को विकसित करने वाले हैं।

इसी युग में फ्रायड से प्रभावित यौनवादियों एवं मार्क्स से प्रभावित साम्य-वादी प्रवृति के लेखकों ने यौन-समस्या एवं सामाजिक-आर्थिक विषमता को अपनी कहानियों में स्थान दिया। इसकी स्वस्थ परम्परा के लेखकों में ख्वाजा अहमद अब्बास, कृशनचन्दर आदि का नाम उल्लेखनीय है। अज्ञेय, जोशी और अश्क ने भी इसी स्वस्थ परम्परा को ही अपनाया। किन्तु यशपाल एवं पहाड़ी ने नग्न यथार्थवाद का उच्छृंखलता-पूर्ण चित्र अंकित किया है। मंटो और असमत में यद्यपि स्थूलता है पर शिल्प की दृष्टि से दोनों ही अत्यन्त सूक्ष्म एवं कुशल कहानीकार हैं। साम्यवादी परम्परा के लेखकों एवं 'उपरोक्त लेखकों के अलावा रांगेय राघव, राहुल जी, अमृतलाल नागर आदि विशेष उल्लेखनीय हैं।

पूर्वोक्त पृष्ठभूमि में ही पिछले दशक के कथा-साहित्य का मूल्यांकन यथार्थ रूप में संभव है। कारण पिछले दशक के अनेक नये कहानीकार संक्रान्ति युग के कहानीकारों एवं उनकी शैली से प्रभावित हैं यद्यपि उनकी दृष्टि एवं शिल्प-विधि में पर्याप्त नवीनता है। वास्तव में हिन्दी कहानी के पिछले दशक का प्रारम्भ स्वतंत्र किन्तु परिवर्तित परिवेश में हुआ। १९४७ ई० में स्वतंत्रता की प्राप्ति के उपरान्त भारतीय जीवन में सामाजिक, धार्मिक, बौद्धिक एवं नैतिक परिवर्तन हुए परन्तु अनेक समस्याएं और उलझनें भी सामने आईं। परिवर्तित परिवेश का कथा-साहित्य पर भी पर्याप्त प्रभाव पड़ा जिसे परोक्ष या प्रत्यक्ष रूप में देखा जा सकता है। अतः कहानियों में जहां एक ओर स्वतंत्रता, ऐक्य, मानवतावाद एवं देश-प्रेम की भावना की अभिव्यक्ति हुई वहां दूसरी ओर निराशा, असंतोष, विषमता, कुंठा, दमित वासना के सूक्ष्मातिसूक्ष्म चित्र उपस्थित किए गये। कथ्य की दृष्टि से विविधता एवं सूक्ष्मता इस खेमे के कहानीकारों में स्पष्ट द्रष्टव्य है, साथ ही शिल्प-विधि में नये-नये प्रयोग भी प्रत्यक्ष हैं। इस खेमे के लेखकों और उनकी कहानियों पर पाश्चात्य-साहित्य के जिन लेखकों का प्रभाव है उनमें प्रमुख हैं रूसी साहित्य के प्रमुख कथाकार चेखव, टालसटाय, गोर्की आदि, अमेरिकी साहित्य के ओ० हेनरी स्टीनबेक अर्नेस्ट हेमिंग्वे, जान डास, पेसोज आदि। मोपासां की व्यंगात्मक शैली का भी आधुनिक कहानीकारों पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। नये कहानीकारों को विशेष प्रभावित किया है अमेरिकी कहानीकारों ने। अंग्रेजी कथा-साहित्य के ख्यातिप्राप्त लेखक सोमरसेट मांम, डी० एच० लारेन्स आदि ने हिन्दी कहानी कला पर अपना कम प्रभाव नहीं डाला है।

विविध प्रभावों के उपरान्त भी आधुनिक हिन्दी कथा-साहित्य और विशेषतः पिछले दशक का अपना विशेष महत्व है। पिछले दशक में अनेक पूर्ववर्ती युग के कथाकारों ने अपनी सतत साधना से साहित्य की इस विधा को समृद्ध बनाया। साथ ही अनेक नये कहानीकारों का प्रादुर्भाव हुआ जिनकी सूक्ष्म दृष्टि, निर्भीकता एवं व्यापक अनुभव द्वारा हिन्दी-कथा शिल्प एवं कला में पर्याप्त परिवर्तन एवं परिवर्द्धन हुआ। इस युग के कहानी-साहित्य में इतनी विविधता परिलक्षित होती है कि शिल्प-विधान और कथा-वस्तु की दृष्टि से सूक्ष्म विवेचन प्रस्तुत करना एक जटिल कार्य है'। अस्तु, सामान्य अध्ययन एवं जानकारी के लिए इस दशक के कहानीकारों को दो वर्गों में विभाजित कर सकते हैं :—

(क) पुरानी पीढ़ी के कहानीकार।

(ख) नवीन एव नवीनतम पीढ़ी के कहानीकार।

पुरानी पीढ़ी के कहानीकारों में अग्रगण्य हैं जैनेन्द्र, अज्ञेय, इलाचन्द्र जोशी, भगवतीचरण वर्मा, चतुरसेन शास्त्री, यशपाल, रांगेय राघव, चन्द्रगुप्त विद्यालंकार आदि। ये कहानीकार पिछले दशक के पूर्व से ही हिन्दी कथा-साहित्य को समृद्ध करते आ रहे हैं। ये सब लगभग संक्रान्ति-युग के लेखक हैं और अपनी प्राचीन शैली एवं परम्परा में लिखते आ रहे हैं। युग का बदलता हुआ परिवेश, सौन्दर्य-बोध और समसामयिकता से इनकी कहानियां उतनी प्रभावित नहीं। किसी में दर्शन और मनोविज्ञान की प्रधानता है तो कोई येनवाद का पल्ला पकड़कर अग्रसर होता है। कुछ लेखक सामाजिक विषमता और वर्ग-भेद के पर्दाफास में संलग्न हैं तो कुछ स्त्री-पुरुष के सम्बन्धों के सूक्ष्म विवेचन में।

इस पीढ़ी के समर्थ लेखकों में जैनेन्द्र का स्थान प्रमुख है। इनकी कहानियां मूलत: दर्शन और मनोविज्ञान पर आधारित हैं। विविध शैलियों का सफल प्रयोग इनकी कहानियों में मिलता है। पाठकों की जिज्ञासावृत्ति को जागृत कर उसे अतृप्त रख कहानियों का गोपनीय, अस्पष्ट अन्त इनकी कहानी कला की विशिष्टता है। कहानियों का कथ्य व्यापक जीवन और उसके दार्शनिक एवं नैतिक मूल्यों पर आधारित रहता है। इनके पश्चात इस वर्ग के सबसे अधिक ख्यातिप्राप्त लेखक हैं अज्ञेय। ये विशुद्ध मनोवैज्ञानिक कहानीकारों के प्रतिनिधि हैं। जीवन के विविध पहलुओं का सूक्ष्म विश्लेषण और विवेचन इनकी कहानियों की विशेषता है। इनके पात्र अहंवादी, विद्रोही होते हैं परन्तु उनमें संकीर्णता नहीं उदारता और उदात्तता रहती है। वास्तव में इस खेमे के लेखकों में इनकी लोकप्रियता और ख्याति सर्वाधिक है। अनुभूति की गहराई, एकान्त प्रभाव एवं कलागत नवीन प्रयोग इनकी कहानियों की विशेषता है।

इन दो विशिष्ट लेखकों के अतिरिक्त इलाचन्द्र जोशी और यशपाल का भी पुराने खेमे के लेखकों में प्रमुख स्थान है। इलाचन्द्र जोशी की कहानियाँ मनोविज्ञान के धरातल पर बौद्धिकता की छाप लिए होती हैं। इनकी मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति के दो पहलू स्पष्ट दृष्टिगत होते हैं। प्रथम मध्यवर्ग के जीवन की विश्लेषणात्मक समीक्षा और द्वितीय

व्यक्ति के ग्रहंभाव पर प्रहार। बाह्य एवं ग्रन्तर्जगत का ग्रभूतपूर्व सामन्जस्य इनकी कहानियों में उपलब्ध होता है। यशपाल की कहानियों में मनोविज्ञान, द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के साथ फ्रायड के योनवाद का संश्लिष्ट रूप प्राप्त होता है। एक ग्रोर व्यक्ति ग्रोर समाज दोनों का चित्रण इनकी कहानियों में मिलता है तो दूसरी ग्रोर स्त्री–पुरुष के सीमित एवं व्यापक सम्बन्धों का सूक्ष्म विवेचन भी। इनके ग्रलावा सामाजिक यथार्थ की पृष्ठभूमि मे लिखने वाले कहानीकारों में रांगेय-राघव, ग्रमृतलाल नागर, ग्रश्क, पहाड़ी ग्रादि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। रांगेय-राघव इसी पीढ़ी के लेखक है किन्तु पिछले दशक में इनके द्वारा लिखी गई कहानियां शिल्प ग्रोर कथानक की दृष्टि से काफी मंजी हुई हैं। इनकी 'गदल' कहानी हिन्दी की सर्वश्रेष्ठ कहानी घोषित की गई है। इन्हीं की परम्परा में लिखनेवाले कहानीकारों में ग्रमृतराय, बलवन्तसिंह गार्गी, कर्तारसिंह दुग्गल ग्रोर कन्हैयालाल मिश्र ग्रादि ग्राते हैं। कथानक, शिल्प-विधान, शैली चरित्र, वातावरण के ग्रनोखे चित्रण के कारण इनका ग्राधुनिक हिन्दी कथाकारों में महत्वपूर्ण स्थान है। ग्रमृतलाल नागर की शैली व्यंग प्रधान एवं चुभने वाली है। ग्रश्क जी प्रेमचन्द की परम्परा के लेखक हैं। सामाजिक विषमता ग्रोर कटु यथार्थ की ग्रभिव्यक्ति इनकी कहानियों में हुई है।

उपर्युक्त विविध धाराग्रों एवं शैलियों के ग्रलावा हिन्दी कहानी की एक प्रमुख धारा ग्रोर है, वह है मानव विकास की ऐतिहासिक व्याख्या करनेवाली धारा। इसके समर्थ लेखक हैं महापण्डित राहुल सांकृत्यायन ग्रोर डा० भगवतशरण उपाध्याय। राहुल जी की रचना 'वोल्गा से गंगा' इस परम्परा की ग्रमर कृति है।

पुराने खेमे के लेखकों के ग्रलावा नई पीढ़ी के कहानी लेखकों की एक बहुत बड़ी संख्या है जिनकी साधना ग्रोर उद्योग से हिन्दी कहानी का पिछला दशक पूर्ण समृद्ध हुग्रा है। सब लेखकों की चर्चा एक छोटे निबन्ध में संभव नहीं, ग्रतः विशिष्ट कहानीकारों का सामान्य विवेचन ही समुचित होगा। वास्तव में इस दशक की कहानियों में कला एवं शिल्प-विधान की दृष्टि से ग्राश्चर्यजनक परिवर्तन ग्रोर वैविध्य दृष्टिगोचर होता है। कारण युग का जितना बौद्धिक दृष्टिकोण जीवन के प्रति हुग्रा, उतनी ही बौद्धिकता कथा की परिभाषा के रचना-कौशल ग्रोर शिल्प-विधान के प्रति प्रकट हुई। ग्रतः इस दशक के

कहानीकारों द्वारा स्वतन्त्र निर्माण–शैली और शिल्प-विधि का प्रयोग किया गया। फलस्वरूप जहां एक ओर वार्ता, दृष्टान्त, सांकेतिक, और प्रतीकात्मक शैलियां अपनाई गईं वहां दूसरी ओर डायरी, आत्मकथात्मक पत्रात्मक, रूपकात्मक शैलियां हमारे समक्ष आईं। इन विविध शैलियों में लिखने वाले अनेक नये कहानीकार इस दशक में आए जिनमें प्रमुख हैं— राजेन्द्र यादव, मोहन राकेश, कृश्नचन्दर, धर्मवीर भारती, डा० लक्ष्मी-नारायण लाल, डा० शिव प्रसाद सिंह, अमृतराय, हिमांशु जोशी, विष्णु प्रभाकर, निर्गुण, मार्कण्डेय, अश्वास, मटियानी, आनन्द प्रकाश जैन मनहर चौहान, निर्मल वर्मा, कमलेश्वर, फणीश्वर रेणु, राजेन्द्र अवस्थी, आदि।

इस पीढ़ी के कहानी लेखकों में राजेन्द्र यादव अत्यधिक लोक प्रिय एवं मंजे हुए हैं। इनकी कहानियों का संग्रह "जहां लक्ष्मी कैद है" 'छोटे-छोटे ताजमहल और अन्य कहानियां" और "एक पुरुष एक नारी" शीर्षक से प्रकाशित हैं। "छोटे-छोटे ताजमहल और अन्य कहानियां" शीर्षक संग्रह में संकलित कहानियों में यादव जी की कहानियों की सारी विशेषताएं एक साथ उपलब्ध हो जाती हैं। विविध परिवेश, व्यक्ति एवं घटनाओं के आधार पर लिखी गई ये कहानियां आधुनिक कहानी परम्परा को एक नया अर्थ और एक नया मोड़ देने में पूर्ण समर्थ हैं। राजेन्द्र यादव की इधर की कहानियों में शिल्प की नवीनता और शैली की अपनी विशिष्टता तो है परन्तु भाषागत अखण्ड प्रवाह का अभाव सदा खटकता है। अंग्रेजी भाषा के शब्दों का प्रयोग कहानी के प्रवाह में बाधक है।

इसी पीढी के दूसरे ख्याति प्राप्त एवं सफल कहानीकार हैं मोहन राकेश। 'इन्सान के खंडहर', एक और जिन्दगी, नये बादल, जानवर और जानवर प्रसिद्ध कहानी संग्रह हैं। व्यापक जीवन की सूक्ष्म एवं गहरी अनुभूति की सहज अभिव्यक्ति इनकी कहानियों में मिलती है। बदलते हुए जीवन एवं उसके परिवेश का यथावत चित्रण में राकेश जी सिद्धहस्त हैं। इनकी कहानियों में एकात्मक प्रभाव एवं निर्भिकता उपलब्ध होती है। नवीन दृष्टि और कलात्मक सिद्धि की अपेक्षा सर्वत्र है।

नई पीढ़ी के कहानीकारों में अति प्रिय एवं विशिष्ट कथाकार हैं कृश्नचन्दर। ये प्रगतिशील दृष्टि के लेखक हैं। इनकी कहानियों में जीवन एवं जगत के विविध पक्षों के

सजीव चित्र अंकित हैं। भारतीय जन-जीवन की आत्मा इनकी कहानियों में मुखरित हुई है। शैली चुभनेवाली और अत्यन्त प्रभावोत्पादक है। नवीन भावबोध और युग चेतना इनकी कहानियों में मुखरित है। इनके प्रमुख कहानी-संग्रह हैं— गरजन की एक शाम, काला सूरज, घूंघट में गोरी जले आदि। धर्मवीर भरती भी इस खेमे के एक प्रसिद्ध कहानीकार हैं। इनकी कहानियाँ कला और शिल्प की दृष्टि से पूर्णतः नवीन हैं। समर्थ लेखनी से प्रभावपूर्ण चित्रण इनकी कहानियों की विशेषता है। अमृतराय की कहानियाँ प्रगतिशील विचारधारा की परिचायिका हैं। जन-जीवन क्षेत्र से ये अपनी कहानियों की घटनाएं चुनते हैं और प्रवाहपूर्ण शैली में उनका सम्बन्ध निर्वाह करते हुए कहानियों का अंत करते हैं। जीवन के वैविध्यपूर्ण चित्र और कलात्मक वारीकी इनकी कहनी-कला की विशेपता है। इनके प्रमुख कथा-संग्रह है— भोर से पहले, तिरंगे कफन, नूतन आलोक। डा० लक्ष्मीनारायणलाल, डा० शिवप्रसाद सिंह, रमेश बक्षी, हरिशंकर परसाई हिमांशु जोशी की कहानियाँ भी मानवी-संवेदना और सूक्ष्म विश्लेपरण से युक्त होती हैं। उनमें अन्तर्द्वन्द्वों का पर्याप्त चित्रण हैं और उनका नई दृष्टि से विश्लेषण किया है।

इसी खेमे के लेखकों में विष्णु प्रभाकर और यश की कहानियों का विशिष्ट महत्व है। 'धरती अब भी घूम रही है', विष्णु प्रभाकर का प्रसिद्ध कथा संग्रह है। कहानियों में नई शैली के साथ ही नई दृष्टि भी सराहनीय है। नवयुग की घटनाएं अपने यथार्थ परिपार्श्व में अंकित हैं। यश का कहानी-संग्रह 'मैं पूछता हूँ' पिछले दशक का महत्व पूर्ण संग्रह है। इसकी कहानियां शिल्प-विधि, कथानक और अनूठी शैली के कारण काफी लोकप्रिय हैं।

मनहर चौहान और निर्मल वर्मा की कहानियाँ भी पिछले दशक की कहानियों में विशिष्ट स्थान रखती हैं। चौहान की 'घर धुसरा' कहानी पुरस्कृत हो चुकी है। इस युग के नये लेखकों में इनका स्थान काफी महत्वपूर्ण है। निर्मल वर्मा की प्रसिद्ध कहानी 'परिन्दे' अपनी शैली, कथानक और वातावरण के मनोहर चित्रण के कारण काफी प्रसिद्ध है। नई पीढ़ी के कहानीकारों की कहानियों में वर्मा जी की कहानियां अपना विशेष स्थान रखती हैं। कमलेश्वर और भैरव गुप्त भी इस पीढ़ी के होनहार कहानीकार हैं।

पिछले दशक में आंचलिक उपन्यासों की तरह कहानियाँ भी लिखी गई। इस शैली के दो विशिष्ट लेखक हैं— फणीश्वर रेणु और राजेन्द्र अवस्थी 'तृषित'।

रेणु जी की ख्यातिप्राप्त कहानी है 'अच्छे आदमी'। शिल्प विधान एवं वातावरण की दृष्टि से पूर्णतः नई रचना है। इनकी कहानियों का एक संग्रह 'ठुमरी' शीर्षक से प्रकाशित है। ग्राम्य-जीवन के अनेक मनोरम दृश्यों से पूर्ण इनकी कहानियां हैं। राजेन्द्र अवस्थी के दो संग्रह 'गंगा की लहरें' और 'महुआ ग्राम के जंगल' शीर्षक से प्रकाशित हैं। तृषित की लेखनी में विचित्र जादू है। साधारण दृश्यों में भी असाधारणता लाने में पूर्ण दक्ष हैं। आंचलिक संवेदनशील चित्र इनकी कहानियों में उपलब्ध होते हैं।

ऊपर जिन कथाकारों की चर्चा की गई है उनके अलावा इस पीढ़ी में कुछ ऐसे तरुण कहानीकार हैं जिन कथा-साहित्य को काफी अपेक्षा है, जिनकी लेखनी सशक्त और विचार युगानुरूप सुलझे हुए हैं। इन लेखकों में अमरकान्त, शेखर, प्रयाग शुक्ल आदि का नाम विशेष उल्लेखनीय है।

असंख्य समर्थ कहानीकारों के अतिरिक्त पिछले दशक में अनेक ऐसी कहानी-लेखिकाओं की रचनाए हमारे समक्ष आती हैं जिनकी कहानियों में व्यापक संवेदना, एकात्मक प्रभाव और नवीनता दृष्टिगत होती है। उनकी चर्चा किए बिना निबन्ध अधूरा रहेगा। महिला कथाकारों में प्रमुख हैं— उषा प्रियम्बदा, रजनी पनिकर, मन्नू भंडारी, अमृता प्रीतम, श्रीमती विजय चौहान, सलमा सिद्दीकी पुष्पा जायसवाल और सोमा वीरा। उषा प्रियम्बदा की कहानियों में नारी के अन्तर्मन का सूक्ष्म विश्लेषण उपलब्ध होता है इनकी कुछ प्रमुख कहानियों में हैं— एक और विदा और वापसी। शिल्प विधान, कथानक और शैली की दृष्टि से इनकी कहानियां नवीनता रखती हैं। 'रजनी पनिकर' की कहानियों में नारी जीवन की समस्याएं और संवेदनाएं चित्रित हैं। 'प्रेम चुनरिया बहुरंगी'' इनकी एक प्रसिद्ध कहानी है। मन्नू भंडारी की गणना चोटी के कहानीकारों में की जाती है। उनकी सफलता का कारण है सुबोध शैली, नारी-हृदय की परख और उसके मन की गहराई में पैठकर उसकी स्पष्ट व्यंजना। 'एक कमजोर लड़की की कहानी' इनकी एक प्रसिद्ध रचना है। इनके अनेक कथा-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। नारी लेखिकाओं में लोक-प्रियता की दृष्टि से अमृता प्रीतम का स्थान प्रथम है। रोमांटिक भावनाओं से भरपूर प्रेम की पीर का चित्रण करने में इन्हें पूरी सफलता मिली है। 'कसक' इनका एक कथा-संग्रह है जिसकी कहानियां हृदय को स्पर्श करने वाली तो हैं ही कला की दृष्टि से भी पूर्ण नयी हैं।

श्रीमती विजय चौहान, पुष्पा जायसवाल और सोमा वीरा की कहानियां नई भाव-भूमि पर स्थित हैं। इनकी कहानियों का वातावरण अत्यन्त प्रभावशाली और शैली अनोखी है। सलमा सिद्दीकी यद्यपि अभी अल्पकाल से ही लिख रही हैं पर विचार की स्पष्टता, दृष्टि की नवीनता और मानवी-संवेदना इनकी कहानियों की विशेषता है। 'एक था लड़का' इनकी एक प्रसिद्ध कहानी है। इन लेखिकाओं के अलावा अनेक नई लेखिकाएं आज कथा-साहित्य को समृद्ध बनाने में संलग्न हैं। उनमे हिन्दी कथा-साहित्य को काफी आशा है।

इस प्रकार पिछले दशक के कथा-साहित्य पर दृष्टि निक्षेपकर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि विविध लेखकों एवं लेखिकाओं ने अपनी सतत साधना और एकनिष्ठता से साहित्य की इस विधा को समृद्ध बनाने में अपना अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया है। शैली, शिल्प-विधि, कथानक, चरित्र--चित्रण, वातावरण एवं सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की दृष्टि से जितने नये-नये प्रयोग पिछले दशक में हुए है उतने उसके पूर्व नहीं। अनेक विचारों एवं मतवादों की भी अभिव्यंजना इस युग की कहानियों में हुई है। यद्यपि पिछले दशक की कहानियां वैविध्यपूर्ण हैं फिर भी विविध धाराएं एक दूसरे से पूर्णतया विच्छिन्न नहीं, उनमें एक सूक्ष्म सम्बन्ध अवश्य है। कलात्मकता की दृष्टि से इस दशक की कहानियां पुरानी कहानियों से निस्संदेह दो कदम आगे हैं पर व्यापक संवेदना और भावानुभूति की मर्मस्पर्शिता मे पुरानी कहानियां नई कहानियों से काफी आगे हैं। इस खेमे की कहानियों में एक महत्वपूर्ण कमी दृष्टिगत हो रही है वह है— भाषा की एक-रूपता का अभाव। कितनी कहानियों में अंग्रेजी भाषा के शब्दों का प्रयोग कुछ लेखक धड़ल्ले के साथ करते हैं— हिन्दी भाषा के लिए यह लक्षण शुभ नहीं। फिर भी समग्र रूप में पिछले दशक का हिन्दी कथा-साहित्य अप्रत्याशित विकसित और समृद्ध हुआ है इसे अस्वीकारा नहीं जा सकता। विगत वर्षों की संतोषजनक प्रगति को देखते हुए हम हिन्दी कथा-साहित्य के उज्ज्वल भविष्य की कामना करते हैं।

—: ० :—

डॉ० महावीर दाधीच

पुरानी पीढ़ी : नई रचनाएँ

विवेचन सौकर्य के लिए प्रस्तुत निबन्ध को तीन विभागों में बांट लेना उचित है; काव्यप्रवृत्तियों के ऐतिहासिक विकासानुक्रम के आधार पर। आलोच्य कवियों में छायावाद काल से पूर्व का कोइ कवि नही है। फलतः पहला विभाग (१) छायावादी कवियों का है। पन्त और रामकुमार वर्मा ये दो कवि इस विभाग में विवेचित होंगे। दूसरे विभाग (२) में बच्चन, अंचल, भगवतीचरण आदि वे कवि आयेंगे, जो छायावाद की छाया में फल-फूलकर भी छायावाद की परिधि में नहीं आते। तीसरा विभाग (३) उन कवियों का होगा, जिनकी प्रतिष्ठा हिन्दी में राष्ट्रीयता के गायक तथा प्रगतिवादी (अथवा प्रगतिशील) कवियों के रूप में हो चुकी है।

विभिन्न विभागों में भिन्न-भिन्न कवियों को सम्मिलित करने का आधार विवेच्य कवियों की प्रारम्भिक प्रवृत्ति गतप्रतिष्ठा ही है।

: १ :

छायावादी काव्य का विकास एक साहित्यिक आवश्यकता थी; सामाजिक अनिवार्यता नहीं— जैसा कि कुछ लोग मानते रहे हैं। छायावाद के बंगला के माध्यम से आगमन की बात अधिकांश आलोचकों को स्वीकार्य है। किन्तु यह बात अंशतः ही सत्य प्रतीत होती है। यह सप्रमाण सिद्ध किया जा सकता है कि द्विवेदी युग से ही हिन्दी

कवियों का सीधा सम्पर्क पश्चिमी कवियों से हो गया था। गोल्डस्मिथ और वर्डस्वर्थ का प्रभाव रामनरेश त्रिपाठी, श्रीधर पाठक, गुप्त आदि की तद्युगीन कविताओं पर स्पष्टतः द्रष्टव्य है। प्रकृति के प्रति विशिष्ट आध्यात्मिक दृष्टिकोण में यह प्रभाव स्पष्टतः पहचाना जा सकता है। ये कवि प्रभावित तो अवश्य हुए, किन्तु इन्होंने अपने अपने आदर्शमय नैतिक दृष्टिकोण का त्याग नहीं किया। कविता का अंतर उन्हीं आदर्शवादी मान्यताओं से ओतःप्रोत रहा। नैतिक आदर्श सदैव समाजपरक होते हैं। फलतः कविता भी समाजपरक ही अधिक रही। उसमें 'मैं' के सुख दुःख, राग विराग, आशा-निराशा, का चित्रण नहीं हुआ। समाज, राष्ट्र धर्म, जाति, देश आदि का गौरव-गान कविता के वर्ण्य विषय बने रहे। संक्षेपतः कहें तो काव्य का अंग प्रत्यंग आदर्श विधायक हो गया। पर इसके साथ-साथ पश्चिमी सम्पर्क से विकास की प्रक्रिया भी चलती रही। उस प्रक्रिया के गतिचिह्न तद्युगीन कवियों के प्रकृति चित्रण में दिखाई देते हैं। प्रकृति का आलम्बन रूप में रीतिकालीन ऋतुवर्णन से विशिष्ट वर्णन हुआ और कवि (त्रिपाठी विशेष रूप से प्रत्येक प्रकृति कार्य में एक अद्भुत अलौकिक संयोजना तथा ईश्वरीय सत्ता का दर्शन[१] करने लगे, जो किसी न किसी रूप में वर्डस्वर्थ का प्रभाव माना जा सकता है। यही प्रकृति का नवीन स्वरूप वह आधार भूमि है जिस पर छायावाद का विकास हुआ। फलतः कहा जा सकता है कि बंगला के साथ-साथ पश्चिमी प्रभाव भी काव्य विकास में सक्रिय योग देता रहा है। छायावादी काव्य पर पश्चिमी प्रभाव अब विवादास्पद विषय नहीं रहा है। एक एक बात स्पष्ट कर देने की आवश्यकता है कि छायावादी कवियों ने वर्डस्वर्थ, शेली, कोलरिज, ब्लेक और अबरक्रोम्बी से जितना प्रभाव ग्रहण किया उतना कीट्स से नहीं। इसके तीन कारण प्रतीत होते हैं। (१) कीट्स मूलतः तथा प्रमुखतः आध्यात्मिक कवि नहीं है, जबकि छायावाद प्रारम्भ से ही अध्यात्म-रंजित रहा है। (२) दूसरे कीट्स में अत्यन्त सबल ऐन्द्रिक अनुभूति है जिसको ग्रहण करने के लिए छायावादी कवि मानसिक अथवा मनोवैज्ञानिक रूप से तैयार नहीं थे। वे रीतिकालीन ऐन्द्रिकता से सतर्कतापूर्वक बचना चाहते थे। कितना बच पाये यह अलग बात है। (३) तीसरा कारण :— कीट्स का काव्य अनुकरणसाध्य है। कीट्स मूर्त कल्पना का कवि है। अमूर्त से अमूर्त विषय को भी भावगत मूर्त रूप में प्रकट करने की

[१] त्रिपाठी जी— पथिक मिलन प्रेम

क्षमता कीट्स में ही सर्वाधि ` थी। छायावाद के कवि मूर्त से अमूर्त के लिए छटपटा रहे थे। क्योंकि द्विवेदी युग की मूर्तता उन्हें बार बार वर्जित कर रही थी। अतः वे कीट्स की मूर्तता की अपेक्षा शेली की अमूर्तता की ओर अधिक आकृष्ट हुए। मेरा ख्याल है कि छायावादोत्तर गीतकारों का काव्य कीट्स के अधिक समीप है। गीतकारों पर कीट्स का विशिष्ट प्रभाव कैसे, कहाँ और कितना पड़ा, यह विचारणीय विषय है। इस पर विशेष अध्ययन के अभाव में निश्चित मत देना अप्रामाणिक और अनुचित होगा।

उपर्युक्त विवेचन से छायावाद की मौलिकता पर सन्देह नहीं होना चाहिए। छायावाद की प्रेरणा पश्चिमी है, छायावाद पश्चिम से प्रभ. ।त भी हुआ है। फिर भी छायावाद ने स्वयं को भारतीय काव्य-परम्परा में ढाल लिया है। वह मूल रूप से अभारतीय होते हुए (शुक्ल जी) भी प्रमुखतः भारतीय हो सका है— यही उसकी विशेषता है। इसका सविस्तार विवेचन अनपेक्षित ही नहीं, पिष्टपेषण भी होगा।

विषयवस्तु की दृष्टि से (मेरी दृष्टि में विषयवस्तु ही प्रमुख और विधायक है, सफल काव्य में शैली तो 'विषयानुकूल' ही होती है) छायावाद की दो प्रमुख विशेषताएँ प्रतीत होती हैं :—

(१) भाव प्रधानता

(२) आध्यात्मिक दृष्टिकोण

इन दोनों को थोड़ा स्पष्ट कर देना आवश्यक है। पहले भाव प्रधानता को लीजिए। सभी प्रकार के काव्य में भाव भी होते हैं यह सिद्ध बात है। पर सभी प्रकार के काव्यों में भाव ही प्रधान नहीं होते। भाव चूंकि स्वयं में सूक्ष्म हैं अतः उनकी अभिव्यक्ति भी सूक्ष्म होगी ही। प्रश्न उठाया जा सकता कि है रीतिकालीन कविता भी तो भावों की कविता रही है यदि सूत्र रूप में कहें तो रीतिकालीन कविता भावों की कविता नहीं, बल्कि भावों के अभिव्यक्त रूप अर्थात् भावों के भौतिक-शारीरिक विकारों (विकार का नैतिक अर्थ नहीं है) की कविता है। इसका यह अर्थ नहीं कि छायावाद में रीतिकालीन भाव-विकार नहीं हैं (पंत, निराला की कुछ कविताएँ रीतिकालाभास सी ही हैं) किन्तु प्राधान्य सूक्ष्म भाव दृष्टि का ही है। छायावादी कवि को इसी दृष्टि के कारण नवीन सौन्दर्य दर्शन, नवीन प्रेम भावना, नवीन नारी चित्रण, भावुकता, कल्पना, निराशा, आशा, पलायन आदि की

बहुचर्चित विशेषताएँ प्राप्त हुईं। इस सब के लिए कहां तक सामाजिक कारण उत्तरदायी हैं और कहां तक साहित्यिक अनिवार्यता, यह अलग विचार योग्य विषय है। मुझे लगता है कि साहित्य पर समाज के प्रभाव को समाजशास्त्रीय व्याख्या अपूर्ण है। वह सामाजिक पक्ष को अधिक निर्णायक महत्व दे देती है। साहित्यिक विकास के लिए अनेक बार साहित्यिक परिस्थितियाँ भी कारणभूत रहती हैं।

छायावादी काव्य को व्यक्तिपरक काव्य कहा जाता रहा है। पर निश्चित रूप से वह उसी अर्थ में व्यक्तिपरक नहीं है, जिस अर्थ में नई कविता व्यक्तिपरक है। अधिकांशतः छायावादी की व्यक्तिपरकता 'मैं' शैली मात्र लगती है। छायावाद का यह 'मैं'— व्यक्ति, विशिष्ट नामरूपात्मक न होकर अमूर्त, सामान्य और समाज-निरपेक्ष (Almost a social) मानव है। इसी 'व्यक्तित्व' के आग्रह स्वरूप छायावादी काव्य में से सामाजिक समस्याएं और संघर्ष निष्कासित हो गये। किन्तु कोई भी व्यक्ति— चाहे वह छायावादी 'व्यक्ति' ही हो— सामाजिक मानसगत संस्कारों से छुट्टी नहीं पा सकता। फलतः छायावाद ने कल्पना के समाज का निर्माण किया और रवीन्द्र से विश्वमानववाद को उधार ले लिया। क्योंकि ये दोनों अपनी अमूर्तता के कारण छायावादी 'व्यक्ति' के अनुकूल पड़ते थे। छायावाद का यह काल्पनिक समाज वस्तुतः आदर्श समाज ही था। उसकी दृष्टि के मूल में भौतिक सुख की चाह नहीं थी, आत्मिक आनन्द की अभिलाषा थी। इसे उसने अतीत के स्वर्ण वैभव सजाया सँवारा, जबकि विश्वमानववाद को भारतीय संस्कृति के गत वैभव से अनुप्राणित करने की चेष्टा की।

इस भाव प्राधान्य के कारण छायावादी काव्य में सामाजिक सुख,दुःख प्रायशः उपेक्षित रहे। फलतः उनके निदान समाधान की चेष्टा भी इस काव्य में प्रमुखतः नहीं हुई। निराला और कुछ अंशों में पंत में सामाजिक चेतना अवश्य रही है। किन्तु ये कवि छायावादी 'व्यक्ति' का सामाजिक व्यक्ति से सामञ्जस्य नहीं कर पाये। उनका छायावाद युगीन काव्य— व्यक्तित्व द्वैध भावी अथवा विभाजित सा प्रतीत होता है। 'पल्लव' के बाद पन्त ने तो समाज को ही प्रमुख बनालिया है। साही के शब्दों में यह पन्त का साहसिक संघर्ष (Heroic Struggle) है। पर पन्त का सामाजिक व्यक्ति अब भी अपने आदर्श रूप में मूलतः छायावादी ही रहा है, केवल नामान्तर और प्रकारान्तर मात्र हुआ है। अब वे उसे 'दिव्यपुरुष' अथवा ऊर्ध्व चेतन मानव कहना पसन्द

करेंगे। स्पष्ट है कि यह 'पुरुष' भी सांख्यीय 'पुरुष' के समान अमूर्त आदर्श है। इस प्रकार पन्त अपने अधुनातम रूप में भी प्रायशः छायावादी ही है। हाँ, पिछले कुछ वर्षों से वे 'मानव' 'मानवता' 'मार्क्स' 'प्रवृत्ति (अहंकार)' अंतश्चेतना (प्रकाश) आदि की पुकार पंचम (किन्तु रूखे) स्वर से अवश्य लगाते रहे है।

छायावादी काव्य की आध्यामिकता[1] (जिसे हिन्दी आलोचक 'रहस्यवाद कहने के आदी हैं) पूर्व विवेचित विश्वमानववाद और छायावादी 'व्यक्ति' की एक आवश्यक मांग थी। व्यक्ति, समाज, राष्ट्र, जाति आदि में वन्धित—सीमित मानवता में साम्य की अपेक्षा वैषम्य अधिक है और यह वैषम्य ऐसा है, जिसका स्थूल रूप से समन्वय नहीं किया जा सकता। स्थूल समन्वय में संभवतः एक कठिनाई और थी। मानव जीवन के वैषम्य का कारण आर्थिक ही नहीं मानव की वंशपरम्परा, धर्म-संस्कार, दर्शन पद्धति, व्यक्ति-स्वभाव आदि से सम्बद्ध जटिल और सूक्ष्म 'कारण' भी, होते हैं, जिनका कोई निश्चित हल प्राप्त करना असंभव है। फलतः छायावदी कवियों ने मानवतावादी लेखकों से समाधान प्राप्त किया, क्योंकि यह मानवतावाद अमूर्त और भावपरक था। इसमें किसी वायवीय आदर्श 'महामानव' की प्रतिष्ठा थी। दूसरी तरफ वे इस समन्वय की खोज करते-करते अध्यात्म और दर्शन तक पहुँच गये। भारतीय सर्वात्मवाद और अद्वैत दर्शन ने इनकी पर्याप्त सहायता की। 'यथापिण्डे तथा ब्रह्माण्डे' 'एकोऽहं बहुस्यामः' आदि की वैषम्य में साम्य अथवा अनेक में एक ही स्थापना करने वाली औपनिषदिक विचारधारा छायावादी भाव-सूक्ष्मता के लिए अत्यधिक अनुकूल सिद्ध हुई। सारी सृष्टि में अव्यक्त सत्ता की एकता विद्यमान है— इस विश्वास ने छायावादी त्रस्त मानस को सम्बल प्रदान कर उसमें एक विशेष प्रकार के श्रद्धायुक्त साहस का संचार किया, जिससे कवि प्रकृति के भयंकरतम रूप में भी अलौकिक आनन्द प्राप्त करने लगा। सांसारिक वेदना का तिरष्कार कर कवि अनन्त के दर्शन, मिलन, संभाषण आदि के गीत गाने लगा। इस प्रकार काव्य धीरे धीरे कबीर और मीरां की आधुनिक अनुगूंज सा होता गया। किन्तु इस अध्यात्म दृष्टि

---

[1] कुछ आलोचक छायावाद और अध्यात्मवाद (रहस्यवाद) को अलग-अलग छील निकालने की चेष्टा करते हैं। मैं इस मत से सहमत नहीं हूँ। मेरी दृष्टि में अध्यात्मवृत्ति छायावाद की अविभाज्य विशेषता है। आशा है कभी उपयुक्त स्थल पर विस्तृत चर्चा करने का अवसर मिलेगा।

ने काव्य का एक बहुत बड़ा उपकार भी किया। कवि के मन वचन पर सशक्त आस्था और महद्भाव का संजीवन प्रभाव सक्रिय हो उठा, जिसने निश्चित रूप से काव्य के कथ्य और शिल्प को अभूतपूर्व प्राणवत्ता तथा जीवन्तता प्रदान की। छायावाद को प्रायः निराशा, कुण्ठा, पलायन, अस्वस्थ शृंगार आदि का काव्य कहा जाता रहा है, जो केवल सतही, मार्क्सवादी अथवा समाजशास्त्रीय दृष्टि का परिणाम है। वस्तुतः छायावाद महद् आस्था और विश्वास का काव्य है।

अब छायावाद के अप्रचलन के कारणों का लेखा जोखा भी ले लिया जाये समाजशास्त्रीय पद्धति के अनुयायी आलोचक छायावाद के 'पतन' का मूल कारण उसकी वायवीयता और सामाजिक जीवन से असम्पृक्ति मानते हैं। पंत तक ने छायावादी परिधान (जो स्यात् उन्हें अब केंचुल जैसा लगता है) को छोड़ते समय आधुनिक कवि की भूमिका में घोषणा की है कि छायावाद के पास नवीन विचार, भविष्य के लिए उपयोगी नवीन आदर्श, नवीन भावना का सौन्दर्यबोध, आदि नहीं था, वह केवल अलंकृत संगीत बन गया था। मार्क्सवादी विद्वानों ने कुछ भी हो, गालियां देने का शुभ कार्य भी किया है। उपर्युक्त कारण 'तथाकथित' ही लगते हैं। यह विषय विस्तारयुक्त विवेचन की अपेक्षा रखता है। स्थानाभाव और समयाभाव के कारण अत्यन्त संक्षेप में ही विचार करना उचित होगा।

काव्य का समाज से सम्बन्ध होता है— यह कौन अस्वीकार कर सकता है। पर काव्य और समाज के परस्पर प्रभाव-दुष्प्रभाव कार्य की प्रक्रिया उतनी सरल नहीं होती जितना कुछ लोग समझते हैं। 'साहित्य समाज का दर्पण है'— इस द्विवेदी-सूत्र से साहित्य के विकास और परिवर्तन को किंचित भी नहीं समझा जा सकता। समाजशास्त्रीय आलोचक प्रकारान्तर से इसी सूत्र के इर्दगिर्द घूमते प्रतीत होते हैं, यद्यपि उनकी प्रेरणा पश्चिमी है। छायावाद में सामाजिक जीवन का यथार्थ संघर्ष नहीं था। फलतः छायावाद 'पतित' हो गया— इस कारण की कल्पना में वैज्ञानिक गहन विश्लेषण के स्थान पर पूर्वगृहित विवेचन-धारणा और आलोचनकार्य की सहूलियत अधिक है। प्रगतिवाद में यह सामाजिक संघर्ष था, फिर भी वह अप्रचलित क्यों हुआ? लोक काव्य में कथित संघर्ष नहीं है। फिर भी वह जीवन्त ही नहीं है; बल्कि आधुनिक गीतकारों के अतिरिक्त। 'नये'

कवियों तक को आकृष्ट कर रहा है। मीरां में भी कथित अर्थ में सामाजिकता कहां है ? वस्तुतः कविता का अपना समाज होता है। यदि वह समाज प्राणवान और सजग है तो लौकिक अथवा सामाजिक संघर्ष के अभाव में भी कविता जिन्दा रह सकती है। इससे स्पष्ट प्रकट होता है कि 'सामाजिक संघर्ष और समाधान' का कारण सम्पूर्ण सत्य नहीं है। इन सामाजिक कारणों पर विशेष बल दिये जाने के "कारण" संभवतः समाज-शास्त्रीय आलोचना का फैशन जैसा प्रचलन और काव्य को समाज-प्रतिबिम्ब, फलतः सुधारवादी मानना है।

नवीन आदर्श, नवीन विचार, नवीन सौन्दर्य भावना आदि तो केवल शब्द मात्र हैं। आलोचक अपनी सुविधानुसार जहां भी चाहे— आदि काल से लेकर आधुनिक साहित्य तक फिट कर सकता है। आदर्शों, विचारों आदि का 'नावीन्य' अपने आप में अस्पष्ट मूल्य है। इस 'नावीन्य' का भी कुछ स्वरूप तो होना चाहिए। छायावाद के प्रारंभकाल में छायावाद की प्रशस्ति भी प्राय इन्हीं शब्दों में हुई थी। आश्चर्य है कि यह 'प्रशस्ति' ही 'पतन' कारी सिद्ध हुई।

किसी भी काव्यधारा के अप्रचलन के इतने स्थूल कारण प्रमुख नहीं होते कुछ ऐसे सूक्ष्म कारण भी होते हैं, जिनका सीधा सम्बन्ध काव्य-जगत् से होता है। जब कथ्य का पुनरावर्तन अथवा कला उपकरणों की पुनरावृत्ति होने लगती है तब सचेतन काव्य में असह्य स्थिरता उत्पन्न हो जाती है, जो नवीन धारा में उन्मेष को जगाती है; प्रेरित करती है। यह पुनरावर्तन सदैव पिछलग्गू कवियों में होता है। निन्दकों से पिछलग्गू सदैव घातक होते है। क्योंकि ये कवि सच्ची अनुभूति से प्रेरित न होकर अनुकरण मात्र करते हैं— सस्ती लोकप्रियता की प्राप्ति के लिए अथवा उस विशिष्ट धारा के 'चलन' (फैशन) से आक्रान्त होकर। जब कोई भी काव्यधारा फैशन बन जाती है, तो उसका 'पतन' अवश्यम्भावी हो जाता है। क्योंकि फैशन सदैव बहिरंग से सम्बद्ध होती है फलतः काव्य के क्षेत्र में [illegible] की अपेक्षा वह शिल्प पर अधिक आश्रित रहती है। शब्द-प्रयोग, छन्द-विधान प्रतीक [illegible]ना, विषय वस्तु आदि की निश्चितता और एकरसता उसके लक्षण बन जाते हैं। परिणामतः सच्ची अनुभूति के स्थान पर वस्तु अनुभूति का बोध मात्र होता है, और काव्य पूर्णतः कृत्रिम हो जाता है। उसका भावपक्ष दुरूह, अस्पष्ट और पारिभाषिक बन

जाता है, जबकि कलापक्ष सबल भावों के अभाव में निर्जीव और निष्प्राण पच्चीकारी मात्र रह जाता है। ऐसी स्थिति में भाषा की बड़ी दुर्गति होती है। उसके अंग प्रत्यंग के साथ कवि खिलवाड़ करता रहता है और यह यान्त्रिक खिलवाड़ वाणी की मार्मिकता और अर्थवत्ता के लिए बड़ा पतनशील सिद्ध होता है और काव्य के परवर्ती कवियों को भाषा का पुनः संस्कार और संजीवन करना पड़ता है। इस प्रकार काव्य अपनी एकरसता के द्वारा सच्चे पाठक और सच्चे लेखक दोनों में एक साथ उस धारा के प्रति मनोवैज्ञानिक प्रतिक्रिया उत्पन्न करता है, जिससे वह धारा अप्रचलित हो जाती है।

काव्यधारा के अप्रचलन का एक अन्य सशक्त कारण अनुवर्ती कवियों और पाठकों का मौलिकता प्रेम प्रतीत होता है। शिक्षित पाठक बोर बहुत जल्दी हो जाता है। और नया प्राणवान् कवि मौलिक होने की सबल कामना से इतना [illegible] है कि स्वस्थ अनुकरण के लिए भी वह मानसिक अथवा मनोवैज्ञानिक रूप से उद्यत [illegible] होता। फलतः उसे नया रास्ता बनाना ही पड़ता है। वह नया रास्ता जीवन के [illegible] विशेष अंग पर अधिक बल देता है और उसी के अनुरूप काव्य उपकरण जुटाता है। [illegible]हरणतः छायावाद ने जीवन के अतिरिक्त आध्यात्मिक पक्ष पर बल दिया, तो अनुवर्ती प्रगतिवाद ने बाह्य भौतिक पक्ष को ही सर्वेसर्वा बना दिया। इस प्रकार काव्य के अंतरंग बहिरंग में विकास तथा परिवर्तन होता रहता है।

छायावाद के पतन-के अप्रचलन के तथाकथित कारणों के साथ-साथ उपर्युक्त कारण भी क्रियाशील रहे हैं और मेरी दृष्टि में विवेचित कारण अधिक महत्त्वपूर्ण हैं।

सुमित्रानन्दन पंतः— पंत का काव्य-व्यक्तित्व प्रारम्भ से ही कुछ विचित्र रहा है। वे छायावाद के कर्णधारों में से एक हैं। रवीन्द्र, शेली, वर्ड्स्वर्थ आदि से प्रभाव[1] ग्रहण कर इन्होंने अपने छायावादी काव्य को सजाया, सँवारा और प्राणवान बनाया। 'टलमल कलकल' के कोमल स्वरों में 'पल्लव' झूमे और रसिक 'गुंजन' करने लगे। पर 'पल्लिवत' 'गुंजन' में भी पंत की आत्मा तुष्ट नहीं हैं। उसमें एक विशेष प्रकार की

---

१. पंत जी शायद इसे स्वीकार न करें। उन्होंने एक कविता में स्वयं को 'स्वभाव' मात्र कहा है और 'प्रभाव' बताने वाले आलोचकों की खबर ली है। दुर्भाग्य से प्रस्तुत लेखक भी 'प्रभाव' वादी ही है।

अकुलाहट रही है। 'पल्लव' की 'परिवर्तन' कविता पन्त को समझने के लिए आवश्यक है। यह लम्बी कविता है। सम्भवतः काव्यात्मक उतनी नहीं है, जितनी पंत की अन्य कविताएं। पर इस कविता में भावी पंत (ग्राम्या, स्वर्णधूलि, ज्योत्स्ना, अतिमा, वाणी आदि का पन्त) का बीज छिपा हुआ है। कवि ने मानव जीवन और समाज के परिवर्तन को विशेष लक्ष्य किया है। यह परिवर्तन व्यक्तिगत नहीं, ब्रह्मांडगत है— कवि 'परिवर्तन' को सर्वोपरि शक्ति मानते हैं पर पूरी कविता की भंगिमा (Tone) दुख की है, जैसे वे इस परिवर्तनमय संसार में तुष्ट नहीं हैं, अत्यधिक आहत हैं। यदि वे गहराई से आध्यात्मिक हो जाते (महादेवी, प्रसाद की तरह), तो इतनी व्याकुलता और अनिश्चय की पीड़ा न रहती, एक समाधान प्राप्त हो जाता। सम्भवतः उस काल में पंत इतने अधिक श्रद्धालु नहीं थे, जितने इस समय—बुढ़ापे में—होगये प्रतीत होते हैं। छायावादी कवियों में पन्त सबसे कम आध्यात्मिक (प्रचलित शब्द का प्रयोग करें तो रहस्यवादी) हैं। दूसरी बात प्रारम्भ से ही पन्त की अधिकांश लम्बी कविताओं में भाव से चिन्तन अधिक प्रधान दिखाई देता है। इस तरह पन्त छायावादी होकर भी छायावाद से बाहर उलझ रहे प्रतीत होते हैं।

छायावादी कवियों में पन्त ही एक ऐसे कवि थे, जिनमें यथार्थ सामाजिक चेतना प्रारम्भ से ही प्राप्त होती है। 'गुंजन' में वे अनेक बार सुखदुखों से ग्रस्त मानव जीवन को आदर्श-स्वरूप देने की चेष्टा करते रहे हैं। 'सुख दुख के मधुर मिलन' में 'मानव जीवन' की परिपूर्णता का दर्शन छायावादी कम और 'समाज' वादी अधिक है। १९३२ में लिखी उपर्युक्त कविता की भूमिका पल्लव की 'याचना' (१९१९) है, जिसमें कवि 'माँ' से किसी दैवी शक्ति, अलौकिक सौन्दर्य अथवा आत्मिक आनन्द की मांग नहीं करता, बल्कि हृदय की कोमलता, मधुर वचन, मधुर तन (व्यवहार) मन (कामना) आदि समाज परक मूल्यों को प्राप्त करना चाहता है जो समाज-द्रोही (आदि) पाशविकता को भी अपने वशीभूत कर ले। 'दुख-दैन्य-शयन पर' लेटी 'रुग्णा जीवन बाला' को 'नव जीवन का वर' देने की सचेष्ट चिन्ता गुंजन कालीन पन्त के मानस में छटपटा रही थी। यही छटपटाहट 'उत्तर पंत' के लिए उत्तरदायी है। धीरे धीरे पंत में सामाजिक दुःख आया— नोन-तेल लकड़ी वाला दुःख, महादेवी में भी दुख है, प्रसाद में भी। पर वह दुख अधिक व्याप्त है, आत्मिक और विस्तृत है। फलतः उसमें 'नोन-तेल-लकड़ी' के आर्थिक पहलू का

रोना धोना नहीं । वह प्रमुखतः आत्मा का रोग ही है, जिसके लिए अध्यात्म की दवा रामबाण सिद्ध हुई । प्रसाद ने 'कामायनी' में 'आनन्दवाद' प्राप्त किया और महादेवी ने 'बौद्ध निर्वाण' दोनों परितृप्त होगये । पर पन्त समाज के कीचड़' में फंस गये । रूढ़ियों, हर प्रकार की विषमता, विद्वेष, दर्द आदि से त्रस्त पन्त ने कोकिल से 'पावक कण' बरसाने की प्रार्थना की— 'जीर्णपुरातन' को 'नष्ट भ्रष्ट' करने के लिए, जैसे सामाजिक दुख का कारण 'जीर्णपुरातन ही हो ।' पर विनाश तो समाधान नहीं— फलतः उनकी सारी श्रद्धा 'मार्क्स के प्रति' समर्पित हो गई । पन्त' के नाम से ही नाक-भौं सिकोड़ने वाले 'प्रगति' वादी लेखकों के वे अगुवा हो गये । पर पन्त को मार्क्स भी एकांगी लगा । मूलतः छायावादी पन्त का व्यक्तित्व मार्क्स के वर्गसंघर्ष से आहत हुआ । उन्हें सभवतः धर्म, संस्कृति और चेतना की उपेक्षा पसन्द नहीं आई । समुदाय के चंगुल में फंस व्यक्ति की 'चीत्कार' वे सुनने लगे । इसके अतिरिक्त पन्त के सात्विक मानस को वर्गसंघर्ष की हिंसा भी शायद नहीं रुची । पन्त ने मार्क्सवाद के 'गहरे पानी में पैठ' कर खोज की और उसे छोड़ दिया । कुछ समय तक रामकृष्ण की भक्तिधारा, विवेकानन्द की राष्ट्रीयधारा और गांधीवाद में डूबते-उतराते रहे । पर पन्त की आत्मा को शान्ति कहां ? वे नये—नये रास्तों पर बड़े उत्साह के साथ चले । हर नया रास्ता उन्हें पूर्ण लगा । किन्तु कुछ ही दूरी पार करते ही वे उसकी संकुचितता, 'एकांगिता' से घबरा उठे । उन्हें समन्वय का विस्तार, जो चाहिए था । इस काल के पन्त में दो बातें प्रमुख लगती हैं— अर्द्ध—श्रद्धा और बौद्धिक दृष्टिकोण । अर्द्ध श्रद्धा की प्रेरणा से हर नया रास्ता पन्त ने अख्तियार किया और बौद्धिक दृष्टिकोण के कारण उसे छोड़ दिया । बौद्धिक विश्लेषण के पश्चात् हर रास्ता अपूर्ण और एकांगी लगा । वह समन्वय कहां जिसको वे प्राप्त करना चाहते थे । अरविन्द दर्शन ने पन्त की भटकती आत्मा का उद्धार किया । अरविन्द में समन्वय है— हर प्रकार का समन्वय । अन्य दर्शनों के समान संघर्ष, निराशा और निवृत्ति नहीं शांति, आस्था और प्रवृत्ति है । और पन्त—मानस के सबसे अनुकूल वस्तु भी वहां थी— मानव द्विव्यात्मा है, वह एक समय दिव्य पुरुष होने वाला है— प्रयत्न न करे तब भी । तो आज का पन्त उर्ध्वचेतना दिव्य ज्योत्स्ना' और द्विव्य सौवर्ण को धरती के अन्धकार पर— मानव के अधःपतन पर— उतारने में व्यस्त है । अधःचेतन अथवा प्रकृतिमय निम्न-जीवन का उन्नयन भी उसका लक्ष्य है । वह समाज के प्रति भी इसी दृष्टि से देखता है । नयी सुबह, नई ऊषाएं, नये प्रभात मानवता के 'क्षितिज पर' उतर रहा है । इस अरविन्द

दर्शन के आगोश में कवि तुष्ट–संतुष्ट ही नहीं है, आश्वस्त–विश्वस्त भी हो गया है।

स्पष्ट है कि इस स्थल तक आते-आते पन्त को कई विचारधाराओं में से तैरना पड़ा। पंतजी इस तैरने को भी 'स्वभाव' कहने पर तुले हुए हैं और आलोचकगण प्रभाव। प्रभाव तो पड़ा ही है, जाने क्यों पंतजी अप्रभावित होने का दुराग्रह लिये बैठे हैं। प्रभाव बुरा नहीं होता, अनुकरण बुरा होता है। मेरी दृष्टि में तो सच्चा प्रभाव 'स्वभाव' भी हो सकता है।

प्रस्तुत दशक में पंतजी ने तीन कविता संग्रह दिये हैं—"प्रतिमा," 'वाणी,' तथा 'कला और बूढ़ा चाँद' तीनों के कथ्य में थोड़ा-थोड़ा अन्तर है, पर रूप में साम्य ही है। साम्य का आधार है अरविन्द दर्शन। प्रतिमा' का अर्थ कवि ने किया है—प्रतिक्रान्ति वह मन:स्थिति, जो आज के भौतिक मानस के सांस्कृतिक परिवेश को अतिक्रम कर चेतना की नवीन क्षमता से अनुप्राणित हो।' अत: 'प्रतिमा' दार्शनिक काव्य अधिक है। यह चेतना अरविन्द की अंतर चेतना अथवा उर्ध्व चेतना है, जो अवचेतन अथवा अध:चेतन के परिवेश का अतिक्रम करना चाहती है। अधिकांश कविताओं में इसी चेतना को काव्य का बाना—पहनाने की कोशिश की गई है कवि निम्नस्तर के इन्द्रिय जीवन से न घृणा करता है और न उसका तिरस्कार। इन्द्रिय जीवन में भी चेतन प्रभात आयेगा, नया जागरण होगा:—

> इंद्रिय कमल पुरी में निद्रित,
> मुग्ध विषय मधु रज में मज्जित.
> जाग उठा, लो, नव प्रभात में,
> मन मधुकर, स्वप्नों से उन्मन!

यह उत्तरा' का पुनरावर्तन है। जड़ में चेतन विकसित होगा – स्वत: क्रमश:। 'उत्तरा' में कवि का मानस निर्द्वन्द्व और स्थिर हो चुका है 'प्रतिमा' कोई नया आयाम निर्मित नहीं कर रही। वही 'उत्तरा' निमुक्त उड़ता ऊपर मन नव चेतन' का संसार पूरे संग्रह में है। गीतों का दर्पण, नव अरुणोदय, जिज्ञासा, आह्वान, स्मृति, मनसिज, आत्मबोध आदि कविताओं में उसी चेतना के अनेक रूप चित्रित हुए हैं। कहीं 'रश्मि चरण बरसाओ' की अनुनय है तो कहीं 'रश्मि तीर बरसाओ' की आकुल पुकार। कवि इन्द्रिय सुख रूप जीवन 'स्वर्णमृग' में भी चिरन्तन ब्रह्मांश देखता है। चेतना के आगमन से वह 'जीवन पशु' संस्कृत

हो जायेगा। 'प्रकाश, पतंगे और छिपकली' कविता में प्रकाश आत्मा (चेतना) है, पतंगे मन और छिपकली देह है। इनमें कभी न समझौता होगा क्योंकि 'तीनों सत्य' है और उनमें जगदीश्वर व्याप्त है। यह चेतना 'पावक' है, कभी यह 'स्वर्णिम' होती है तो कभी 'रजत हरित,' विकमनशील है। इसकी पहचान या अनुभूति से जड़ जीवन सार्थक, सुन्दर और सत्य हो जाता है। अधिकांश कविताओं में इस 'पावक' का वर्णन अनायास होता रहा है। 'चेतना' परक कविताओं का आधार मानवता है। चेतना युक्त मानवता में द्वन्द्व द्वेष अशांति नहीं रहेगी, स्वर्गिक आत्मिक शांति प्राप्त होगी। इस चेतना को प्राप्त करने के लिए मानवता को परम्परा, तर्क, सिद्धान्त और रूढ़ियों के 'केंचुल' से छुटकारा प्राप्त कराना होगा। कवि तर्क का अथवा बुद्धि का भी उतना ही विरोध करता है, जितना परम्परा का। स्पष्ट है कि 'अतिमा' का पन्त 'ग्राम्या' 'स्वर्ण-धूलि' आदि के पन्त से भिन्न है। यहाँ श्रद्धा की वकालत करता है, जबकि वहाँ बुद्धि द्वारा सत्य ग्रहण की ललक थी। आज का पन्त श्रद्धा-युक्त है—इतनी गहरी श्रद्धा कि अन्ध श्रद्धा का भ्रम हो। मानव की 'दिव्यता' किसी भी तार्किक अथवा बुद्धिप्राण के लिए असंभव प्रतीत होगी। पंत का अरविन्द के चेतन में अटूट विश्वास है :—

यह मानवता का जग मंगल,
चिर विकास पथ में भू मंगल।

संक्षेपतः कवि शुष्क दर्शन, तर्क, विज्ञान आदि की उपेक्षा करता है और जड़ता के माध्यम से ऊर्ध्व चेतना अथवा अंतश्चेतना का विकास करना चाहता है। इस प्रकार की चेतना से युक्त उनकी मानवता है, मानव है। किंतु हैं ये सब आगामी। वह मानव आयेगा—इस विषय में कवि आश्वस्त है। 'मनुज द्वार पर' 'महत् युगान्तर आज उपस्थित' देख रहा है। अतिमा की प्रायः प्रत्येक कविता में यह विश्वास और श्रद्धा व्याप्त है। निश्चित रूप से इस अडिग विश्वास और अतल श्रद्धा का आधार अरविन्द-दर्शन है।

'अतिमा' का कवि प्रमुखतः आध्यात्मिक चिन्तक है। पर उसके अध्यात्म में मानवता समाहित है। किंतु सामाजिक वैषम्यों की पीड़ा और कष्ट की अनुभूति नहीं है। अब कवि शोषित, पीड़ित और दुखी सामाजिक की ओर आकृष्ट नहीं होता, मानव अथवा मानवता की ओर झुक गया है। यह आध्यात्मिक दृष्टिकोण का प्रतिफल है। पन्त के काव्य में अब जीवन्त सामाजिक समस्याएं नहीं, सूक्ष्म और अव्यक्त 'मानवता' की समस्या

है. दुर्भाग्य से उसका पेटेन्ट समाधान (अरविन्द) भी उन्हें प्राप्त हो गया है । क्या पन्त का यह 'मानव' छायावाद के 'व्यक्ति' से मिलता जुलता नहीं है ? अव्यक्त, सूक्ष्म और अध्यात्म-वेष्टित ! संक्षेपतः कवि आत्मतुष्ट और विश्वस्त लगता है ।

सोनजुही, पतझर, कूर्माचल के प्रति, गिरिप्रांतर—आदि कुछ प्रकृतिपरक कविताए हैं । प्रकृति के प्रति पन्त में अभी भी वही छायावादी आकर्षण है—उपनयन (पंतजी का शब्द है) भी वही है । उस समय किसी अनाम अदृष्ट सत्ता का आभास प्रकृति मे प्राप्त करते थे, अब 'अरविन्द'—सत्ता का । पर एक बड़ा अन्तर भी होगया है । छायावादी पन्त का प्रकृति से सहज तादात्म्य प्रतीत होता है, प्रकृति वहां प्रमुख है, अन्य आध्यात्मिक बातें गौण । इसलिए वह प्रकृति-काव्य अधिक सजीव और प्रभावोत्पादक है । अब तो प्रकृति उपकरण अथवा साधन मात्र रह गई है। कवि के व्यक्तित्व का अविभाज्य अंग नहीं है इसीलिए इन संग्रहों में प्रकृति का आलम्बन रूप अत्यन्त विरल है । फिर भी प्रकृति के वर्णन में उनकी भाषा और कल्पना में वही यौवन आ पाया है जो पल्लव और गुंजन के प्राकृतिक काव्य में था ।

कुछ कविताएँ विविध विषयक है—जैसे युगमन के प्रति, नेहरूयुग, जन्म दिवस, संदेश आदि । इनमें 'जन्मदिवस' कविता बहुत अच्छी है । सुन्दर स्वाभाविक, मार्मिक भाषा में बचपन के जीवन का वर्णन है, पर अंत में आते-आते फिर वही अरविन्द ? 'शिव को शिवतर' करने वाक-संकल्प ? 'नेहरू युग' 'युगमन के प्रति' आदि ऐसी कविताएं हैं जो वस्तुतः उन्हें नहीं लिखनी चाहिए थीं । लिख ही दिया, तो प्रकाशित न करते ।

पंत के काव्य में प्रारंभ से ही एक अवगुण रहा है—वह है अनावश्यक विस्तार की प्रवृति । इससे उनके काव्य में कसाव नहीं आ पाया । शब्दों का खर्च पंतजी खुलकर करना पसन्द करते हैं । पर कवि को इस निधि के वितरण में थोड़ा कंजूस होना चाहिए । मेरा संकेत निश्चित रूप से 'परिवर्तन' 'भावी पत्नी के प्रति' 'अप्सरा' आदि कविताओं की ओर है । विस्तार की प्रवृत्ति का स्वाभाविक दोष कथ्य की पुनरावृत्ति होता है । वह पन्त की प्रायः सभी लम्बी कविताओं में विद्यमान है । 'परिवर्तन' में दृष्टान्तों की भरमार ने कविता की जान ले ली । 'अप्सरा' उपमाओं के विकट अलंकारों से निष्प्राण, स्थूल भारवाहिका मात्र रह गयी । यह काव्य-प्राण-घातक दोष अतिमा की लम्बी कविताओं में काफी है, 'सन्देश' की मार्मिकता 'जन्मदिवस' की प्रवाहयुक्त रसधारा 'पतझर' की

तीक्ष्णता सबका प्रभाव इसी विस्तार-वृत्ति ने चूस डाला है। बाद की रचना 'कला और बूढ़ा चांद' में पन्त ने अप्रत्याशित संयम का परिचय दिया है। संभवतः इसके अनेक कारण रहे हों, जिनका उपयुक्त स्थल पर विवेचन होगा।

कथ्य की दृष्टि से 'उत्तरा' के पश्चात् पंत में कोई नवीनता नहीं आई। 'उत्तर-पंत' के पूरे कथ्य को एक शब्द में रखा जा सकता है—अरविन्द दर्शन की चेतना। प्रतीक भी प्रायः सीमित रहे हैं—नव अरुणोदय और उसके पर्यायवाची, हरित अथवा स्वर्णिम पावक अंधगुहा, अन्धकार, चाँद मनसिज आदि। किसी भी 'चेतना' उन्मुख कविता का 'प्रभात' अथवा इसके पर्याय और 'पावक' (मधु, हरित, रजत, स्वर्णिम—इनमें रजत हरित और स्वर्णिम अधिक बार प्रयुक्त हुए हैं) के बिना काम नहीं चल सकता। फलतः अधिकांश 'चेतन' कविताओं में एक रूपता और एकरसता आ गई है। प्रतीक योजना की दृष्टि से 'प्रकाश पतंगे और छिपकली' कौए मेढ़क, बत्तखें और स्वर्णमृग कविताएं मार्मिक और सुन्दर हैं। उनमें भी सोनजुही तो बहुत ही अच्छी है। इनमें नवीन सार्थक प्रतीक आये हैं। पर यहां भी पंत जी पाठक की बुद्धि के बारे में आश्वस्त नहीं प्रतीत होते। हर कविता की पूंछ (जो वास्तव में इन कविताओं का चरम सीमा-स्थल है) में व्याख्या घुसेड़ दी है। सफल प्रतीक योजना में व्याख्या नहीं होती, वह काव्य का अविभाज्य अंग होता है। प्रतीक —ध्वन्यर्थ के संकेत होते हैं। व्याख्या करते ही प्रतीक दृष्टान्त या उदाहरण मात्र बन जाते हैं। 'प्रतिमा' में पंत प्रधान रूप से चिन्तक का आभास देते हैं, 'कवि' तो बेचारा उपेक्षित-सा किसी 'सोनजुही' की आड़ लेकर 'जन्म-दिवस' के सहारे स्वयं को याद करता सा प्रतीत होता है। चिन्तन जब तक गहन अनुभूति नहीं बन जाता, तब तक काव्य क्षेत्र में प्रवेश—प्राप्ति का अधिकार नहीं होना चाहिए। गद्य के माध्यम से चिन्तन अधिक स्पष्ट और प्रेषणीय हो सकता है। पर पंत जी काव्य भाषा में चिन्तन करने पर तुले हुए हैं। उसका परिणाम निम्नलिखित है:—

> बदल रहे मानव के—भौतिक, कायिक, प्राणिक,
> सूक्ष्म मानसिक स्तर, आध्यात्मिक भुवन अगोचर।
>
> (शांति और क्रांति)

ऐसे अनेक उदाहरण अनेक स्थलों पर प्राप्त हो जायेंगे। इन या इन जैसी पंक्तियों में भी काव्यानन्द प्राप्त करने के लिए शायद 'पन्त' ही होना पड़े। मेरी प्रार्थना

पंत जी अपनी इन कविताओं को एक बार पुनः एक ही बैठक में पढ़ जायँ।

पंतजी के इस चिन्तन ने भाषा को भी पथरा दिया है। बड़े भारी भरकम शब्द रचनाओं में महन्त बन बैठे रहे हैं। कुछ तो ऐसे लगते है मानों अभी अभी अमरकोश में से खींच निकाला हो। ऐसे शब्दों में मार्मिकता कहां से आयेगी। शब्दों की जीवनी-शक्ति कोशों में नहीं जिह्वाओं में है। कवि उन्हीं जिह्वानर्तित शब्दों में, विशेष संदर्भ और कथन-भंगिमा से रसदायी प्रभाव उत्पन्न करता है। इन शब्दों की भाषा कविता के पीछे दौड़ती है, जबकि कोशीय भाषा कविता पर अपना पाषाण सिंहासन स्थापित कर लेती है। पाठक में न तो सिंहासन के नीचे देखने की प्रवृत्ति है और न उसके पास इतनी फुरसत ही। इसका यह अर्थ नहीं कि पंत जी की भाषा में जीवनशक्ति नहीं है, जहाँ पर कवि की अनुभूति गहन है, वहाँ भाषा प्राणवान् है। जन्मदिवस का पूर्वांश, सोनजुही आदि कविताओं और कुछ गीतों में भाषा का वह सशक्त मार्मिक रूप द्रष्टव्य है। चिन्तन प्रधान कविताओं में (शांति क्रांति, जीवन प्रवाह आदि) भाषा मरी हुई है, मिस्रदेशीय ममी के समान। इसका प्रमुख कारण कवि का चिन्तन अनुभूति नहीं हो पाया है। बड़े-बड़े कोशीय शब्द तर्कासीन हों तो सार्थक हो जाते हैं और काव्यासीन हों तो निरर्थक ऐसी स्थिति में 'काव्य' तुकबन्दी रह जाता है।

संग्रह के गीत छायावाद की याद दिलाते हैं। विशेषतः प्रार्थना अथवा याचनापरक गीत छायावादी पंत, महादेवी, निराला की शैली के हैं। उनमें सुन्दर अभिव्यक्ति, भावुकता और मुक्त कल्पना के दर्शन होते हैं। वस्तुतः ऐसी ही अभिव्यक्ति, भावुकता और कल्पना पंत के मूल काव्य-गुण हैं। काश कि पंत दर्शन-व्यामोह में इनका गला न दबाते।

'वाणी' अतिमा के बाद की रचना है। मुख्य स्वर 'अतिमा' का ही है, केवल परिप्रेक्ष्य और संदर्भ थोड़ा भिन्न है। यहां सामाजिक स्तर पर अधिक बल है। बाह्य विषमताएँ और अभाव अधिक-मुखर हैं। पर कवि की आशा अभावग्रस्त नहीं है। इस आशा के आलोक में वह आगन्तुक समन्वय और सुख को पहचान रहा है विकासक्रम के माध्यम से। उसका 'जीवन की दिग् हरित चेतना में, दृढ़ विश्वास है, जो 'आत्मा कर इन्द्रिय मन को, इन्द्रिय मन कर आत्मा को, अर्पित, का आदेश देती है। 'अतिमा' का बुद्धि-विरोध यहाँ भी है, बुद्धि 'अरूप' जो है। कवि

को अब 'अनुभूति' चाहिए। इसका यह अर्थ नहीं कि कवि चिन्तन नहीं चाहता। चाहता है, पर उसका यह रूप है :—

आज चाहिए सामाजिक चिन्तन,
जग को, सामूहिक जीवन
भूस्तर पर उन्नयन।

'सुन्दर कुरूप', 'ऊँचनीच' के भेद कवि हरना चाहता है, कर्म, वचन, मन की एकता का प्रवचन देता है और 'प्रेमपूर्ण है, पूर्ण, पूर्णतम' का मंत्र प्रदान करता है। इस तरह मानवतावादी सामाजिक आदर्श की अवतारणा करना चाहता है। विज्ञान के विकास में कवि मस्त है। कवि महाप्रलयंकारी विज्ञान ('अग्निसंदेश') से 'नव मनुष्य' 'मानस का नवनीत' संयुक्त करना चाहते हैं। कहीं धर्म, नीति, संस्कृति आदि से पराजित मानव को सम्बुद्ध कर रहे हैं, (अभिषेक) तो कहीं कृत्रिम शहरी सभ्यता से अकुला कर गाँवों की ओर भाग जाने की इच्छा करते हैं। 'चैतन्य सूर्य' का समय आ गया है मानव को भीतर से बदलने की सलाह देते हैं।

रामकृष्ण, बुद्ध आदि जितने भी मानवता उद्धारक महामानव हो चुके हैं, उनसे एकांगिता छोड़ने का आग्रह कवि करते हैं, अरविन्द की 'सर्वांगिता' वे प्राप्त करें ऐसी कवि की अभीप्सा है। कवि के अनुसार बुद्ध, कृष्ण, गीता, शंकर आदि सबके दर्शन अर्द्ध सत्य हैं। क्योंकि इन्होंने विरक्ति, निवृत्ति, और निष्क्रियता को प्रचारित किया है, आश्चर्य है पंतजी गीता के कर्मयोग और पौराणिक भक्तियोग को भी विरक्ति और निवृत्तिपरक मानते हैं। अरविन्द में अन्धश्रद्धा के आवरण उनके बुद्धि-चक्षु पर छा गये हैं। 'वाणी' में भी वे बुद्धि का विनाश करने पर तुले हुए हैं। 'आत्मिका' में कवि स्व-वृत्त कहता है, जो मानसिक विकास की कहानी अधिक है। कविता का प्रारम्भ मार्मिक है, छायावादी 'चुक् चुक्' (भावुकता) की रसधारा में स्नात। संभवतः कवि इस अंश से अपने छायावादी रूप को चित्रित करना चाहते हैं। बाद में स्वतंत्रता, संघर्ष, राम-कृष्ण, मार्क्स, गांधी, अरविन्द आदि सब आजाते हैं, गद्यात्मक और द्विवेदीयुगीन इतिवृत्तात्मक रूप में।

समाज में व्याप्त वैषम्य, अप्रिय, कटु यथार्थ के प्रति विक्षोभ, विद्रोह की अभि-

व्यक्ति भी अनेक कविताओं में हुई है (कौवे, आत्मदान, अग्निसंदेश आदि)। 'घोघेशंख' कविता में शायद नई कविता (प्रयोगवादी) पर आक्षेप है, उनकी मज़ाक तक उड़ाई गई है।

अन्य अनेक कविताओं का विषय 'प्रतिमा'-स्रवित ही है। भाषा, प्रतीक आदि के बारे में भी 'प्रतिमा' की बातें प्रायशः सत्य हैं। स्वयं की पुनरावृत्ति पतनशीलता का परिचायक है। भाषा और काव्य की कृत्रिमता (Artificiality) उस 'पतन' में सहायक होती हैं। 'वाणी' तक के कवि पंत के लक्षण अच्छे नहीं हैं। वह 'पतित' की संज्ञा की ओर असामान्य गति से दौड़ रहा है।

इस चेतना-धारा की अंतिम कृति है 'कला और बूढ़ा चांद'। 'वाणी' के सामाजिक स्पर्श को धो-पोंछ दिया है। इसमें शुद्ध, शुभ्र शारदीय चेतना का विहार हो रहा है। प्रस्तुत ग्रन्थ कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। एक तो यह बहुचर्चित नहीं, बहुप्रशंसित ग्रंथ हो चुका है। साहित्य अकादमी ने इसे पुरस्कृत किया है, यद्यपि साहित्य अकादमी के पुरस्कार ग्रंथों की श्रेष्ठता के मापदण्ड नहीं होने चाहिए (पंजाबी के लेखक गार्गी को अभी-अभी 'भारतीय रंगमंच' पर पुरस्कार दिया गया है, जिसमें यशोधरा को कृष्ण की माँ बताया गया है)। प्रस्तुत ग्रन्थ की दूसरी विशेषता है— इसकी अभिव्यक्ति पद्धति। अब तक (वाणी तक के) पंत उलट कर स्वयं अपने सम्मुख ही जैसे खड़ा हो गया हो— न छंदों की परम्परा न प्रतीकों का गौण स्वरूप और न लम्बी चौड़ी व्याख्याएँ। पंत जी इसको स्फुरण (रश्मिपदी) काव्य कहते हैं। स्फुरण काव्य (Intution) में दृश्य (Vision) प्रमुख होता है, बौद्धिक संयोजना अत्यन्त अप्रमुख। फलतः इस काव्य के दुरुह होने की शक्यता है। यदि दृश्य खण्डित नहीं है, स्फुरण सर्वांग हुआ है तो काव्य में अनायास कलात्मक अन्विति आजाती है, जो उसे भावगम्य बना देती है। 'कला और बूढ़ा चांद' में कैसा स्फुरण है, यह बाद में विचार करेंगे। पहले पंत की इस विपरीत मुख (About turn) मुद्रा को समझने की चेष्टा करें।

'कला और बूढ़ा चाँद' की सर्जना के लिए दो कारण जिम्मेवार प्रतीत होते हैं। प्रारंभ से ही पंत में युग-धारा (अर्थात् युग–साहित्य-धारा) से कदम मिलाकर चलने की दुर्दम इच्छा रही है। उन्हें out of date कहलाना नापसन्द है। अतः वे इससे सदैव बचते रहे हैं और indate होने का सक्रिय प्रयास भी करते रहे हैं। 'कला और बूढ़ा

चाँद' नये कवियों (प्रयोगशील कवियों) की श्रेणी में ससम्मान स्थित होने की चेष्टा हो सकती है नयी कविता यदि टेकनीक ही है, तो पंत नये कवि ही नहीं, उनके अगुआ भी माने जा सकते हैं। (एक बार अगुआ प्रगतिवादियों के रह भी चुके हैं)। पर नयी कविता में वह चेतना युक्त श्रद्धा कहां ? पंत का 'बूढ़ा चांद' उर्ध्वगामी है, जबकि नई कविता अधःपतन की खण्डित अस्तित्व-स्थिति। दूसरा कारण आलोचकों का कटु रुख भी रहा है। यह कारण अनुमित ही है—पंत जी खुलासा करें तो सहमत-असहमत होने के अवसर प्राप्त हों। पन्त जी ने आलोचकों से हमेशा संघर्ष किया है, पर कालान्तर में उनकी बात मान भी ली है। इधर के पंत—काव्य के विषय में चारों ओर से शोर उठ रहा था इसमें व्याख्या बहुत है—इस कारण यह नीरसा और अमार्मिक होता जा रहा है। 'कला और बूढ़ा चांद' में कवि ने आक्रामक चुनौती दी है—'कहीं व्याख्या है क्या ? अब क्या कहोगे ? व्याख्या का प्रश्न ही नहीं उठता, भाषा ही कहां है, बस मात्र प्रतीक। अर्थ निकालने के लिए सिर धुनो।' अंतःस्फुरणात्मक प्रतीक जो हैं। तीसरा कारण भी कल्पित किया जा सकता है। पन्त शायद अनुभूति के उस स्तर तक पहुँच चुके हैं, जो वाणी में प्रकट नहीं किया जा सकता, योगियों और तन्मय भक्तों की अनुभूति, गूंगे का गुड़। यदि आपको पन्त की सच्चाई में विश्वास है तो यह कारण मान्य हो सकता है। पर 'प्रतिमा' और 'वाणी' में भी तो पंत चेतना-सिद्ध व्यक्ति की तरह बातें करते हैं। यह शिल्प का कायाकल्प अभी क्यों हुआ ? व्यक्तिगत रूप में मुझे पहले दो कारण ही तर्कसंगत लगते हैं।

'कला और बूढ़ा चांद' में कथ्य 'प्रतिमा' वाला ही है। वही चेतना कभी 'कला' का रूप धारण कर 'बूढ़ा चांद' (कवि मानस अथवा मानव-मानस) को भाव विह्वल बना देती है, तो कभी वह मधुमक्खी का रूप धारण कर जीवन का आदर्श उपस्थित करती है। मानस की संसार सुखोन्मुख इन्द्रियवृत्ति—नदियों को धेनुएँ' मानकर उन्हें स्वयं के भीतर ही झांकने की कवि सलाह देता है। उन्हीं नदियों के माध्यम से कवि मानवता का वोहित्य खेना चाहता है। अर्थात् इन्द्रियवृत्ति के सहयोग से कवि चेतन मानवता का निर्माण करना चाहता है। 'देहमान' कविता में मानव—आकांक्षा को धरा पर (मानवीय आधार पर) ही रहने का आदेश देता है, क्योंकि उत्तर दिशा (प्रतीक स्वर्ग और ज्ञान) में तुम्हारा कोई अस्तित्व और मूल्य नहीं रहेगा। स्वर्ग मत जाओ—तुम से

अधिक सौंदर्य और विलास कहां पर है। ज्ञान प्राप्ति की चेष्टा मत करो—क्योंकि ज्ञान थोथा है। 'ज्ञान' के तो पंतजी हाथ धोकर पीछे पड़े हैं। 'प्रतिमा' और 'वाणी' में भी ज्ञान का तिरस्कार है। परम्परा को छोड़ कर अवचेतन के अंधकार को कवि विनष्ट करता है और ईश्वर से संयुक्ति में संगति और आनंद देखता है। अधिकांश कविताओं में इसी चेतना का प्रतीकात्मक वर्णन है। कुछेक कविताओं में समाज, विज्ञान, संस्कृतिपरक संकेत भी आये हैं। पर सब प्रकार के रोगों की रामबाण औषधि है चेतना। 'वाचाल' जैसी कुछ व्यंग्यात्मक रचनाएँ भी हैं।

'कला और बूढ़ा चाँद' में पद्य है, नहीं गद्य जिसको आगे-पीछे सेट करके नई कविता का रूप दिया गया है। यह प्रवृत्ति न नई कविता में ही अच्छी है और न पन्त जी में ही। पन्तजी में तो यह अक्षम्य है—क्योंकि वे वयोवृद्ध व सर्वश्रेष्ठ जीवित कवि हैं। इसका आगामी काव्य पर बहुत बुरा असर पड़ सकता है। हर नया कवि उनका अनुकरण करते हुए, ऊटपटांग गद्य को काव्य में खपा देगा। फिर पन्तजी को यों गद्यवत् होने की आवश्यकता ही क्या थी। अंतःस्फुरण का बहाना बड़ा लंगड़ा है। प्राचीन आध्यात्मिक कवियों ने 'अव्यक्त' को भी छन्द में 'व्यक्त' किया है। पन्त जी में सामर्थ्य नहीं है—यह भी समझ में नहीं आता। नये बनने की सायास चेष्टा से काव्य की तो हानि ही होती है। मैं यह नहीं कहता कि कविता छन्दोबद्ध हो, पर 'कुछ तो' हो, जो उसे गद्य से विशिष्ट कर सके। वह 'कुछ तो' लययुक्त गति है। 'अर्थगति' की वकालत करने वाले पीठ से देखने की चेष्टा कर रहे हैं।

प्रस्तुत संग्रह में कुछ अतीव नये प्रतीकों की योजना हुई है। चातक, मूषक, मयूर आदि को अत्यन्त नया अर्थ दिया गया है जो आसानी से पल्ले पड़ना कठिन है। प्रतीक साधारण भाषा की असामर्थ्य के कारण आते हैं। पर वे स्वाभाविक होने चाहिए। उनके दो रूप हो सकते हैं—पौराणिक अथवा ऐतिहासिक प्रतीक और सर्वसामान्य के विश्वास और प्राकृतिक कार्य पर आधारित (Architypal) प्रतीक। ये दोनों प्रकार के प्रतीक सदैव बोधगम्य और मर्मस्पर्शी होंगे। व्यक्तिगत प्रतीकों के दुरूह होने के कारण अबोधगम्य और प्रभावहीन होने की आशंका है। पश्चिम में व्यक्तिगत प्रतीकों का प्रचलन है, जो हिन्दी में भी आ रहा है। पंत जी के अधिकांश प्रतीक भारतीय हैं (जैसे उत्तरदिशा, पावक, यदु आदि)। उनका संयोजन भी सुन्दर हुआ है, फलतः मार्मिक

प्रभाव का सर्जन करते हैं। इस क्षेत्र में 'प्रतिभा' 'वाणी' से यह रचना अधिक सबल है। पर कुछ प्रतीक पन्त जी ने यहाँ बड़े आक्रामक लिए हैं, जो वीभत्स की सीमा तक पहुँच गये हैं। योनि, जघन, स्तन आदि यौन प्रतीक स्वयं में बुरे नहीं, पर उनका निम्नलिखित संयोजन सामान्य पाठक में वमन की सुरसरी उत्पन्न करता है:—

सिन्धु तरंगे,
पंक सनी रांगों से बहती
धरायोनि की दुर्गंध
धो धोकर
कड़ुवाती
मुँह बिचकाती,
पछाड़ खाती रहती है।

संग्रह की अधिकांश कविताओं में आंगिक अन्विति और अर्थ संगति भी नहीं है। 'घर' 'फूल' आदि कविताएँ उदाहरण रूप में रखी जा सकती हैं। फिर भी कुछ स्थलों पर बिम्बविधान और अभिव्यक्ति अत्यन्त सबल है:—

कहो,
दिशाएँ
उषा के सुनहले पावक में
लिपटी रहें—
दिवस का
रुपहला बालक
जन्म ही न ले।

कहो,
शुभ्र कुँई-से उरोज खोल
दुग्ध-स्नात चांदनी
चांद के कटोरे में
सुधा पीती रहे—

ऐसे स्थलों पर पंत का स्वाभाविक नया कवि मुखर हुआ है। और ऐसे कुछेक स्थल भी पंत को महान कवि बनाने में समर्थ हैं।

सक्षेप में 'कला और बूढ़ा चाँद' में कथ्य का पुनरावर्त्तन है, पर भंगिमा नई है, जो कभी लुभाती है, कभी ऊबती है और कभी पस्त भी कर देती है। फिर भी पंत के काव्य में इसका महत्त्व है। क्योंकि यह भंगिमा एक विशेष प्रकार की ताजगी—और नवीनता का संचरण करती है।

पंत जी के ये तीनों संग्रह उनके अध्यात्मवादी स्वर को मुखर कर रहे हैं। इस तरह पंत घूम फिर कर उसी छायावादी गन्तव्य पर पहुँच गये हैं, जहाँ प्रसाद, महादेवी, निराला पहले ही पहुँच चुके थे। पंत का रास्ता चक्करदार और काँटेदार झाड़ियों के बीच से गुजरा। अतः इस जटिल यात्रा में पंत के काव्य की सुकुमारता, तरलता और मार्मिकता झाड़ियों से नुच गई। जो कुछ शेष है, वह 'जरा' के अंतंनयन में समाविष्ट हो गई। इससे काव्य तो 'उच्छ्वास' में ही रहा, 'वाणी' तो काव्यातिक्रम कर 'मतिमा' मय हो गई। अब 'बूढ़ा चाँद' कला की गोद में पड़ा आत्मतुष्टि का बहाना कर रहा है। पहले (यदि रूपक बढ़ाये तो) युवक चांद की गोद में कला थी। यह प्रगति है या दुर्गति— पंतजी स्वयं विचार करें। व्यक्तिगत रूप से कभी कभी पंत को पढ़ते समय मुझे महसूस हुआ है कि पंत भी महादेवी की तरह मौन धारण कर लेते तो अधिक अच्छा होता।

डॉ० रामकुमार वर्मा :— इस दशक में डॉ० रामकुमार वर्मा का 'एकलव्य' महाकाव्य प्रकाशित हुआ है।

हिन्दी के आधुनिक काल में महाकाव्य लिखने की परम्परा उसी प्रकार चल पड़ी है, जिस प्रकार रीतिकाल में लक्षण ग्रन्थ लिखने की परम्परा चल पड़ी थी। महाकाव्य लिखे बिना कोई महाकवि कैसे हो सकता है। कितने अधिक महाकाव्य लिखे गये हैं, इस का अनुमान (पढने की किसे फुरसत है) तो आधुनिक महाकाव्यों पर हुए शोधकार्य से लगाया जा सकता है— शायद दो तीन शोधग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं।

छायावाद काल में त्रिमूर्ति के अतिरिक्त जिन कवियों को प्रमुख माना जाता है, उनमें एक नाम डॉ० वर्मा का भी है। पर उसी समय ये नाटककार के रूप में प्रसिद्ध हो चुके थे। वे समर्थ नाटककार हैं यह कथन निर्विवाद है। तब से ये नाटक ही लिखते रहे हैं। हिन्दी का साधारण पाठक सम्भवतः भूल सा गया कि डॉ० वर्मा कवि भी हैं। उनका परिचय डा० वर्मा के नाटककार, आलोचक और सफल अध्यापक के रूपों से ही अधिक था। 'एकलव्य' मानों ढिंढोरा पीट कर कह रहा है कि वर्माजी कवि भी रह चुके हैं।

'एकलव्य' महाभारत में वर्णित कथा पर आधारित है। महाभारतकार ने इस आख्यान को अधिक महत्व नहीं दिया है। केवल ३० श्लोकों में इसका वर्णन किया है। इस संक्षेप का उत्तरदायित्व महाभारत के क्षेत्र की विशालता है। महाभारतकार की सबसे बड़ी विशेषता है उसकी निःसंगता। दुर्योधन, कर्ण आदि खलपात्रों को भी कवि ने पर्याप्त सहानुभूति प्रदान की है। एकलव्य का आख्यान संक्षिप्त है, किन्तु इस संक्षेप में भी उसके व्यक्तित्व की विराटता अंकित हुई है। महाभारतीय एकलव्य में दो ही प्रमुख विशेषताएं दिखाई देती हैं — अद्भुत धनुष–कौशल और आदर्श गुरुभक्ति। वर्माजी ने ये दो गुण तो लिए ही हैं, पर काव्य को युगानुरूप बनाने के लिए अन्य श्रेय–प्रेय गुणों की योजना भी की है। अछूतोद्धार का आन्दोलन इस काव्य का प्रेरणा-स्रोत है। एकलव्य निषाद होने के कारण इस आन्दोलन का उपयुक्त प्रतिनिधि बन सकता था। अतः डा० वर्मा ने एकलव्य का पुनर्निर्माण किया है और यथासंभव द्रोणाचार्य के चरित्र पर पक्षपात का जो कलंक लग गया है, उसका प्रक्षालन करने की चेष्टा भी कवि ने की है। इस काव्य का विस्तार चौदह सर्गों तक है।

प्रारम्भ में काव्य–वस्तु के अनुरूप कवि ने किरातराज महादेव, वाल्मीकि आदि की स्तुति की है। हस्तिनापुर में द्रोणाचार्य की राजगुरु के रूप में नियुक्ति, द्रुपद द्वारा द्रोण का अपमान, द्रोण का गुरु रूप, एकलव्य का प्रतिमा–सम्मुख अस्त्राभ्यास, एकलव्य–माता की वियोग व्याकुलता, द्रोण का स्वप्नदर्शन, एकलव्य–द्रोण–मिलन आदि प्रसंगों के चित्रण में कवि ने मौलिक संयोजन का परिचय दिया है। कथा में घटनाएं कम हैं; क्योंकि कवि ने मूल के अधिक इधर उधर जाना उचित नहीं समझा है। फिर भी कथा में प्रवाह है।

चरित्र-चित्रण की दृष्टि से एकलव्य में शील, साहस, नम्रता, शौर्य, माता-पिता

प्रेम, आदर्श गुरु भक्ति आदि के गुण चित्रित हुए हैं। एकलव्य में अतीव आत्मविश्वास और श्रद्धा है। आत्मिक प्रेरणा से ही वह अस्त्राभ्यास में विस्मयकारक कौशल प्राप्त कर लेता है। एकलव्य वीर साहसी होने के साथ-साथ गरीबों के प्रति अत्यन्त सहानुभूतिशील भी है। एकलव्य में कहीं भी सामाजिक विद्रोह, अन्याय के प्रति प्रतिशोध अथवा स्व-शोषण की चेतना नहीं है। इसलिए एकलव्य का पात्र आदर्श पात्र ही है, पूर्णतः पुस्तकीय उसमें युगानुरूप जीवन का स्पन्दन और चैतन्य नहीं है। संभवतः कवि महाभारतीय चरित्र में कोई उल्लेखनीय परिवर्तन करना नहीं चाहता हो। द्रोण के चरित्र में महाभारतीय कठोरता और संकीर्णता के स्थान पर कोमलता और उदार हृदयता का समावेश किया गया है। गुरु दक्षिणा वाले प्रसंग में द्रोण को निर्दोष सिद्ध करने की चेष्टा की गई है। कवि के अनुसार भीष्म द्वारा राजगुरु के रूप में जब द्रोण की नियुक्ति की गई, तब द्रोण ने अर्जुन को अद्वितीय धन्वी बनाने की प्रतिज्ञा की थी। फलतः अंगुष्ठ–मांग के लिए द्रोण नहीं, यह प्रतिज्ञा उत्तरदायी है। वर्माजी ने स्थिति को सभालने का भरसक प्रयास किया है। यह कारण इतना आसान और सरल है कि विश्वसनीय नहीं प्रतीत होता। द्रोण के इस कलंक निवारण की चेष्टा ही काव्यात्मक दृष्टि से अनुपयोगी है। द्रोण का चरित्र इस कलक के कारण ही प्राणवान् है 'एकलव्य' का एकलव्य भी कलंकित द्रोण की उपस्थिति में ही अधिक प्राणवान् होता; एकलव्य के लेखन से महाभारतकार की कला और महानता और भी अधिक निखर गई है। कवि ने अर्जुन को गिरा दिया है। यहां वह स्वार्थी, राजनीतिकुशल राजकुमार मात्र है।

वर्णन साधारणतः अच्छे है. शैली वही छायावादी — जो कवि की प्रतिभा के अनुकूल है। अतः कहीं-कहीं अत्यधिक मार्मिकता आ गई है। भाषा भी परम्परागत और प्रौढ़ है। कहीं कहीं जहां कवि ने व्याकरण और काव्यशास्त्र सम्बन्धी उपमानों का प्रयोग गया है, वहां अलंकार विधान बड़ा नीरस और बोझिल हो गया है। 'एकलव्य' महाकाव्य के शास्त्रीय लक्षणों का अनुसरण नहीं करता। शास्त्रीय लक्षण युगविशेष की काव्यधारा और चेतना को लक्ष्य में रख बनाये जाते हैं। इसलिए आधुनिक संदर्भ में उनका अक्षरशः पालन आवश्यक है। संक्षेपतः 'एकलव्य' में मानवतावादी विचारधारा अछूतोद्धारा आदि समस्याओं को निरूपित करने की चेष्टा हुई है।

कलाकारिता की दृष्टि से यह एक साधारण महाकाव्य है। इतना श्रम यदि

डा० वर्मा नाटक लिखने में करते तो हिन्दी साहित्य की अमूल्य सेवा होती।

: २ :

बच्चन, अंचल, भगवतीचरण, नरेन्द्र आदि का काव्य छायावाद की प्रतिक्रिया नहीं, विकास- रेखा है। इस काव्य में परम्पराभुक्ति भी है और विद्रोह भी। छायावाद की जिस शृंगारमय भावप्रधानता का उल्लेख पहले हो चुका है, वह और भी मांसल और शारीरिक होकर इन कवियों में विकसित हुई है। रूपक की भाषा में कहें तो छायावाद की 'भावी पत्नी' (पन्त) के गर्भ से इस काव्य का जन्म हुआ है। इस काव्य का मूल विषय प्रेम है, शुद्ध सांसारिक बायरोनिक प्रेम। फलतः इस काव्य में उस साधारण मानव की सुख-दुःखात्मक प्रेम भावनाएं चित्रित हैं, जो अब तक प्रायशः उपेक्षित ही रही थीं। इस प्रेम का आधार शुद्ध वासना है, जो ऐन्द्रिक होने के साथ साथ व्यक्तिनिष्ठ भी हो गई है। इसी कारण यह रीतिकालीन भ्रमरीवृत्ति से बच सकी है। सूत्र रूप में इन कवियों का प्रेम स्वकीयाभाव का ही है— परकीया भाव का नहीं। यह वासना आदर्शरूपा है। क्योंकि वासना जब जीवन की सहायक होती है, तब वह आदर्शरूपा और विशिष्ट हो जाती है और जब वह जीवन का लक्ष्य हो जाये, तो उच्छृंखल विलास और व्यभिचार बन जाती है।

दुर्भाग्य से इन कवियों का प्रेम अधिकांशतः असफल ही रहा है। प्रेम की असफलता के प्रायः दो कारण होते हैं— प्रेमी या प्रेमिका ही उपेक्षा करें— जो प्रायः उर्दू काव्य में आये दिन होता रहता है— अथवा समाज प्रेमी-प्रेमिका के बीच बाधा रूप हो जाये। पहला कारण परकीया भाव में प्रभावकारी होता है, जबकि दूसरा स्वकीया भाव में। क्योंकि समाज तो सामाजिक प्रेम में ही बाधा पहुँचा सकता है, व्यक्तिगत सम्बन्ध में नहीं। इन कवियों का प्रेम सामाजिक रूढ़ियों के कारण असफल है। अतः इस काव्य में समाज के प्रति उपेक्षा, विद्रोह और आक्रोश की भावना प्रबल है। कभी कवि सामाजिक अत्याचार और दमन से पीड़ित हो क्रंदन करता है तो कभी उसके विनाश का संकल्प। कभी वह अपनी दीवानी हस्ती से समाज को प्रभावित करना चाहता है तो कभी अपने अहंकार से ब्रह्माण्ड को हस्तामलक करना चाहता है। संक्षेपतः इन कवियों में विरह है (जो कभी कभी इतना कृत्रिम भी हो गया है कि रीतिकाल की याद आये), पीड़ा है,

विद्रोह है और एक अजब तरह की दीवानगी, अक्खड़ता और फक्कड़पन है (जो 'कबीरोपासक' डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी को बहुत पसन्द है) ।

शराब का निराश प्रेमी से बहुत पुराना सम्बन्ध है। इस काव्य में भी शराब सजधज कर आई बच्चन में सर्वाधिक, अन्य कवियों में कभी-कभास। पर बच्चन की यह शराब न देशी थी और न अंग्रेजी। यह ईरान से लाई गयी थी। इस पुरानी शराब का हिन्दी श्रोताओं पर (पाठकों पर नहीं भयंकर नशा हुआ— क्योंकि यह मादक कंठस्वर में घोलकर पिलाई गई थी। पर था यह नशा ही— अमृत नहीं, जो जीवन को सुख में बोर दे। उमर खैयाम की शराब अमृत थी, उसमें गम्भीर दर्शन बताया जाता है। बच्चन की शराब शुद्ध शराब थी, जो 'मन्दिर' 'मस्जिद' के नामों के साथ बेची गई। बिक्री खूब हुई और खूब पैसा बरसा। मैं 'मधुशाला' अथवा 'हालावाद' को शुद्ध व्यापारिक सफलता मानता हूँ। और इस सफलता के लिए मधुशाला की लोकप्रियता के कारण हैं— उर्दू मुशायरों द्वारा सजित वातावरण तथा बच्चनजी का मिश्री से घुला स्वर। अच्छा हुआ कि बच्चनजी स्वयं आगे इस नशे से दूर हो गये। क्योंकि मुझे बच्चनजी सदैव अपने इस रूप में 'प्रभाव' ही लगे 'स्वभाव' नहीं।

इस काव्य में विद्रोह के स्वर भी मुखर हुए। यह विद्रोह उस छायावादी 'व्यक्ति' के प्रति था, जो इतना अधिक आध्यात्मिक था कि साधारण मानव के रागविराग की सीमा का अतिक्रमण करता था। इन कवियों ने उस आध्यात्मिकता अथवा दार्शनिकता के बोझ को उतार फेंका। अध्यात्म, धर्म, दर्शन आदि सब मार्ग बहकाने वाले इन्हें प्रतीत हुए। बुद्धि का भी समूल उच्छेदन इन कवियों का लक्ष्य बन गया। इस कारण इनके काव्य में जहां गहन मानवीय रागात्मक भावप्रधान अनुभूति की मार्मिकता आई, वहां वांछनीय गम्भीरता और उदारता का ह्रास भी हुआ। काव्य अत्यधिक व्यक्तिपरक फलतः संकीर्ण होता गया। व्यक्तिपरक असफलता और आध्यात्मिक आधार के अभाव के कारण इस काव्य में गम्भीर अनास्था, निराशा और कुण्ठा उत्पन्न हुई। सब ओर से आक्रान्त कवि, काव्याव्यक्तित्व, बड़ा हीन और असहाय सा होगया; उसमें एक प्रकार का खोखलापन आगया। अहंकारोक्तियों और अपनी दीवानगी की दुहाई से इन्होंने अपनी ठोसता प्रमाणित करने की चेष्टा अवश्य की है— पर अन्तर में ये सब आस्थाहीन और निराधार

हैं । सामाजिक व्यक्ति की पूर्णता सदैव धर्म, दर्शन अथवा अन्य किसी मत के बाहरी सम्बल का सहारा लेती है, जिसको ये विद्रोह की आंधी में खो चुके थे ।

यह काव्य सामाजिक व्यक्ति पर केन्द्रित हो गया, फलतः आसानी से इस युग के कवि सामयिक राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितियों पर भी कविताएं लिखते रहे । ये कविताएं प्रमुखतः राष्ट्रीय और अंशतः प्रगतिवादी रहीं । काव्य की दृष्टि से ये साधारण कोटि की कविताएं हैं ।

छंद में कोई नवीनता नहीं आई । व्यक्तिपरक भाव-प्राधान्य के कारण गीतों की रचना अधिक हुई । प्रबन्ध काव्य तो नगण्य ही रहे । इस प्रकार आस्थाहीन मनःस्थिति से प्रबन्ध काव्य की आशा करना हवा में महल बनाना ही है । गीतों में गेयता और अधिक आगयी थी । हां, भाषा में अवश्य ताजगी और नवीनता के दर्शन हुए । छायावादी भाषा अमरकोशीय तत्सम प्रधान थी, जबकि इन कवियों ने सीधी सादी बोलचाल की चलती भाषा में काव्य लिखा । इस भाषा में अभूतपूर्व व्यंजना और मार्मिकता का समावेश हो सका है । यह इन कवियों की प्रशंसनीय सफलता है ।

बच्चन :— पिछले दशक में बच्चन के कई कविता संग्रह प्रकाशित हुए हैं, धार के इधर उधर, आरती और अंगारे, बुद्ध और नाचघर, त्रिभंगिमा और चार खेमें चौंसठ खूंटे । 'धार के इधर उधर' की भूमिका से ज्ञात होता है कि इस संग्रह में ४० से '५६ तक की 'विशेष अवसरों पर अथवा विशेष मानसिक परिस्थितियों में लिखी हुई' कविताएं हैं । इसमें कुल ६४ रचनाएं हैं, जिसमें प्रायः सभी व्यक्ति के बाह्य पक्ष से सम्बद्ध हैं । मधुशाला' 'आकुल अन्तर' 'मिलन यामिनी' आदि के मधुपायी प्रेमी का स्वर कठिन अनुसंधान पर भी नहीं मिलेगा । बच्चन के काव्य का शुद्ध मानवीय आधार होने के कारण वे आसानी से इधर (मधु और प्रेयसी) उधर (समाज, राष्ट्र आदि की समस्याएं) हो सकते हैं । प्रारम्भिक बीसेक कविताओं में कवि मानवता की विनाशात्मक प्रक्रिया से आहत दिखाई देता है । चारों ओर उसे 'युद्ध की ज्वाला' का ताप महसूस हो रहा है । पृथ्वी 'रक्तस्नान' करेगी, यह वह अनुभव कर रहा है । भय और आक्रोश का ऐसा वातावरण है कि इस 'व्याकुल संसार' में प्रेमी 'चुम्बन-प्यार' भी नहीं दे सकता । मानव के स्वाभाविक प्रवृत्तिगत कार्य भी अवरुद्ध से हो गये हैं ।

जीवन की संजीवनी प्रेम, स्नेह रूपा प्राणधारा जैसे भावी विनाश के भयाताप से सूख गई है। 'मनुष्य की निर्ममता', इसकी हिंस्रता, विप्लव, करुण पुकार आदि से कवि संतप्त है।

शेष सब कविताएँ भारत विषयक हैं। इन कविताओं में भारत की प्राचीन संस्कृति और गौरव हिन्दुस्तान की जाति और धर्मगत समस्याएँ, विभाजन की पीड़ा और स्वदेश की आवश्यकता आदि का चित्रण हुआ है। देश के नेताओं पर भी प्रशस्तिपरक अथवा उद्बोधनपरक ५-७ कविताएँ हैं। 'देश के युवकों से' कर्त्तव्याकर्त्तव्य की सीधी बातें हैं। 'नये वर्ष' पर आजादी की पहली, दूसरी वर्षगांठ, स्वतंत्रता दिवस, ब्रह्मदेश की स्वतन्त्रता पर भी कवि ने मुक्तहस्त शब्द वितरण किया है। अमित, अजित, राजीव, और अस्मिता के जन्मदिन भी एक एक कविता उत्पन्न कर सके। बच्चनजी संभवतः अब नियमित रूप से Offic -work के समान ही काव्य-सर्जन करते हैं।

काव्यात्मक दृष्टि से यह संग्रह काव्य-धारा के इधर उधर ही है। समझ में नहीं आता कि इतना पुराना कवि भी क्यों स्वयं वस्तुपरक (Objective) दृष्टिकोण से नहीं आंक सकता । क्या अब भी बच्चनजी में छपास की भूख है। बच्चनजी एक ही नहीं, यह छपास का रोग हिन्दी के अधिकांश कवियों में लक्षित हुआ है। एक बार प्रसिद्धि मिले कि बस 'बा'-'बा' करने की उम्र से लेकर बाबा हो जाने तक का-जितना कूड़ा करकट है, वह छपवा देते हैं। और उनके सौभाग्य से हिन्दी साहित्य के दुर्भाग्य से—प्रकाशक भी प्रायः ऐसे निरक्षर भट्टाचार्य अथवा बाजारू दृष्टि के हैं कि 'बड़ा नाम' ही काफी है, बड़े काव्य को कौन पूछता है।

सामयिकता को काव्य में उतारना बड़ा कठिन है। क्योंकि उसके लिए सायास अनुभव की चेष्टा करनी पड़ती है। मानस को उसी के अनुरूप ढालना (Conditioning) पड़ता है। तभी वह सच्ची अनुभूति बन सकता है। 'किसी विशेष अवसर' के उपलक्ष्य में कविता नहीं लिखी जा सकती तुकबन्दी हो सकती है। बच्चन के इस संग्रह में प्रायशः तुकबन्दियां हैं। कोई भी कविता उदाहरणरूप परखी जा सकती है। हां, अधिकांश कविताओं के ऊपर 'बालकाव्य' लिख दिया जाये तो बच्चन हिन्दी बाल साहित्य के महान् सेवक गिने जा सकते हैं।

छंद विधान और भाषा में भी कोई नवीनता नहीं है। प्रायः गीत हैं, जो 'निशा

निमंत्रण', 'मिलन-यामिनी' अथवा 'आकुल अंतर' की योजना के अनुसार हैं। कुछ प्रवाह युक्त उद्बोधन गीत हैं, और कुछ प्रशस्तिकाव्य भी मार्चिंग सोंग की तकनीक पर लिखे गये हैं। भाषा चलती, उर्दू और संस्कृत के छौंक वाली है। भाषा के सम्बन्ध में शिकायत करने का मौका बच्चन कम ही देते हैं।

दूसरा संग्रह 'आरती और अंगारे' में पूरी सौ कविताएँ हैं। प्रथम संस्करण की लम्बी चौड़ी भूमिका में कवि ने 'अपने मानव में विश्वास' को ताल ठोंक कर स्थापित किया है और कवि के प्रति 'शत्रुता' तथा 'उदासीनता' को 'सजीव व्यक्तित्व और सजीव कवित्व के प्रति प्राय: इस प्रकार की प्रतिक्रियाएँ होती हैं।' कहकर अहंकारपूर्वक टालने की चेष्टा की है। फिरभी कवि अपने व्यक्तित्व और कवित्व को सुस्थिर नहीं मानता। क्योंकि उनका जीवन और काव्य सांगिक (Organic) है।

प्रारम्भ की ३२ कविताओं में कवि ने प्राचीन कवियों, चित्रकारों, शिल्पियों आदि कला-साधकों को उपकृत किया है, स्तुति प्रशस्ति की है और उनकी 'आरती' उतारी है। सरस्वती से लेकर उर्दू कवि ग़ालिब तक को कवि के शब्दों ने बांध डाला है। सब में— एक केशव को छोड़कर— आपूर श्रद्धा, वंदना और प्रशंसा की भाषा प्रयुक्त हुई है। कवि के अनुसार ये कविताएँ किसी प्रबन्ध-काव्य की कल्पना के खण्ड हैं। पर इस खण्डित रूपों में न 'प्रबन्ध' ही है और न 'काव्य' ही। 'प्रशस्ति काव्य तभी बन सकती है, जबकि नायक से गम्भीर हार्दिक सम्बन्ध हो, मानसिक अविभाज्यता हो। केवल बौद्धिक सहानुभूति के आधार पर की गई रचना समय और शब्दों का अपव्यय मात्र होता है। क्योंकि उसमें अनुभूति की गहनता नहीं आ सकती। बच्चनजी की 'आरती' मन्दिर के पुजारी की 'आरती' ही है। पुजारी के लिए 'आरती' एक दैनिक कार्य (Routine work) मात्र है। मीरा की आरती की सहज भाव प्रवणता उसमें कहाँ ?

आगे दसेक कविताओं में अपने बाप दादों, भाई भतीजों, प्रेयसी पत्नी, मित्र और इलाहाबाद नगर पर कलम चलाई है, उनके प्रति कवि ने कृतज्ञता प्रकट की है। यह व्यक्तिगत मामला है, किसी को क्या आपत्ति हो सकती है ? पर अच्छा होता कि कवि इन्हें संजोकर रखता, कम से कम पाठकों के व्यस्त जीवन का ख्याल करके ही, अथवा वह अपनी आत्म-कथा लिखता, चाहे छन्दबद्ध ही। प्राचीनकाल में ज्योतिष और आयुर्वेद भी छन्दबद्ध भाषा में लिखे जाते थे। इन कविताओं को पढ़कर एक ही मानसिक प्रतिक्रिया

हुई कि ये व्यक्तिगत-स्मृतियों का विवरण हैं। सफल काव्य सार्वजनीन ही नहीं, विश्वजनीन भी होता है; समष्टि रूप। स्पष्ट है कि कवि 'व्यक्ति' की सीमा को सार्वजनिक नहीं बना सका है।

शेष कविताएँ निश्चित रूप से कविताएँ हैं। इन कविताओं में वही पुरानी प्रणयी, समाज-विद्रोही, रोमेंटिक बच्चन उभल रहा है। यहाँ अनुभूति की गहनता भी है और कथन की सच्चाई भी।

अंग से मेरे लगा तू अंग ऐसे,
आज तू ही बोल मेरे भी गले से।

वही प्राचीन व्याकुलता, टीस, प्रणय लालसा और विद्रोह जिसने बच्चन को बच्चन बनाया। बच्चन सदैव ऐसा क्यों नहीं लिखते। प्रगतिवादी अथवा प्रयोगवादी आलोचकों के डर से अथवा समय के साथ कदम मिलाने की प्रवृत्ति के मोह के कारण। प्रत्येक कवि के पास एक विशेष प्रकार की प्रतिभा होती है। उस प्रतिभा के निर्माण में अनेक साहित्यिक और सामाजिक कारण होते है। बुढ़ापे में उस प्रतिभा की तोड़ मरोड़ करने की चेष्टा में प्रतिभा बिखर जाती है, शेष शब्द मात्र रहते हैं। समय है कि पुरानी पीढ़ी के कवि इस तथ्य को समझें। इन १०० कविताओं में अंतिम तीसेक सच्ची कविताएँ हैं, जो बरबस हृदय को रस-प्लावित करती हैं। क्योंकि इनमें कृत्रिमता नहीं, सहज स्वाभाविकता है— कवि के व्यक्तित्व के अनुरूप।

'बुद्ध और नाचघर' में २८ लम्बी मुक्त छन्दीय कविताएँ हैं, अधिकांशतः विचार प्रधान। 'पपीहा और चील कौए', 'चांद और बिजली की रोशनी', 'शैल विहंगिनी' और 'रात का अपराध' संग्रह की सर्वश्रेष्ठ रचनाएँ हैं। इनके मुक्तछन्दों में सहज प्रवाह है और अभिव्यक्ति प्रतीकात्मक है। 'पपीहा और चील कौए' मानव के दो पक्षों को व्यंजित करते हैं, आदर्श महत्वाकांक्षा अथवा स्वर्गिक प्रेम और यथार्थ स्वार्थोन्मुख वासना। 'चांद' वाली कविता में बिजली वैज्ञानिक उन्नति का प्रतीक है, जिसने मनुष्य के अहंकार, वासना और स्वार्थ इतना पुष्ट किया कि स्वाभाविक प्रवृतियों की भी वह उपेक्षा करने लगा। ये दोनों ही सुन्दर और सबल प्रतीक हैं। एक उल्लेख्य कविता और है— 'बुद्ध और नाचघर'। इस कविता में सांस्कृतिक पतन तथा सभ्य-समाज में व्याप्त कामवासना का सजीव वर्णन हुआ है। पर इसमें कसाव कम है। कहीं-कहीं पर यह उपदेशात्मक

(Didactic) हो गई है। तीन-चार कविताएँ अपने दोस्तों से सम्बन्ध रखती हैं। वे पढ़ेंगे तो उन्हें लाभ होगा। अपनी बात कहने में इन दिनों बच्चन अधिक रस लेने लगे हैं— काव्य रस के मूल्य पर भी। डैफोडिल, तुम्हारी नजरों में वे— बचकाने प्रयोग हैं। इनके व्यंग में सस्तापन अधिक है, सूक्ष्म मार्मिकता कम। 'आह्वान', 'सृष्टि', 'पूजा' 'वरदान', हिन्दु मुसलमान' आदि रचनाएँ भी साधारण हैं। 'तप' कविता में बच्चों के लिए पर्याप्त मनोरंजन की सामग्री है—

जलती चल
तपती चल
जल जलकर तप करती चल,
बस एक मंत्र जपती चल
बस एक ध्यान धरती चल
जलती चल
तपती चल

'गाड़ी चल,' घोड़ी चल' आदि बालगीतों से मिलाइये।

'चार खेमें चौसट खूँटे' संग्रह में ६४ कविताएँ हैं— सभी प्रकार की। १५-२० लोकधुनों पर आधारित हैं। लोक काव्य आजकल कवियों का प्रिय आकर्षण होगया है। पर लोक काव्य पर आधारित रचना स्वयं कवि के मन को ही बहला सकती है, उसमें काव्योचित गांभीर्य नहीं आ सकता। क्योंकि शिष्ट (नागरी) कवि के मानस और लोक कवि के मानस में कुछ अंतर है, जो अनुभूति के उपकरणों को भी अलग-अलग विभक्त कर देता है। शिष्ट कवि अधिक से अधिक लोक कवियों की नकल कर सकता है; वह भी लय और धुन की। इस नकल में खेमों का कवि काफी सफल हुआ है। महदकाव्य मनवाने की तो कवि की स्वयं की इच्छा भी शायद न हो।

इसके अतिरिक्त शेष सब विचारप्रधान कविताएँ हैं लययुक्त मुक्तछन्द का सुन्दर प्रयोग देखकर प्रतीत होता है कि नये कवि बच्चनजी से इस क्षेत्र में काफी सीख सकते हैं। अधिकांश कविताएँ भी मार्मिक हैं—विचार प्रधान कविता को मार्मिक बनाना कवि-कर्म की कसोटी है। क्योंकि विचार को अनुभूति में डुबा कर समन्वित करने से वह काव्योचित बनता है। 'सत्य की हत्या', विषफल, दैत्य की देन, मनजिए विश्वास आदि

कई सुन्दर विचारात्मक कविताएँ हैं । इन कविताओं में प्रायः कवि मानव की चिरन्तन हँधमावी समस्याओं से चिंतत रहा है । विज्ञान की उन्नति से जो अनुदारता और खोखलापन आ गया है; उसकी पीड़ाजनक प्रतीति भी कवि को हुई है । फिर भी कवि आस्थावान और आशावान है । 'प्रभु को पुकारो' की आवाज लगाता है और 'चल बंजारे' का गीत गाता है ।

बच्चन ने पिछले दशक में बहुत कुछ लिखा है । लिखना उतना बुरा नहीं, जो लिखा उस सब को छपाना बुरा है । संख्या का मोह बच्चन को है, उन्होंने स्वयं स्वीकार भी किया है । पर बच्चन जैसे प्रौढ़ कवि से कुछ सयम की आशा की जा सकती थी । अपने कृतित्व को स्वयं तोलकर छपवाते तो पाँच संग्रहों के स्थान पर मुश्किल से एक संग्रह बन पाता—गुणयुक्त । आगे बच्चन जो प्रयोगवाद अथवा नयी कविता से कदम मिलाने की कोशिश न करें और संख्या के स्थान पर गुण पर विशेष दृष्टि रखें तो उनसे सार्थक आशा की जा सकती है । अब संभवतः वह जमाना नहीं है कि गले के आधार पर ही कवित्व कायम रह सके ।

अंचल:—अंचल प्रारम्भ से ही यौवन और प्रणय के कवि रहे हैं । यद्यपि यदाकदा भूले भटके इन्होंने क्रान्ति, विद्रोह और सर्वहारा की बातें की हैं, पर यह स्वर अप्रमुख ही है । कुछ लोगों ने अंचल को विद्रोही कवि कहा तो कुछ ने क्षयी रोमांस का कवि । अंचल शुद्ध प्रणय-कवि हैं । उनके काव्य का केन्द्र मानवी नारी है, युवा, प्रेयसी रूप में । इस नारी के गीत इस खेमें के सब कवियों ने ही गाये हैं पर अंचल तो उसमें आकण्ठ डूब गये हैं ।

अंचल का 'वर्षान्त के बादल' संग्रह भी उसी नारी प्रणय में भीगा हुआ है । दो-तीन प्रकृति संबंधी सुन्दर रचनाएं हैं, सजीव चित्रों से युक्त । शैली पुरानी' ही है । इसलिए अधिक मार्मिक भी । यह अच्छा लक्षण है कि अंचल को नयेपन का बुखार नहीं चढ़ा है । अपनी प्रतिभा के अनुरूप काव्य लिख रहे हैं । बाकी सब कविताओं में मिलन विरह, प्रतीक्षा, स्वप्न, जलन, पुकार, मान आदि के आँसू-भीगे स्वर हैं । इनकी अभिव्यक्ति के विषय में कोई शिकायत नहीं । क्योंकि वह परम्परित सबल प्राणवत्ता से अनुप्राणित है।

संक्षेप में कहें तो अंचल अपने इस रूप में अब भी जिन्दादिल कवि हैं । संसार

के उद्धार, थोथी मानवता की पुकार, सर्वहारा के प्रति बौद्धिक सहानुभूति और नयी कविता के बेबुनियादी नयेपन से यदि बचे रह सकें, तो उनके काव्य की जिन्दादिली अक्षुण्ण रहेगी। इस खेमें के कवियों में सबसे अधिक काव्यात्मक और सरल कवि दो ही थे—अंचल और नरेन्द्र। नरेन्द्र के काव्य को गांधी के व्यक्तित्व ने खा डाला। अब केवल अंचल बचे हैं। ईमानदारी और मार्मिकता से रोमांस का चित्रण हेय काव्य नहीं है। काव्य में विषयगत श्रेष्ठता आवश्यक नहीं, विषय की सहज, गंभीर अ[illegible] आवश्यक है।

: ३ :

छायावाद की सर्वांग प्रतिक्रिया प्रगतिवादी काव्य है। छायावादी 'व्यक्ति' सामान्य अवश्य था, पर वह आदर्श आध्यात्मिक रूप में ही सामान्य था। इसलिए उसमें जनजीवन के आर्थिक और सामाजिक पहलू की उपेक्षा थी। जीवन के कटुयर्थाथ को पूंजीवाद का परिणाम मानकर प्रगतिवाद हिन्दी-साहित्य में आया; सब कुछ को तोड़ फोड़कर वर्गहीन समाज की स्थापना का संकल्प लेकर। इसलिए इस काव्य में क्रांति, विनाश, घृणा, द्वेष, आक्रोष ही अधिक पनपा। सोवियत रूस की प्रेरणावश लालझंडा, लाल सुबह और लाल सेना भी अदबद कर कविताओं के माथे पर चमचमाती रही। प्रगतिवादी व्यक्ति इस रूप में छायावादी व्यक्ति का सर्वांग विलोम है। यहाँ व्यक्ति समाज का एक अंग—पुर्जा—मात्र रह गया। उसकी व्यक्तिसत्ता सम्पूर्णतः लुप्त हो गई, मार्क्स-दर्शन के आधार पर काव्य केवल साधन (Tool) मात्र बन गया। इस स्थिति में किसी भी महान् काव्य-कृति की प्राप्ति की आशा नहीं की जा सकती। धीरे-धीरे प्रगतिवादी कवि भी मार्क्स के दामन को छोड़ संस्कृति के आश्रय में जाने लगे; कुछ 'नये' हो गये और कुछ 'अरविन्द' अथवा विवेकानन्द पन्थी।

छायावाद के साथ-साथ एक दूसरी धारा भी चल रही थी—राष्ट्रीय धारा। इस धारा का छायावाद से विरोध नहीं था। वस्तुतः वे एक दूसरे की पूरक थीं। इसमें मैथिलीशरण, प्रसाद, निराला आदि को भी अंशतः शामिल किया जा सकता है। पर प्रमुख कवि इसके नवीन' और माखनलाल चतुर्वेदी ही थे। चतुर्वेदी के काव्य का एक पहलू पूर्णतः रोमैंटिक भी है। पर उनकी प्रसिद्धि संभवतः उनके राजनीतिक कार्य के कारण—राष्ट्रीयता के गायक रूप में ही अधिक हुई।

दिनकर:—दिनकर ने पिछले दशक में खूब लिखा-छपवाया है। दो महाकाव्य और कुछ कविता संग्रह।

'रश्मिरथी' महाकाव्याकार की प्रबन्ध कविता है। 'कुरुक्षेत्र' में और उसके बाद दिनकर बुद्धिवादी बनते गये। 'रश्मिरथी' भी उसी बुद्धिवाद का प्रतिफल है, जिसमें काव्य यदाकदा और चिन्तन सर्वदा दिखाई देता है। अपने समाजवादी और मानवतावादी दृष्टिकोण का आरोपण 'कुरुक्षेत्र' के समान यहाँ भी कवि ने खुल कर किया है। 'मूलतः कुलीन पर लोकश्रुत रूप में 'दासीपुत्र कर्ण' इस काव्य के नायक है। 'कर्ण प्रतीक है, जाति विभेद और आभिजात्य वर्ग के छलकपटमय अत्याचार तथा थोथी नैतिकता की गर्हित अमानुसिकता से त्रस्त-पीड़ित व्यक्ति का। 'कर्ण' के व्यक्तित्व में कवि ने जितने भी श्रेय-प्रेय गुण हो सकते हैं, सब भर डाले। महाभारतकार भी कर्ण के प्रति सहानुभूतिशील रहे हैं। पर दिनकर ने तो उसे आधुनिक समतावादी, धर्मनिरपेक्ष जातिहीन मानवता का प्रतीक बना दिया है। अन्य पात्रों पर कवि ने अधिक ध्यान नहीं दिया है। अर्जुन अत्यधिक अहंकारी है और कृष्ण कुशल राजनीतिज्ञ। कुन्ती पर अवश्य ध्यान दिया है—पर उसे जलील करने के लिए। 'रश्मिरथी' की कुन्ती जघन्य, कुण्ठित और कठोर है। आश्चर्य है कि कुन्ती के आधुनिकीकरण के बिना कर्ण को कवि आधुनिक मानवतावादी नेता कैसे बना सके। कुन्ती के चरित्र को उस सांस्कृतिक वातावरण से विलग कर उसकी छीछालेदर करना कुन्ती ही नहीं, महाभारतकार के प्रति भी अन्याय है।

किसी भी ऐतिहासिक कथानक के साथ मनमानी करने का यही कुपरिणाम होता है। तत्कालीन सामाजिक और सांस्कृतिक वातावरण से अलग करते ही ऐतिहासिक पात्र निष्प्राण हो जाते हैं। आधुनिकता के प्राण फूंकने से वे कृत्रिम और यंत्र चालित से प्रतीत होते हैं। यही कारण है कि कर्ण जो कुछ कहता है, वह लाउड-स्पीकर की आवाज सा लगता है। कर्ण के मुख से कवि स्वयं जो बोल रहा है! वस्तुतः ऐतिहासिक कथासूत्र अथवा पात्र को लेकर सायास आधुनिकता का आरोप करना अत्यधिक अनुचित और अन्यायकारी है। कोई महाकवि ही इस दुसाध्य कार्य को न्याय और औचित्य के साथ सफलता से कर सकता है। प्राचीन और अर्वाचीन का सांगिक सामञ्जस्य होना अनिवार्य है। यह सामञ्जस्य न कुरुक्षेत्र में हो आपाया है और न रश्मिरथी में ही!

काव्य की दृष्टि से भी 'रश्मिरथी' में उपदेश वृत्ति और चिन्तन की प्रधानता है—

खोजने पर इसकी बूँदे भी प्राप्त हो जाती हैं।

छन्द और भाषा में प्रवाह है, जैसा 'कुरुक्षेत्र' में था। किसी भी रूप में यह 'कुरुक्षेत्र' के आगे की कृति नहीं कही जा सकती। 'कुरुक्षेत्र' की सारी त्रुटियां और गुण यहां प्राप्य हैं। इस तरह यदि 'रश्मिरथी' न भी लिखा जाता तो भी हिन्दी साहित्य के भण्डार में कुछ भी कमी न होती—पाठकों का उपकार ही होता !

सन् १९५४ में कवि के तीन संग्रह प्रकाशित हुए हैं—दिल्ली, नीम के पत्ते और नीलकुसुम। पुरानी लिखी हुई कविताओं को ताख से उतारकर छपवा डाली। बड़े नाम और बड़े काम (राजनीति) का पूरा लाभ दिनकर लेते रहे हैं। दिल्ली में दिल्ली विषयक कविताएं है। दिल्ली मानवीरूप में नंगी भूखी जनता के दुखों और शासक वर्ग की उपेक्षा का वर्णन करती है। 'दिल्ली और मास्को' में भारतीय कम्यूनिष्टों को उपदेश दिया गया है—भारत की संस्कृति को पहचानो। 'हक की पुकार' में गांववालों की दीनदशा का चित्रण हुआ है। 'दिल्ली' एक अच्छा उपदेशात्मक संग्रह है—काव्य तो साधन रूप है। 'नीम के पत्ते' में कडुआ व्यंग्य है, नेता, स्वाधीनता और जनकवियों पर। यहां कवि उपदेशात्मक न होकर यथार्थ दृष्टियुक्त अधिक है।

'नीलकुसुम' कुछ अलग अन्दाज का संग्रह है। भूमिका में कवि इसे अपने 'उतार' का काव्य कहता है— पर उनका विश्वास कौन करे ? क्योंकि वे "कविताएं रचता कवि अपने आनन्द के लिए है" में विश्वास करने लगे है। इस संग्रह में कवि ने मार्क्सीय समाजवाद की केंचुल पूर्णतः उतार फेंकी है, कुछ नये प्रयोग किये हैं। अतः कुछ लोग इसे प्रयोगवादी रचना मानने लगे हैं। इस बारे में दिनकरजी के कथन में ही मैं विश्वास करता हूं।" मैं प्रयोगवाद का अगुआ नहीं पिछलगुआ हूं।" पिछलगुआ इसलिए कि शिल्पगत साम्य—नीलकुसुम— में है। अगुआ इसलिए नहीं, क्योंकि नये कवियों की थोथी अनास्था, कुण्ठा, अहंकार और परिचय का रंग इसमें नहीं है। नीलकुसुम वास्तव में परम्परा का ही विकास है— रसवन्ती की परम्परा का। समाजवाद तो दिनकर के काव्य में हमेशा आरोपित रहा है।

'नीलकुसुम' का कथ्य वही पुराना है भारतीय संस्कृति। हिमालय का संदेश, राष्ट्रदेवता का विसर्जन अर्द्धनारीश्वर आदि में कवि सांस्कृतिक धारा को पुनरुज्जीवित

करना चाहता है। विज्ञानमय भौतिक संस्कृति के स्थान पर हृदयपक्ष को प्रबल बनाने की सलाह देता है। 'स्वर्ग का दीपक', कांटों का गीत', 'नींव का हाहाकार', 'भूदान', 'नग्नता' आदि कविताएं सामाजिक धरातल पर लिखी गई हैं।

कवि की शैली संकेतात्मक और प्रतीकात्मक है। इस वर्ष के प्रकाशित संग्रहों में 'नीलकुसुम' सर्वश्रेष्ठ है। दिनकर के—कवि के - जिन्दा होने के लक्षण इसमें विद्यमान हैं।

'उर्वशी' दिनकर की बहुचर्चित कृति है। चर्चा प्रशंसापरक ही अधिक हुई, निन्दापरक बहुत कम और निष्पक्ष तथ्यपरक नाममात्र को ही।

उर्वशी और पुरुरवा का आख्यान बहुत पुराना है। दिनकर ने उस पुराने कथानक में अत्यधिक नयापन लाने की चेष्टा की है। इतना अधिक नयापन कि कथानक प्रायशः नष्ट हो गया और वाणी अर्थात् संवाद सर्वाधिक शक्तिसम्पन्न। इसका फल यह हुआ कि उर्वशी में लम्बे—लम्बे भाषण अधिक हैं, जो विचार, दर्शन और तर्क नामी चादर ओढ़े है। जवानी संघर्ष है, कोई घटना दुर्घटना नहीं। इस विषय में शिकायत करें तो दिनकरजी ध्यान नहीं देंगे। वे कह सकते हैं कि मेरा उद्देश्य परम्परागत महाकाव्य लिखना नहीं था, मैं तो मानव जीवन की शाश्वत कामवृत्ति को प्रतीकात्मक ढंग से प्रतिष्ठित करना चाहता था, जो 'सृष्टि-विकास' का 'भावना-पक्ष' है। दिनकर 'उर्वशी' में 'पुरुषार्थ के कामपक्ष का माहात्म्य, बताना चाहते हैं। तो 'उर्वशी' का विषय काम है।

काम के कई रूप हो सकते हैं। भारतीय दर्शन में सृष्टि विकास का कारण काम माना गया है। काम का यह अर्थ अत्यन्त व्यापक है। यह काम मानवीय शारीरिक वासना— सुख का पर्याय नहीं है। कहीं इस काम को ब्रह्म की इच्छा कहा गया है तो कहीं प्रकृति पुरुष का निस्संग सम्पर्क मात्र। प्राचीन ग्रन्थों में चाहे यह किसी भी रूप में गृहीत हुआ हो, इतना निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि इस काम की धारणा समष्टिनिष्ठ ही है, व्यक्तिनिष्ठ नहीं है। क्योंकि सृष्टि में मनुष्येत्तर प्राणी और पंचभूतात्मक संसार भी समाहित है। दूसरी ध्यातव्य बात यह भी है कि यह 'काम' साधन मात्र है, प्रबुद्धचेतन सोद्देश्यता इसमें नहीं है। यह क्रिया है, सृष्टि विकास इसका फल (प्रतिक्रिया) भोक्ता के अभाव में इस क्रिया से सांसारिक अर्थ में सुख प्राप्ति नहीं होती। तर्क के लिए

ब्रह्म को भोक्ता माना जाए, तो वितर्क होगा कि ब्रह्म तो चिदानन्द रूप है। सांसारिक सुख— जिन्हें दार्शनिकों ने जड़ की संज्ञा दी है— क्या उसे प्रभावित कर सकेंगे? कर भी सकें तो भी यह काम समष्टिरूप ही रहेगा; क्योंकि सृष्टि विकास से पहले ब्रह्म पूर्णतः समष्टिरूप ही होगा। काम का दूसरा रूप सामान्य प्राणी समाज में द्रष्टव्य है। यहाँ काम शारीरिक आवश्यकता— भूख-बन जाता है और इस क्रिया से मन की परितृप्ति और सुख प्राप्त होने लगता है। यह काम व्यष्टिनिष्ठ और सोद्देश्य (Purposive) है। क्योंकि प्राणियों के युग्म की वासना से वह युग्म ही व्यक्तिशः प्रभावित होता है तथा मन की शारीरिक परितृप्ति का उद्देश्य भी उसमें समाविष्ट है। यहाँ यह काम विभिन्न शारीरिक अंगों में केन्द्रीभूत हो गया है। इसमें ऐन्द्रिकता आजाती है। पर यह व्यष्टिनिष्ठता और सोद्देश्यता प्रवृत्तिगत (Instinctual) और स्थूल (Crude) ही होती है। अर्थात् कथित युग्म के सदस्यों में व्यक्तित्व की निश्चितता नहीं होती। युग्म का कोई भी सदस्य कभी भी अदल-बदल हो सकता है। जड़ (Irrational) प्राणियों में आज भी काम का यही स्वरूप है। काम का तीसरा रूप मानवीय प्रेम है। जड़ प्राणियों की ऐन्द्रिक वासना जब मन-शासित होकर विशिष्ट व्यक्तित्व में केन्द्रीभूत हो जाती है, तभी वह मानवीय काम अर्थात् प्रेम का रूप प्राप्त कर लेती है। वासना का व्यक्तिपरक बन्धन ही प्रेम है और इस बन्धन में चेतन (Rational) मानस की संस्कारपुष्ट सूक्ष्मता भी आजाती है। रूप, लावण्य आदि के सौन्दर्य-सम्बद्ध मूल्य उस सूक्ष्मता' के ही विभिन्न पक्ष हैं। यहाँ स्थूल ऐन्द्रिक समागम ही सुखदायक नहीं होता, व्यक्ति की उपस्थिति और दरस-परस भी आनन्ददायी होते हैं। यहां काम पूर्णतः व्यक्तिनिष्ठ और सोद्देश्य हो जाता है।

इस काम अथवा प्रेम को द्विपक्षी मानना चाहिए— पुरुषपक्षीय और नारीपक्षीय। शारीरिक रचना परम्परागत संस्कार और स्वभावगत विशिष्टिताओं के कारण पुरुष वाह्यलोक— स्थूलतः समाज— के प्रति अधिक उत्तरदायी है, जबकि नारी का कार्यक्षेत्र प्रायः घर ही रहता है। नारी स्वभावतः गार्हस्थ्यिक अधिक होती है, जबकि पुरुष सामाजिक अधिक। फलतः पुरुष के अनेक सामाजिक कर्त्तव्यों पर नारी के लिए प्रेम अंग और अंगी दोनों हैं। निष्कर्षतः नारी प्रेम को अधिक गम्भीरता से ग्रहण करती हैं, जबकि पुरुष उसे आनुषांगिक रूप में। पुरुष में कामेतर और कामोत्तर कामनाएं अधिक होती हैं; जिससे

उसका व्यक्तित्व प्रेम की सीमा का अतिक्रम करता रहता है। नारी प्रमुखत: प्रेमिका रहती है और अंशत: माता बन जाती है। 'उर्वशी' का काम निश्चित रूप से तीसरी श्रेणी का अर्थात् मानवीय काम ही है।[1] काव्य में प्रमुख पुरुष एक है पुरुरवा (सुकन्या के पति का केवल उल्लेख मात्र हुआ है) और नारी तीन; उर्वशी, औशीनरी और सुकन्या। इन सब पात्रों के विशिष्ट व्यक्तित्व के कारण इनका प्रेम भी विशिष्ट है। 'उर्वशी' का काम-पक्ष चित्रण अत्यधिक असावधानी से हुआ है। 'उर्वशी' देवताओं के अतीन्द्रिय चेतनापरक काम अथवा प्रेम से असन्तुष्ट है। वह ऐन्द्रिक भोग में स्व का विलय कर देना चाहती है, शुद्ध स्थूल शारीरिक काम में। उर्वशी का यह रूप नारी जाति का प्रतिनिधि नहीं, अपवाद (Exception) है। उसमें जड़कामेषणा चित्रित हुई, जो अबौद्धिक प्राणीवर्ग में प्राप्त होती है। अर्थात् उर्वशी काम व्यष्टिनिष्ठ तो अवश्य है, पर व्यक्तिनिष्ठ नहीं। इन्द्रिय-सुख-बुभुक्षित उर्वशी पुरुरवा के अभाव में किसी अन्य मनुष्य से भी परितृप्ति प्राप्त कर सकती है। क्योंकि उर्वशी के 'भाषणों' से ऐन्द्रिक काम-योग का ही प्रतिपादन होता है। उर्वशी का सम्बन्ध पुरुष पुरुरवा से होना चाहिए, व्यक्ति पुरुरवा से नहीं। पर दिनकरजी ने उर्वशी के विरह के उत्ताप का भी चित्रण किया है ? विरह तो व्यक्ति से होता है, व्यष्टि (पुरुष जाति) से नहीं। विरहिन उर्वशी ऐन्द्रिक भोग की प्रतीक नहीं हो सकती, वह सांसारिक प्रेमिका अवश्य बन सकती है। ऐसी स्थिति में औशीनरी और उर्वशी में कोई विशेष अन्तर नहीं दिखाई देता। इस प्रकार उर्वशी का व्यक्तित्व न सामान्य सांसारिक नारी-सम्मत है और न ऐन्द्रिक भोग वासनानुगामी। इसका फल यह हुआ है कि 'उर्वशी में न तो धरती की स्थूलता आ पाई है और न प्रतीक-काव्य की सूक्ष्म गंभीर अर्थ-संगति ही। वह मात्र वायु है, जो श्रृंगार-वंशी से चुम्बन, परिरम्भण, आलिंगन आदि के स्वर ही स्वर निकालती रहती है। संक्षेप में कहें तो 'उर्वशी' न तो सफल प्रतीक ही बन पायी है और न सफल मानवी ही।

पुरुरवा का पुरुषपक्षीय द्वन्द्वात्मक काम है। पुरुरवा वासनात्मक शारीरिक काम का अतिक्रम कर आत्मिक प्रेम तक पहुँचना चाहता है। इतना ही नहीं, वह शरीर और संसार के उस पार की चैतन्य स्थिति को— दिव्यत्व को— प्राप्त करने के लिए लालायित और आकुल प्रतीत होता है। पूरे काव्य में त्रस्त, व्याकुल और असन्तुष्ट

[1] दिनकर लिखित 'उर्वशी' की भूमिका की उपेक्षा कर यह बात मैं कह रहा हूँ।

व्यक्ति के रूप में वह चित्रित हुआ है। उसमें दिव्यत्व की ललक इतनी प्रबल है कि वह स्वाभाविक परिस्थिति में भी स्वाभाविक व्यवहार नहीं कर सकता। इसीलिए वह मिलन से प्रकारान्तर से आत्मा की बात करता है— दुखी लगता है और वियोग में कामान्ध हो उर्वशी के लिए रोता है। इस प्रकार वह न आत्मिक प्रेम (Platonic love) ही प्राप्त करता है और न सामान्य व्यक्तिनिष्ठ सामान्य प्रेम ही। अन्त में संन्यास धारण करता है। सांसारिक प्रेम कार्य का संन्यास में समाधान प्राचीन भारतीय परम्परा है। संक्षेप में पुरुरवा भी अपवाद पात्र ही है, वैचारिक प्राणी मात्र।

औशीनरी और सुकन्या का सामान्य आदर्श प्रेम है। औशीनरी वियोगिन और अतृप्त न होती, तो सुकन्या के समान बात कर सकती थी। यह अकुण्ठित गार्हस्थिक प्रेम है। परम्परा से ही भारत में पति परमेश्वर माना जाता है। अतः आत्म-समर्पण इसका प्रमुख लक्षण है, जो दोनों में प्राप्य है। औशीनरी की विरहजन्य पीड़ा बहुत मार्मिक रूप में चित्रित हुई है।

दिनकर कौन से पक्ष को स्वीकार करते हैं, यह 'उर्वशी' में कहीं स्पष्ट नहीं होता है। वैचारिक और सैद्धान्तिक दृष्टि से यह दिनकर की बहुत बड़ी असफलता है। उन्होंने प्रश्न उठाया— उत्तर भी तो होना चाहिए? उत्तर की महत्ता है, प्रश्नों की नहीं। प्रश्न तो सब उठा सकते हैं, उत्तर सब नहीं जुटा पाते। 'उर्वशी' के पात्रों के उत्तर अलग-अलग आंगिक ही नहीं परस्पर विरोधी भी हैं। दिनकरजी गद्य में ही उत्तर देने की चेष्टा करें, तो भी पाठक को कुछ साहस प्राप्त होगा। 'उर्वशी' की भूमिका में कोई 'उत्तर' नहीं है। हाँ, प्रकृति पुरुष, काम, प्लेटो आदि का तात्विक रूप से असम्बद्ध उल्लेख अवश्य वहाँ पर हुआ है। कामायनी 'इड़ा और मनु का आख्यान' भूल से मान लिया गया है; तो 'उर्वशी' की स्थिति यह है कि प्रश्न सामान्य, बहुत बड़े; पर उत्तर असामान्य बहुत छोटे।

कलापक्ष की दृष्टि से भी 'उर्वशी' ऐसा महत्वपूर्ण काव्य नहीं है कि इसी कारण इसे हिन्दी का अभूतपूर्व महाकाव्य माना जाये। कवि ने इसे ऑपेरा (Opera) बनाने की चेष्टा की है, किन्तु यह केवल नाट्यात्मक कविता (Dramatic Poem) बनकर रह गई है। सूत्रधार और नटी की योजना अस्वाभाविक और कृत्रिम प्रतीत होती है। प्राचीन नाटकों में उनकी विशिष्ट उपयोगिता हुआ करती थी। उन युगों में मुद्रण यंत्र के अभाव में

ऐतिहासिक और पौराणिक कथाएँ सर्वांगत जनमानस में प्रचलित नहीं हो सकती थीं। इसलिए सामान्य जन-समुदाय को अभिनेय कथा का संक्षिप्त परिचय इस विधि से दे दिया जाता था, जिससे रसपरिपाक की भूमिका निर्मित हो जाये। दूसरे— नाटक के कार्य विकास (ction) और उत्सुकता निर्माण में भी यह योजना सहायक सिद्ध होती थी। स्पष्टतः आधुनिक काल में इस योजना की उतनी उपयोगिता नहीं है। 'उर्वशी' में भी कोई विशेष कार्य सूत्रधार— नटी के द्वारा सम्पादित नहीं होता। फलतः यह कवि के अनावश्यक नावीन्योन्माद (Craze for originality) की ओर संकेत करती है। इससे काव्य में शैथिल्य और बिखराव तो आता ही है, कृत्रिमता भी आजाती है। कृत्रिमता (Artificiality) पतनोन्मुख(Decadent) काव्य का प्रमुख लक्षण होता है।

वर्णन और चित्रण शैली की दृष्टि से दिनकर की कल्पना पीछे अधिक दौड़ी है अर्थात् बिम्बयोजना अधिकांशतः रीतिकालीन अथवा छायावादी काव्य से अनुप्रेरित-अनुप्राणित है। 'इन्दु की किरणें लगीं लजाने', 'कनक प्रतिभा', रातरानी के 'तारे बूटे', 'गगन खोलकर बाँह विसुध वसुधा पर झुका हुआ है'; आदि अनेक अभिव्यक्तियाँ अनायास प्रसाद आदि छायावादी कवियों का स्मरण कराती हैं। अनेक स्थलों पर सुन्दर मौलिक उद्भावनाएँ भी हैं किन्तु उनकी भी मुद्रा (Mood) रोमैंटिक (Romantic) है, मुक्त कल्पना का विलास। फिर भी चित्रण और वर्णन में दिनकर सफल हुए हैं, भाषण-सम्भाषण में असफल। क्योंकि भाषण-सम्भाषण में (दिनकर के सभी प्रबन्ध काव्यों में विचार का आग्रह अधिक रहता है और दुर्भाग्य से विचार भी कहीं की ईंट कहीं का रोड़ा होते हैं। विचार जब तक भावात्मक अनुभूति नहीं बन जाता तब तक काव्योपयोगी नहीं होता; उपदेश मात्र रहता है। प्रस्तुत प्रसंग में एक बात और द्रष्टव्य है 'उर्वशी' के विचार पक्ष में सांगिक अन्विति नहीं है। सांख्य, फ्रायड, प्लेटो, गीता आदि अनेक नाम— प्रकट अथवा प्रच्छन्न रूप में— यत्र-तत्र आसन जमाये हैं। 'उर्वशी' सांख्य की प्रकृति होने का दावा करती है। उसका चित्रण फ्रायडियन है। पुरुरवा का आदर्श प्लेटो है अर्थात् प्लेटोनिक प्रेम। संभवतः काम को इतना महदासन देने की चेष्टा में गीता का निम्नलिखित वाक्य है :—

धर्मा विरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ।'

ऐसा आभास होता है कि कवि ने सब पर तार्किक मति से विचार नहीं किया

है। विचारागत असंगति दिखाने के लिए जितने स्थान और समय की आवश्यकता है, उसके अभाव में 'इत्यलम्' ।

भाषा प्राय: प्रवाहयुक्त है। शब्द योजना की दृष्टि से कवि की तत्सम-प्रियता बढ़ती जा रही है। कहीं कहीं अप्रचलित अमरकोशीय शब्दों का प्रयोग कवि के स्वाध्याय को प्रकट करता है। फिर भी कुछ स्थलों को छोड़कर भाषा में ज़ोर है। प्रारम्भिक छन्द 'प्रियप्रवास' की याद दिलाता है। लम्बे छन्दों के कारण कुछ शैथिल्य अवश्य आ गया है।

अब संक्षेप में 'उर्वशी' के 'युगान्तरकारी' महत्व पर भी विचार हो जाये। युगान्तरकारी काव्य से प्रमुखत: दो अपेक्षाएँ होती हैं; (१) वह साहित्य को शैलीगत नई दिशा दे और (२) विषयगत—काव्य चेतना के नवीन स्वस्थ मान स्थापित करे। पहली अपेक्षाकृत कम महत्त्ववाली है, दूसरी अधिक महत्त्ववाली। शैली की दृष्टि से 'उर्वशी' ने कोई नई दिशा दी हो ऐसा नहीं लगता। विषय की दृष्टि से नवीनता अवश्य है, पर यह नवीनता ही है, स्वस्थ नहीं। काम को दिनकर ने सर्वप्रमुख पुरुषार्थ सिद्ध करने की चेष्टा की है उसको दिव्यत्व देने का आयास किया है। पर वे आदर्शकाम का स्वरूप नहीं दे पाये हैं। 'उर्वशी' का प्रारम्भ शंकाकुल है और अंत भी शंकाकुल। इस तरह 'उर्वशी'में शंका है, समाधान नहीं। समाधान के बिना उर्वशी का सैद्धान्तिक महत्त्व भी अस्वीकार्य होना चाहिए।

एक और दृष्टि से विचार किया जाना चाहिए। काम क्या जीवन का चरम आदर्श (Goal) हो सकता है। न भारतीय परम्परा इसे स्वीकार करती है और न सामान्य जनमानस। काम अपने साधारण स्वरूप में जीवन का अंग मात्र है, आदर्श नहीं। फ्रायड ने भी काम को आदर्श (Goal) सिद्ध नहीं किया है, केवल काम के सर्वाधिक —प्रच्छन्न महत्त्व—को स्थापित किया है। फ्रायड ने काम का वैज्ञानिक परीक्षण (Objective Study) कर जीवन में उसकी स्थिति मात्र बताई। काम (Sex) जीवन चरमादर्श होना चाहिए, ऐसा नहीं कहा है। चरमादर्श धर्म हो सकता है, काम नहीं। क्योंकि धर्म में सब पुरुषार्थ समाहित हो सकते हैं, काम तो 'धर्मविरुद्ध' हो, तब ग्राह्य होता है। प्रसिद्ध समाजशास्त्री सोरोकिन ने अपनी पुस्तक (Same sex order) में मत दिया है कि समाज, साहित्य अथवा कला में काम (Sex) की सर्वप्रमुखता उनके पतनोन्मुख

होने का प्रमुख चिह्न है। इस कामाधिक्य के कारण वे अमरीकी साहित्य को पतनशील मानते हैं। क्या यह सिद्धान्त दिनकर पर भी लागू नहीं होता। दिनकर 'व्योम कुंजों की परी' को धरती पर उतारने का संकल्प लेकर काव्य-क्षेत्र में प्रविष्ट हुए थे। उन्होंने अपने प्रगतिवादी बाने में काफी तोड़ फोड़ की—यथार्थवाद के नारे से। अंत में जब वे व्योम कुंजों की परी' (उर्वशी) को धरा पर लाये, तो वह परी धरा-पुत्र—पुरुरवा को ही स्वर्ग ले उड़ी। क्या पुरुरवा अपने इस रूप में मानव लगता है? और यह सब हुआ 'काम' के लिए। लक्ष्य की इस एकांगिता में दिनकर नवीन अवश्य हैं, पर स्वस्थ नहीं; फलतः महान् भी नहीं हैं। इसके विपरीत यदि सोरोकिन के कथन को सत्य मानें तो पतनोन्मुख हैं।

दिनकर ने 'उर्वशी' के द्वारा अपने प्रगतिवादी रूप को कैंसल कर दिया है। अथवा प्रगति का 'अर्थ' 'काम' ही कर लिया है। यह अर्थोन्नयन का उदाहरण है या अर्थापकर्ष का? कुछ भी हो, दिनकर ने विपथगा' से विदा लेली है और 'अनुपथगा' (यदि यह वैयाकरणों को मान्य हो तो) की शरण में आ गये हैं। विषय काम' (प्लेटो-निक) छायावाद के अत्यधिक समीप है और स्थूल रूप में रीतिकाल के। शैली भी छाया-वाद और रीतिकाल की अनुगामिनी है। अब शैली में वह तोड़ फोड़ का जोशखरोश कहां? अब तो काव्य के रक्त में स्निग्ध, श्लथ और उद्दाम 'स्वर्णतरी' तैरती रहती है।

इस प्रकार 'उर्वशी' न 'युगान्तरकारी' है और न अतीव महत्त्वपूर्ण'। केवल पुरानी पीढ़ी के कवि की कुछ नवीन अत्यधिक? नवीन देन की ललक और यशाकांक्षा का परिणाम है। फुर्सत हो तो पढ़िए। छपाई सफाई बड़ी मनोहारी है पर कीमत उतनी ही मर्म-प्रहारी भी।

माखनलाल चतुर्वेदी:—इस दशक में चतुर्वेदीजी के दो संग्रह प्रकाशित हुए हैं; 'युगचरण' और 'समर्पण'। दोनों में पुरानी—नई कविताओं का संकलन है। पुरानी कविताओं के चयन में सुरुचि का तोल द्रष्टव्य है।

श्री चतुर्वेदी को हिन्दी का विद्यार्थी राष्ट्रीयता के गायक के रूप में ही जानता है, पर उनका दूसरा प्रणय-स्नात रूप अधिक मनोरम और काव्यात्मक है। उनकी यह प्रणयी मुद्रा बच्चन, अंचल आदि कवियों के अधिक समीप होते हुए भी विशिष्ट है। बच्चन, अंचल आदि ने अध्यात्मक और बुद्धि का तिरस्कार कर शुद्ध शारीरिक मांसलता

पर आश्रित सांसारिक प्रेम को इष्ट माना। सांसारिक प्रेम में असफल होने पर उनमें क्रोध फलतः अनास्था का भाव उत्पन्न हुआ। चतुर्वेदी जी में न दैहिक मांसलता है और न क्रोधजन्य अनास्था। बच्चन आदि के विपरीत उनका प्रेम अध्यात्मपरक अधिक है, जो लोककाव्य की पुट के कारण प्राणवान् भक्तिकाव्य सा प्रतीत होता है।

युगचरण और समर्पण में भी दोनों प्रकार की कविताएँ हैं; राष्ट्रपरक और प्रणयपरक। राष्ट्रपरक रचनाएँ अधिकतर पुरानी हैं, अतः उनमें तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियों का परोक्ष प्रभाव प्रमुख है। कहीं 'सेनानी' से साहस और धैर्य रखने का अनुग्रह तो कहीं 'सत्याग्रही, को अहिंसा मार्ग पर अटल रहने की सम्मति दी गई है। गरीबों की दीन अवस्था, मानवता गणतंत्र और स्वतंत्रता दिवस, गांधी-नेहरू आदि पर भी मार्मिक रचनाएँ हैं।

प्रणयपरक कविताएँ अधिक सजीव और मार्मिक है। कवि का यह रूप गंभीर प्रभाव का परिचायक है। उसमें भयंकर घुटन, टीस, विवशता और मर्मान्तक पीड़ा के दर्शन होते हैं। यत्र-तत्र मिलन की स्मृति के रसकण उसका करुण पीड़ा को झकझोर कर और भी असह्य बना देते हैं। फिर भी वह मिलन कितना भव्य रहा होगा:—

सोने के दिन, चाँदी की रात,
बना दी क्यों तुमने आकर ?
(चांदी की रात)

पर चतुर्वेदीजी का मिलन 'कुन्तलों से गात घेरे' हुए नहीं है अर्थात् वासनापरक नहीं है, अध्यात्मपरक है:—

तुमको खोकर खोते-खोते,
खो डाला आज तुम्हें पाकर।
(चांदी की रात)

इस रूप में कवि महादेवी के अधिक समीप है। उनके मिलन में काम की उष्णता नहीं है, इसलिए विरह में भी क्रोध की विनाशकारी ज्वरता का अभाव है। सांसारिक आत्मिक प्रेम हो रहा है। आत्मा में क्रोध कहाँ ? विरह के कारण केवल पीड़ा हो सकती है, मिलन की जीवन्त ललक हो सकती है।

काव्यात्मक अभिव्यक्ति की दृष्टि से चतुर्वेदीजी का यह रूप अत्यन्त सबल और बहुत से कवियों के लिए अनुकरणीय है। लोक शब्द, लोकछन्द, लोक प्रचलित भक्ति-काव्य के पुट ने काव्य को और भी अधिक मार्मिक बना दिया है। इस दृष्टि से दूख उठी बाँसुरी, उलझी सूझ, नजर, मूरख कहानी, हरे प्याले हरी थाली, क्रंदन आदि कविताएं अत्यन्त सुन्दर हैं। 'क्यों आये हो ?' कविता के कलात्मक कसाव और मर्मान्तिक तनाव का जोड़ मिलना पूरे हिन्दी-साहित्य में कठिन है। भाषा प्रवाहयुक्त और सशक्त है।

चतुर्वेदीजी के इन संग्रहों में पुराना अधिक है, नया कम। पुराना बहुत अच्छा है। चतुर्वेदीजी के रोमैन्टिक काव्य का पुनर्मूल्यांकन वांछनीय है। संभवतः अभिव्यक्ति की दृष्टि से वे बहुत से तत्कालीन नाम्ना प्रसिद्ध कवियों से भारी पड़ें। इधर पत्रपत्रिकाओं में उनके सुन्दर मार्मिक लोकधुनाश्रित गीत दिखाई दिये हैं, 'वेणु लो गूंजे धरा' कोई नया संग्रह भी प्रकाश्य है। लक्षण शुभ हैं और शुभ भविष्य की आशा है।

उपसंहार:—उपर्युक्त विवेचन से निम्नलिखित सामान्य निष्कर्षण प्राप्तव्य हैं:-

(१) पुरानी पीढ़ी के प्रायः सभी कवियों में दिनरात लिखते रहने का अजीब उन्माद सा दिखाई देता है। इस कारण काव्य में न विषय का औचित्य आ पाता है और न अभिव्यक्ति की मार्मिकता। प्रसिद्धि, अधिकार और नाम के बल पर वे सब कुछ छपा डालते हैं। छपास की भूख काव्य—किशोरों में स्वाभाविक है। काव्य प्रौढ़ों में यदि हो, तो उनकी अस्तगामिता अथवा पतनशीलता की ओर वह संकेत करती है।

(२) प्रायः सब कवि स्वयं को सायास परिवर्तित करने की चेष्टा कर रहे हैं। कुछ नये बनने की फिराक में हैं, तो कुछ युगान्तरकारी। फलतः उनके सर्जन में काव्य, कर्म और विचाराभास और काव्यमुद्रा (Pose) अधिक होती जा रही है।

(३) कथ्य की दृष्टि में प्रायः सब कवि स्वयं का पुनरावर्तन कर रहे हैं।

इतना निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि हिन्दी का निष्पक्ष इतिहासकार उनके आरम्भिक रूप से ही अधिक प्रभावित होगा। संख्या का तो उल्लेख मात्र हो सकता है।

गंगाप्रसाद विमल

पिछले दशक के आधुनिक गीत

गीत रचना के सम्बन्ध में पुराने आचार्यों से लेकर अब तक बहुत कुछ कहा गया है। 'गीत' का निश्चित कोई 'शास्त्रीय' पहलू हो सकता है आधुनिक गीत चर्चा में हमें इस प्रश्न का समाधान देना होगा। क्योंकि 'गीत' अपने आप में 'शास्त्रीय' शब्द से अलग है और वह 'स्वच्छन्द' शब्द की सीमा में आता है किन्तु यहां 'शास्त्रीय' से हमारा अर्थ 'परम्परा का देय' होगा— यद्यपि 'शास्त्रीय' काव्यरचना के समग्र रूप की व्याख्या और प्रअति-रूप व्याख्याकार करता है किन्तु वह 'गीत' संरचना को छोड़ता नहीं है। इस आधार पर हम गीत रचना को शास्त्रीय मानते भी नहीं हैं केवल 'परम्परा' से अन्त-र्सम्बन्धित होने के कारण उस रचना का एक सिरा 'शास्त्रीय' विधि या पद्धति से भी जुड़ा हुआ है ऐसा मानते हैं। वस्तुतः इतना कह देने के बाद 'गीत रचना' के शास्त्रीय पक्ष का आग्रह कम हो जाता है। व्यक्ति दृष्टि या विषयगत दृष्टि से 'गीत' का एक अलग पहलू नजर आता है, स्वयं गीतकारों ने इसे स्पष्टीकरण दिया है। गीतों की परिभाषा या गीतों का वर्गीकरण या गीतों की सीमा आदि अनेक ऐसे प्रश्न हैं जिनका स्वतन्त्र चिन्तन या जिनकी स्वतन्त्र व्याख्या अपेक्षित है किन्तु प्रस्तुत लेख में हम गीत रचना के पिछले दशक तक ही सीमित हैं। 'गीत' आरम्भिक समुदाय से लेकर आधुनिक समुदाय तक के मानव का किसी न किसी रूप में संवेदनात्मक पहलू उभारते हैं, जब तक गीत रूढ़ि नहीं हो जाये

तब तक गीत न केवल गेयता की वजह प्रिय रहे अपितु अपनी मन्त्रशक्ति अथवा सम्मोहन शक्ति के कारण भी प्रिय रहे हैं। रूढ़ि से समग्र 'काव्य' को अलग रखने की बात का एक और पहलू उभरता है, "रूढ़ि और स्थविरता से बचाने के लिए नवीन गतिविधि का अन्वेषण करना स्तुत्य और सार्थक है"[1] अर्थात् 'काव्य' में कोई ऐसा तत्व वांछित है जो उसे रूढ़ होने से बचाए, इसका संकेत मैंने पहले ही कर दिया कि कविता या गीत में "मानव संवेदना"[2] के पहलू उभरते है। इस बात का समर्थन आधुनिक आलोचक भी करता है। वस्तुतः इस तरह से कई आधारों जिनमें हम मानव विकास के आधार से लेकर अब तक के वैज्ञानिक विकास का आधार भी ले सकते है यह कहा जा सकता है कि 'विकास' की कोई भी गति 'मानव संवेदना' के उस स्तर से बाहर की गति है जिसे काल और गति के ही संदर्भ में हम एक यानी स्तरीय पाते हैं - कदाचित यह कथन गरिष्ट हो जायेगा जब तक मैं इस तरह का कोई स्थूल उदाहरण सामने न रखूँ जिसके अनुसार 'विज्ञान' और 'काव्य' या कला में हम फर्क न देखें। थामस मुनरो ने इस बात को स्पष्ट किया है कि विज्ञान का विकासवादी इतिहास कला या काव्य इतिहास से एकदम अलग है।[3] विज्ञान की रूढ़ि और कला की रूढ़ि में भी इसी तरह अन्तर है। संभवतः लोग 'विज्ञान की रूढ़ि' का नाम सुनकर ही हंसें— किन्तु विज्ञान की रूढ़ि का निर्णय हर नया अन्वेषण या परिवर्तन कर देता है जबकि कला की रूढ़ि का निर्णय काल कर डालता है, इसलिए किसी हद तक कला 'काल सापेक्ष' तो एक दम नहीं कही जा सकती किन्तु कला और काव्य दोनों के कुछ निर्णय काल के हाथ अवश्य होते हैं जिन्हें बाद में चल कर हम रूढ़ि कह देते हैं। मैं इस चर्चा को इसलिए विस्तार से ले रहा हूँ कि 'कला-काव्य' के पूरे परिवेश में 'गीत' का ऐतिहासिक अध्ययन सम्भव हो। दरअसल इस माध्यम से छायावाद और छायावादोत्तर गीत धरातल का पारस्परिक अन्तर बहुत स्पष्ट हो जाता है। छायावाद से पूर्व प्रवृत्ति प्रेम और ब्रजभाषा के गीतों की परम्परा तो है किन्तु उसने 'हिन्दी गीत रचना' को अधिक प्रभावित नहीं किया। उसका स्पष्ट कारण था छायावाद से पूर्व

१. "काव्य की रागात्मकता और बौद्धिक प्रयोग" —डा० नगेन्द्र

२. "मानव संवेदना के नये आधार" —हैजार्ड एडम्स

३. Philosophy of Art History—Thomas Munro,

युग में काव्य चेतना का अभाव[1]। छायावाद युग यद्यपि 'काव्य चेतना' से परिपूर्ण युग था किन्तु वह काव्य चेतना रूढ़िमुक्त नहीं कही जा सकती[2] इसी कारण जब हम छायावादी गीतों की ओर दृष्टिपात करते हैं तो पाते हैं कि कई अर्थों में छायावादी गीत रचना— संस्कृत गेय रचनाओं, व्रजभाषा के छन्दोबद्ध गेयपदों की परम्परा से बहुत अलग नहीं है। सीधी भाषा में कहा जाय तो मोटे रूप में 'भाषा' का रूप परिवर्तन है अन्यथा 'वस्तु व्यापार' और 'शिल्प दृष्टि' में प्रत्यक्षतः कोई नवीनता नहीं है। आलोचकों ने छायावादी 'गीतों' की प्रशंसा की है— सम्भवतः छायावादी गीतों की प्रकृति-चित्रण प्रवृति को देखकर, यथार्थ दृष्टि से देखा जाय तो कुछ छायावादी गीतों को छोड़-कर शेष सब पुनरावृत्ति और अनुकरण लगते हैं। पन्त जी के प्रकृतिगीत पश्चिम का अनुकरण और अनुवाद मात्र रह जाते हैं, महादेवी के गीत ऋचाओं के अनुवाद और अस्पष्ट रहस्यवाद के शाब्दिक जंजाल मात्र रह जाते है केवल प्रसाद और निराला दो ऐसे व्यक्तित्व रहे हैं जिन्होंने गीतों' को नया रूप दिया है। प्रसाद जी के नाटकों में ऐसे गीत बिखरे पड़े हैं जिन्हें हम आज भी उसी तरह समझते हैं, उनकी पूरी संवेदना के साथ अपना ग्राहकीय संस्कार जोड़ते हुए। इसी तरह निराला जी ने अपने गीतों में "बांधो न नावें इस ठांव बन्धु, पूछेगा सारा गांव बन्धु" जैसी सहजता दी है और लय की एक गतिमयता! वस्तुतः छायावादी रचनाकार केवल व्याख्याता कवि और वर्णनकार थे, शब्दों के ध्वन्यात्मक सौन्दर्य के लिए अर्थ की परवाह सम्भवतः उन लोगों ने नहीं की थी— या आज जब हम 'गीतों की पूरी परम्परा' को सामने रखते हैं यह बात साफ कह सकते हैं कि छायावादी गीतों में 'अर्थ बोध' की स्थिति नहीं आ पाई थी, अर्थ बोध की यह स्थिति

१. 'काव्य चेतना का अभाव' ठीक शिवदानसिंह चौहान के इस कथन के समानान्तर है— ....स्वयं इतनी समर्थ प्रतिभा नहीं थी कि इन परिवर्तनों को कल्पना के योग से मूर्त अभिव्यक्ति दे सकते इसलिए उन्होंने आश्रय खोजा, जिनकी रचनाओं में उन्हें अपने हृदय की गूंज सुनाई दी— (काव्य धारा पृष्ठ ८)।

२. 'उन रचनाओं' का आश्रय लेना— एक रूढ़ि का आश्रय लेना है अतः बहुत हद तक 'छायावादी काव्य' भी इससे नहीं बच सका, उनकी रूढ़ि अनुकरण की रूढ़ि है।

पिछले दशक तक अपने पिछड़ेपन का सबूत देती रही है।[1] छायावाद की समाप्ति के अवसर— देश में 'राष्ट्रीय नारेबाजी' की भी जो चेतना जागी थी उसका सामाजिक आधार भी कुछ नहीं था। परन्तु 'प्रगतिवाद' की कुछ रचनाओं को लिया जाय तो 'मानव-सम्बन्धों' सामाजिक—सम्बन्धों' और 'युग—सम्बन्ध' के त्रित्व को एक नई दार्शनिक आधारभूमि मिली थी—जो यथार्थ के बहुत निकट था। उन गीतों में आज का बहुचर्चित शब्द 'मानव संवेदना', 'लोक चेतना' और 'अर्थ बोध' के संकेत मिलने लग गये थे, परन्तु एक खास तरह की 'नारेबाजी' से उस काल की रचनाएं भी मुक्त नहीं हो सकीं— यद्यपि यह भी एक यथार्थ है कि उस काल की गद्य रचनाएं ऐतिहासिक दृष्टि से 'हिन्दी गद्य' की उपलब्धियां हैं, वे इसलिए कि गद्य में 'जीवन के यथार्थ' को जितनी कुशलता से चित्रित किया गया है पद्य में उतना नहीं हो पाया है। यह भी एक प्रसन्नता की बात थी कि 'अलंकार और छन्द' के बन्धनों से कविता की मुक्ति प्रगतिशील तत्वों द्वारा सम्पन्न हुई थी— इस ऐतिहासिक तथ्य से इन्कार नहीं किया जा सकता कि 'गीत' को 'न केवल तुक और छन्द' की सीमा से बाहर किया अपितु उसमें

---

१. शिवदानसिंह चौहान ने केवल 'छायावादी प्रेमगीतों' को असगत नहीं कहा है, उनके अनुसार "छायावादी कविता के तथाकथित 'प्रेमगीत' वस्तुतः सामन्त-कालीन रूढ़ि जर्जर व्यवस्था, नैतिकता और मानव सम्बन्धों के विरुद्ध असंतोष और विद्रोह के गीत हैं"— सम्भवतः विश्लेषण का एक पक्ष चौहान जी ने लिया है, अगर देखा जाय तो नयी शब्दावली में अनुकरण की एक प्रवृति छायावादी प्रेमगीतों का आधार है और कालान्तर में ये प्रेमगीत 'उर्दू की लच्छेदार' भाषा का रूप लेकर फिर हिन्दी में आये हैं। फर्क इतना ही कि छायावादी गीत की भाषा खड़ी बोली थी, उसमें प्रेमाग्रह में 'मांसलता' थी और प्रेमार्चन सुविधा के लिए रहस्यवादी आकार लिए हुए था, इसलिए छायावाद के तमाम गीत सामाजिक आधार भूमि पर 'मानव सम्बन्धों के विरुद्ध असन्तोष और विद्रोह के गीत हैं'— समझ नहीं आने वाला वक्तव्य है। प्रेम की घिसी पिटी बारीकियों को दिखा देने मात्र से प्रवृत्ति का आधार ले लेने मात्र से 'मानव सम्बन्धों' के प्रति कोई नई दृष्टि छायावाद से हमें नहीं मिलती। छायावाद की लकीर से हटाकर निराला के गीत सर्वथा अपवाद हैं।

'लोक चेतना' का वह तत्व भी प्रवाहित हुआ जो समकालीन गीत धारा में अपना एक विशिष्ट रूप बना चुका है। यह दरअसल 'जनवादी विचारधारा' की समग्र हिन्दी कविता की देन है कि उसने कविता को और गीत को मात्र 'फैन्टेसीनुमा इश्क का अफसाना' नहीं रहने दिया अपितु उसे 'मानव सम्बन्धों' के निकटतर लाकर उसमें नई चेतना फूंकी है, और उसके बाद तो "नये सामाजिक आदर्श से प्रेरित प्रगतिशील भावनाओं की अभिव्यक्ति भी होने लगी थी।"[१]

छायावाद के तुरन्त बाद— अब तक यदि 'गीत रचना' का सर्वेक्षण किया जाय तो हमें स्थूल रूप में चार विविध धाराएं मिलती हैं ('प्रयोग' कविता को जान-बूझकर मैंने 'स्वच्छ गीत' कविताओं से अलग नहीं किया है, बहुत आलोचकों ने 'प्रयोग-शील' कविता धारा के गीतों को गीत मानने से ही इन्कार कर दिया है, यथार्थ यह है कि 'प्रयोगवाद' के पूरे रचनाकाल में सभी तरह के गीतों की रचना हुई है अतः 'गीत रचना' के विभेद उपस्थित करते हुए मुझे यह आवश्यकता नहीं मालूम पड़ी कि प्रयोग गीत धारा' कोई अलग धारा ही है, जबकि 'प्रयोगवाद' छायावाद प्रगतिवाद के क्रम में आता है और 'काव्य की अनेक विधाओं' की रचनाएं अपने में समेटे हुए है)—

१. परम्परावादी गीत धारा,
२. जनचेतनोन्मुखी गीत धारा,
३. प्रभाववादी गीत धारा,
४. नव रोमान्टिक गीत धारा,[२]

परम्परावादी गीत धारा में उत्तर छायावाद के वे सभी कवि आ जाते हैं जिनका संस्कार और बोध छायावाद से प्रभावित है। उसके लिए गीतों की रचना के बने बनाए पैमाने निश्चित से हैं— एक खास परिपाटी पर चलकर वे तमाम गीत केवल छायावाद की पुनरावृत्ति मात्र रह जाते हैं। इसके अतिरिक्त उनमें कुछ भी नहीं। श्री मैथिलीशरण

१. "काव्यधारा"— (पृष्ठ ४४)

२. नव रोमान्टिक गीत धारा के अन्य उपभेद किए जा सकते हैं जिनमें 'लोकतत्व' को आधार लेने वाले गीतकार भी आ जाते हैं।

गुप्त की चर्चा मैं यहाँ पर करूंगा यद्यपि वे छायावादी भी नहीं हैं किन्तु बाद के उनके गीतों में छायावाद की रहस्यात्मक प्रवृत्ति पाई जाती है जिसे वे कुछ रूढ़ रहकर अपनी ही पूर्व धारणाओं से अलग नहीं जाने देते किन्तु समय का प्रभाव है कि उनके गीतों में तुक, छन्द वही हैं परन्तु उसमें काल का कुछ अंश प्रभावरूप में अवश्य आया है। उनकी कविताएं और उनके कुछ गीत (क्योंकि गीत उनके कुछ ही मिलेंगे) उस समय की छाप भी लिए हुए हैं जो उन्होंने अपने रचनारम्भ में लिया होगा। कह नहीं सकता लोग इस वक्तव्य को व्यंग्य न मान डालें किन्तु मेरा ऐसा कोई मंतव्य नहीं है।

परम्परावादी गीत धारा के रचनाकार आज भी उपलब्ध हैं, किन्तु परम्परावादी गीत धारा कोई ऐसी महत्वपूर्ण रचना नहीं दे सकी जो उनके लिए कोई खास काल सीमा के निर्धारण में सहायक हो सके, इसके विपरीत परम्परावादी गीत धारा काफी मात्रात्मक होते हुए गुणात्मक होने की स्थिति में नहीं आई है, किसी रचना के मूल की बात तो अलग रही रचनाओं के मूल्य में भी गुणात्मक प्रवृति नहीं आ पाई है।

प्रस्तुत निबन्ध में मेरी सीमा है मैं पिछले दशक की चर्चा करूं— यहाँ अब तक मैं 'गीत रचना' की सामान्य बातों पर चर्चा करता रहा हूं— इसलिए कि इनके बिना पिछले दशक की गीत रचना की बात अधूरी रह जायेगी। प्रभाववादी गीत और नवरोमान्टिक गीतों की पिछले दशक में पर्याप्त चर्चा रही है, जन चेतनोन्मुखी गीत रचना का पूरा ढांचा ही बदल गया है और वह अब सस्ती बाजारू किस्म के गीत, प्रचार के गीत योजना के गीतों तक सीमित रह गई है, हिन्दी गीत रचना को ऐसे गीत कुछ दे सकेंगे— इसमें सन्देह इसलिए भी है कि ऐसे गीतों का साहित्यिक मूल्य शून्य है, अतः जब भी हम पिछले दशक की चर्चा करते हैं तो मुख्य रूप से दो धाराएं सामने आती हैं। दोनों धाराएं पूरे रूप में अपने अतीत से कटी हुई नहीं हैं, न ही वे धाराएं कोई स्वतन्त्र-आंदोलन की क्षमता रखती हैं, यह बात यथार्थ रूप में ग्रहण की जानी चाहिए कि 'गीतविधा' अपने स्वतन्त्र अस्तित्व के लिए सदैव कविता और पूरे काव्य पर आश्रित है। पिछले दिनों एक लेख में एक बन्धु आलोचक ने 'गीत रचना' को 'आउट डेटेड' और भूत करार दे दिया था, उनका कहना था 'गीत' का समय चुक गया है और समग्र संसार में जो भी काव्य प्रयोग हो रहे हैं वे गीत तो क्या कविता की सभी रूढ़ियों से अलग हो गये हैं। मैं

उन आलोचक की बात का समर्थन करता हूँ किन्तु थोड़े से संशोधन के साथ कि 'नवगीत रचना' कविता के प्रयोग से कहीं कम नहीं है। उदाहरण के लिए उन सब गीतों को लिया जा सकता है जिनका आधार 'लोक तत्व' है। इस संदर्भ में प्रभाववादी गीतकार 'नव रचना' में पीछे है क्योंकि उसका बौद्धिक संस्कार उन्मुक्त चेतना और भावुकता के कारण दब गया है, दूसरे नव रचना की प्रतिभा उसमें नहीं है, इसीलिए वह एक निश्चित परिमाण का आश्रय लेता है— इसका यह अर्थ नहीं कि सभी गीतकारों में 'प्रतिभा' सम्बन्धी यह कथन ठीक है, यह एक सामान्य बात है और इससे इन्कार नहीं किया जा सकता। यह भी एक तथ्य है कि प्रभाववादी गीतकार निम्न तत्वों से प्रभावित रहे हैं और वह प्रभाव ग्रहण करते रहे हैं।

१. परम्परा और रूढ़ि के तत्व,
२. उर्दू की तरह की गजलनुमा गीत और रुबाइयां
३. भाषा सम्बन्धी प्रयोगों में उर्दू शब्दों का अधिक उपयोग।

मेरे एक मित्र का कहना है कि अगर इन गीतों को जो उर्दू शैली में या फारसी शैली में लिखे गये हैं— उर्दू या फारसी में अनुवाद किया जाय या बीच में आये हिन्दी शब्दों को रूपान्तरित किया जाय तो उनमें और उर्दू रचना में कोई अन्तर नहीं रह जाता।

सम्भवतः इस शैली के किसी गीतकार को ये बातें बहुत बुरी लग सकती हैं किन्तु यदि ईमानदारी से सोचा जाय तो यह बात गलत कभी नहीं है। मैं इस तरह के वक्तव्य इसीलिए दे रहा हूँ क्योंकि 'गीत रचना' के पिछले दशक का मूल्यांकन मेरा अपेक्षित कार्य है। यहां पर उदाहरण और नाम देकर मैं तुलना करने की आदत से बच रहा हूँ क्योंकि प्रभाववाही गीतों के तुलनात्मक मूल्यांकन के लिए यह जरूरी है कि कुछ उर्दू की गजलें और उर्दू की रुबाइयां प्रस्तुत की जाये, कई गीतों में आपको ग़ज़लों जैसी समानता मिलेगी, वही तोल, वैसा ही लहजा, यहां तक कि कहने का तरन्नुम भी वही, आप इसे क्या कह सकते हैं— मैं वह बात कहने से बचना चाहता हूँ, लोग कहते हैं हिन्दी की नव रचना पश्चिम का उधार है, मैं उधार को बौद्धिक स्तर पर बुरा इसलिए नहीं मानता क्योंकि आजकल हम अन्तर्राष्ट्रीय होने और हो जाने की स्थिति में

हैं किन्तु प्रभाववादी गीत रचना के बारे में मैं यह कहूं कि वह सरासर उर्दू मिसरों की चोरी है तो बात गलत नहीं होगी, मेरा विचार है चोरी उस हद तक क्षम्य नहीं है।

एक और कारण इसके पीछे है, वस्तुतः मंच की रुचि ही यही है इसीलिए रचनाकार इस आधार पर दोष मुक्त भी हो सकता है, वह यह कह सकता है कि जब लोग ऐसा ही मांगते हैं तब हम उन्हें क्यों न उनकी पसन्द की चीजें दें। लेकिन इतना कहकर ही नहीं बचा जा सकता इसी पिछले दशक में जन रुचि को बदलने के लिए राजस्थान के गीतकारों ने राजस्थानी लोकजीवन की मधुरता का आधार लिया है, उत्तरप्रदेश के गीतकार ने उतरांचल के जीवन को आधार चुना है, इस तरह से मुझे यह कहने में तनिक संकोच नहीं है कि जहां नयी कविता 'व्यक्तिवादी' होने के कारण एक 'निर्वैयक्तिक स्तर' पर पहुँची है वहां 'नवगीत रचना' सामाजिक होते हुए व्यक्ति जीवन की तह में भी पहुँची है। इसके हमें पर्याप्त उदाहरण मिल जायेंगे।

प्रभाववादी रचनाकारों में नीरज, नेपाली, त्यागी, रंग, मुकट बिहारी सरोज, सिन्दूर आदि है। किन्तु ये सभी रचनाकार प्रभाववादी होते हुए भी अपनी कृतियों में ईमानदार रहे हैं। 'नीरज' ने अपने गीतों में बेशक सस्ती भावुकता और मांसलता को आगे बढ़ाया है किन्तु नीरज ने ही गीतों में एक अजीब से दर्द को पैदा किया है— यह दर्द गीत और गीत के ध्येय के बीच की एक अस्पष्ट खाई है। हिन्दी गीत रचना में नीरज की रचनाएं उपलब्धि मानी जा सकती है किन्तु वे अपने उन प्रभाववादी तत्वों से कहीं भी मुक्त नहीं है। उनकी रचनाओं में आधुनिक बोध जैसी कोई बात बेशक न मिले, यहां तक कि यह बात उनकी उन चन्द कविताओं में भी नहीं किन्तु उनके गीतों में जनरुचि की तीव्रता है। इसके अलावा भी 'गीत' रचना के कुछ आयाम नीरज के गीत स्थापित करते हैं—

> अंधियारा जिससे शरमाये
> उजियारा जिससे ललचाए
> ऐसा देदो दर्द मुझे तुम
> मेरा गीत दिया बन जाये..."

स्व० नेपाली की दो तीन 'गीत रचनाएं' इधर बहुत लोकप्रिय रही हैं उनमें

एक की पंक्ति मुझे याद है— "ओढ़नी निकाल दे...।" कविता की एक पंक्ति का याद रहना भी मुझे लगता है उसके अच्छेपन की एक कसौटी हो सकती है। नेपाली बुरी तरह 'फिल्मी' गीत रचना के साथ चिपके रहे हैं इसलिए उनके गीतों में 'फिल्मीपन' अधिक है उन्हें साहित्यिक गीत कोटि में ले आना बहुत सम्भव नहीं है। यह कहा जा सकता है कि 'गीत' के मामले में वे मंच सम्राट अधिक थे। इसी तरह रामावतार त्यागी, बलवीरसिंह रंग आदि गीतकार हैं— इन गीतकारों ने 'एक गीत पीढ़ी' को जिया है इसे नहीं भूला जा सकता क्योंकि इन मूल्यांकन प्रभाव के आधार पर नहीं गीत' के ही आधार पर सम्भव है। रामावतार त्यागी के गीतों में 'गीतक्रम' की विशेषता है जो संभवतः अन्यत्र उपलब्ध नहीं है—

अपनी उम्र कर चुका पूरी
छूट गये सब काम अधूरे
मेरे अशुभ अनमने सिरजन
मुझको कभी क्षमा मत करना।

प्रभाववादी गीतकारों और नवरोमान्टिक गीतकारों के बीच में कुछ लोग आते है उनमें रामानन्द दोषी का नाम प्रमुख हैं। प्रभाव के नाम पर उन्होंने बहुत कुछ लिया है किन्तु वे नयी रचना में भी पीछे नहीं रहे हैं। दोषी की प्राथमिक रचनाओं में 'एडोलोसेन्सी' अधिक है— और बाद में चलकर वे रोमान्टिक रह गये हैं।

लाल फूल को कैद किया, पर गंध नहीं बन्ध पाई
सभी पाश छोटे कर आई है मेरी तरुणाई

× × ×

ये गीले भोले नैन, सिहरते बैन, बिखरती अलकें,
मेरे आंसू क्या पोछोगी तुम अपनी पोर सम्हालो

× × ×

कौन खड़ी शरमाई हो तुम
मेरी रीती गागर भरने कौन अपरिचित आई हो तुम—

उपरोक्त उदाहरणों में 'दोषी' का गीतकार-व्यक्तित्व हमें मिलता है। वर्णन की यह विशदता अन्य स्थानों पर कम मिलती है।

यद्यपि प्रभाववादी धारा में गीतकारों की संख्या बहुत अधिक है किन्तु यहां पर हमने उनमें से कुछ प्रतिनिधि लोगों को लिया है; वे प्रतिनिधि गीतकार जिन्होंने 'गीत रचना' के कुछ मूल्यों की स्थापना की है।

नवरोमान्टिक गीतकारों के कई उपभेद हो सकते है मुख्यतः उनमें दो तरह के लोग हे एक तो केवल लयात्मक गीत लिखने वाले गीतकार और दूसरे पूरे 'गीत रूपात्मक' गीत लिखने वाले। शिल्प दृष्टि से और भाव दृष्टि से यह गीतधारा— बहुत कुछ अपने अतीत से कटी हुई है। परम्परा के नाम पर इन लोगों ने नयी परम्परा कायम करने की कोशिश की है यह हिन्दी के लिए एक शुभ संकेत है कि रचना में नयी परम्परा 'नवगीत' रचनाकार ही कर रहे हैं। प्रभाववादी गीत धारा का शिल्प अपने उन तमाम प्रभावों से मुक्त नहीं था, भाव दृष्टि से वह रोमान्टिक तो था किन्तु 'क्लासिकल' परम्पराओं का अनुकरण करने के कारण उसकी भाव दृष्टि में भी एक शास्त्रीयपन आगया था जो गीत रचना' के लिए रूढ़' बन जाता है।

नवगीत रचना इसी दशक की रचना है, इसमें वे सभी लोग आये हैं जो पहले गीतकार थे फिर नयी कविता की वजह कवि हो गये, वे जो कवि थे और गीतकार होगये और वे जो 'लोकतत्व' की गीत रचना में एक नयी धारा बहाने लगे थे। इसमें सर्वश्री केदारसिंह, शम्भुनाथसिंह, वीरेन्द्र मिश्र, छविनाथ मिश्र पागल, रवीन्द्र भ्रमर बालस्वरूप राही, हरीश भादानी, भोलानाथ बिम्ब आदि नये और परिचित नाम हैं— ये सब लोग मूलतः नवरोमांटिक हैं, इनसे पहले की पीढ़ी में धर्मवीर भारती, जानकीवल्लभ शास्त्री, त्रिलोचन, नरेन्द्र शर्मा आदि आते हैं। यद्यपि पहले की पीढी के लोगों की नयी रचनाएं इस पूरे दशक में काफी आई हैं किन्तु इस दशक के पिछले दो तीन वर्षों की रचना में नवगीत रचना को एक नया रूप दिया है।

विवाद भय से मैं अधिक नामों और उदाहरणों को छोड़ रहा हूं— इतना स्पष्ट है कि नवगीत रचना की यह धारा हिन्दी कविता को अवश्य कुछ ऐसी रचनाएं

देगी जो 'काल परीक्षक' के हाथों आगे सुरक्षित रहेगी— यह संकेत बात एक सम्भावना के रूप में मैंने कही है।

उपलब्धियों की चर्चा भी मैं सांकेतिक कर रहा हूँ— गीतरचना, ने भावबोध के उस स्तर को बदला है जो बेहद भावुकता और सस्ती मनोवृति का प्रतीक है। गीतों में वे ही सब बिम्ब और प्रतीक आये हैं जो नयी कविता के लिए रूढ़ बन गये हैं— किन्तु नयी बिम्ब रचना और नये प्रतीक प्रयोग भी हिन्दी गीतों में बहुत हो रहे हैं। गीतों में छन्द और बन्द का वह आग्रह प्रायः समाप्त हो गया है— कुछ शब्दों में भाषा शिल्प की बात कहूँ तो नवगीत रचना ने 'सहजता' की ओर अधिक मुक्त किया है। भावबोध के स्तर के साथ साथ एक सामाजिक स्तर का भी अप्रकट रूप से निर्माण हुआ है। इसमें सन्देह नहीं कि यह गीत रचना धारा भविष्य में 'लोक जीवन' के उस सत्य को यथार्थ करेगी जिसमें 'रूमानियत' का एक अजब सयान है। वस्तुतः आज हम नागरिक जीवन और व्यस्त जीवन में इतने लिप्त हैं कि हम जब भी उससे परे की बात सोचते हैं तो 'लोक जीवन' का वह रूप हमारे सामने आ जाता है, जो मोहक है जिसमें बनावट के अंश नहीं हैं।

नवगीत रचना नयी कविता के ही समानान्तर कविता धारा है और वह उन सभी संकेतों, उपलब्धियों और सम्भावनाओं को पल्लवित करती जा रही है।

प्रस्तुत निबन्ध के बारे में अपना एक स्पष्टीकरण दे दूँ— वस्तुतः निबन्ध के तमाम विषय के साथ न्याय करने में 'मैं' अपने ढंग से अपने आपको सफल मानता हूँ— एक तो मैं नितान्त समकालीन दृष्टि से गीतों की ओर देख रहा हूँ— दूसरे मैं पिछली पीढ़ी की गीत रचना पर आज के विकासवादी आधार को लेकर अपना निर्णय भी दे सकता हूँ— किन्तु मूल्यांकन में किसी भी तरह के निर्णय को हटाया जा सकता है। संक्षेप में 'गीत धारा' का एक सर्वेक्षण मैंने प्रस्तुत किया है— मूल्यांकन के लिए मेरे लिए आवश्यक था मैं पहले अपने समकालीन चश्मे को अलग हटा लेता— किन्तु 'गीत' रचना को मैं आउटडेटेड इस चश्मे से भी नहीं मानता हूँ। गीतों में मेरी आस्था इसलिए भी है कि वह हमारे आधुनिक जीवन की एक रिक्तता का भराव है।

———

हरिकृष्ण देवसरे

बालसाहित्य : पिछला दशक

हिन्दी साहित्य की अन्य धाराओं की तुलना में बालसाहित्य की धारा शुष्क तो नहीं पर दुर्बल अवश्य है। वास्तव में स्वतन्त्रता के बाद ही, विदेशों के बालसाहित्य की श्रीवृद्धि देखकर, हिन्दी बालसाहित्य को प्रोत्साहन मिला। इससे पूर्व जो भी बालसाहित्य लिखा गया, वह स्कूली पुस्तकों अथवा छुट-पुट प्रयत्नों तक ही सीमित रहा। यही कारण था कि बच्चों के माता-पिता भी उसी सीमित दायरे में रहे और उन्होंने बच्चों के मनोरंजन तथा विकास के लिए खिलौनें के अतिरिक्त पुस्तकों की आवश्यकता उतनी नहीं समझी।

किन्तु युग चेतना के साथ-साथ बच्चों के विकास तथा उनके मनोरंजन के लिए जब स्वस्थ बालसाहित्य की आवश्यकता महसूस हुई तो उसकी रचना की ओर लेखकों का ध्यान आकर्षित हुआ। यों तो अन्य भारतीय भाषाओं—विशेषकर मराठी, बंगला तथा गुजराती में बालसाहित्य का प्रचुर मात्रा में प्रणयन होता आ रहा था, किन्तु हिन्दी में बालसाहित्य की श्रीवृद्धि स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् ही हुई। इस दृष्टि से बालसाहित्य का पिछला दशक उसका शैशवकाल ही कहा जा सकता है, क्योंकि इससे पूर्व बालसाहित्य की स्थिति उस असहाय और अनाथ बच्चे की तरह थी जो जमीन पर घिसटता रहे और उसकी भूख तथा सफाई-स्वास्थ्य का भी कोई ध्यान न रखें।

पिछले दशक के प्रारंभिक काल में जब नई पीढ़ी के भविष्य तथा उसके स्वस्थ विकास की ओर माता-पिता तथा अभिभावकों का ध्यान गया तो बालसाहित्य की प्रचुर आवश्यकता महसूस हुई। परिणाम यह हुआ कि हिन्दी बालसाहित्य में घिसटने की बजाय खड़े होने की शक्ति आने लगी। बालसाहित्य के लेखकों ने कलम उठाई और एक के बाद एक अनेक कृतियां सामने आईं।

पिछलादशक : पूर्वार्द्ध

यदि सन् १९५७ तक के समय को पिछले दशक का पूर्वार्द्ध मानकर चलें तो यह बात स्पष्ट उभरती है कि इस बीच जो कुछ भी बालसाहित्य लिखा गया वह सरल, सुबोध तथा मनोरंजक मात्र ही था। उस समय तो यही एक मांग थी कि बच्चों के लिए अधिकाधिक पुस्तकें हों। इसलिए अधिकांश रचनाएं ऐसी सामने आईं जो केवल अभाव-पूर्ति का उद्देश्य लेकर लिखी गई थीं। उन रचनाओं के मूल्यांकन करने तथा बाल-पाठकों के लिए उनकी उपादेयता का पता लगाने की चिन्ता किसी को न थी। फल यह हुआ कि थोड़े ही दिनों बाद हिन्दी का बालसाहित्य एक अच्छा खासा व्यापार बन गया। अधिकांश प्रकाशक और लेखक पुस्तकों की गिनतियां गिनकर बालसाहित्य के सृजन का दम्भ भरने लगे। किसी भी विषय पर सरल भाषा में बीस पच्चीस पृष्ठ की पुस्तक तैयार की गई और उसे छापकर बाज़ार में डाल दिया गया। हिन्दी के प्रायः सभी लेखक, और कुछ नहीं तो बालसाहित्य लिखने का दावा तो करने ही लगे। प्रकाशक भी छोटी-छोटी किताबें, बड़े टाइप तथा दुरंगे कवर पेज में छपवाकर पुस्तकालयों का चक्कर काटने लगे कि वे खप जाएं।

इस तरह पिछले दशक के पूर्वार्द्ध में प्रकाशित अधिकांश बालसाहित्य बाजारू, सस्ता तथा बच्चों को धोखे में डालने वाला लिखा गया। किन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि स्वस्थ बालसाहित्य का प्रणयन हुआ ही नहीं। हां, यह तो अवश्य ही हुआ कि भ्रष्ट बालसाहित्य की प्रचुरता के कारण उनकी कृतियों का सही मूल्यांकन नहीं हो सका। इसका परिणाम यह हुआ कि बालसाहित्य की नींव में कुछ ऐसे विषैले तत्व पड़ गए, जो अभी तक पूरी तरह दूर नहीं हो पाये।

पिछले दशक के पूर्वार्द्ध में जो स्वस्थ बालसाहित्य प्रकाशित हुआ उसमें कविवर

सोहनलाल द्विवेदी की 'दूध बताशा' तथा 'बालभारती', निरंकार देव सेवक की 'रिमझिम' कविता पुस्तकें बहुत अच्छी निकली हैं। इन पुस्तकों के गीत बच्चों के मन को लुभाने वाले है तथा ऐसे गीतों को वे बड़े चाव से पढ़ते हैं। इनके अतिरिक्त मोहनलाल गुप्त की 'बच्चों की सरकार' तथा रामवचनसिंह 'आनन्द' की 'अंगलू-मंगलू' पुस्तकें भी उल्लेखनीय हैं।

कथा-कहानियों की पुस्तकों को बालसाहित्य में प्राथमिकता मिलती है। किन्तु अच्छे स्तर की बहुत थोड़ी सी ही हुआ करती हैं। इस पूर्वार्द्ध काल में भूपनारायण की 'कीड़ों-मकोड़ों कथा', डा० वासुदेवशरण की 'खिलौने की कहानी', लज्जावती की 'सपनों की कहानियाँ' तथा बालकृष्ण एम. ए. की एक खाऊँ दो खाऊँ ?', 'मैं बच्चों का ?' 'अड़म घड़म' 'चुहिया राजकुमारी' विशेष उल्लेखनीय हैं। इन पुस्तकों की कहानियां सरस, मनोरंजक एवं ज्ञानवर्धक हैं। छपाई—सफाई भी अच्छी है। मूल्य भी कम है। बच्चों के लिए ये उपयोगी हैं और वे आसानी से खरीद भी सकते हैं।

यह समय ऐसा था जब कि हिन्दी प्रदेश के लोकसाहित्य का भी मूल्यांकन काफी जोरों से हो रहा था। इसलिए कुछ लेखकों ने बच्चों के लिए प्रेरक तथा मनोरंजक लोककथाएं भी संग्रहीत कीं। इनमें रमेशचन्द्र प्रेम की 'विश्व की लोककथाएं' (६ भाग) तथा आनन्द प्रकाश जैन की 'तेलंगाना की लोककथाएं' और श्रीकृष्ण की 'तिब्बत की लोककथाएं' अच्छी हैं। इन लोककथा-पुस्तकों की कहानियां बच्चों के लिए ज्ञानवर्धक तथा शिक्षाप्रद अधिक हैं।

नाटकों में कुदसिया जैदी कृत 'चाचा छक्कन के ड्रामे' (२ भाग) का उल्लेख किया जा सकता है। किन्तु इस दिशा में जैसी प्रगति होनी चाहिए थी, वह अब तक नहीं हो पाई है।

बाल उपन्यासों की दिशा में निश्चय ही इस पूर्वार्द्धकाल में कुछ स्तुत्य प्रयास हुए हैं। भूपनारायण दीक्षित का 'खड़खड़देव' एक सुन्दर बाल-उपन्यास सिद्ध हुआ। अनूदित बाल-उपन्यासों में किशोर गर्ग के 'कठपुतली', 'मूरजक', 'बाम्बी', 'श्यामू', 'साहसी पिप' तथा 'स्वर्णनदी का राजा' सुन्दर प्रकाशन है। बाल उपन्यासों की कमी को दूर करने में अनूदित उपन्यासों का यह प्रयास निश्चय ही सुन्दर रहा है।

पत्र-पत्रिकाओं में 'बालभारती', 'बालसखा' 'किशोर' 'शिशु' 'चुन्नू मुन्नू' 'दीदी' आदि एक अरसे से बच्चों का खिलौना बने रहे हैं। इनमें से कुछ तो अब बन्द हो गए हैं। फिर भी हिन्दी में बालसाहित्य के अभाव की पूर्ति करने में बहुत अंशों तक ये पत्र-पत्रिकाएं सहायक रही हैं। बच्चों की पढ़ने की रुचि जागृत करना, उन्हें ज्ञान-विज्ञान की बातें बताना तथा उनका मनोरंजन करना ही इन बाल-पत्रों का मुख्य उद्देश्य रहा है।

पिछले दशक के पूर्वार्द्ध में प्रकाशित स्वस्थ बालसाहित्य प्रगति सूचक तो है, किन्तु जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि हल्के और सस्ते बालसाहित्य के ढेर में से उसे चुनकर निकालना तथा उनका मूल्यांकन करना एक समस्या थी। इसलिए जब बच्चों के माता-पिता ने देखा कि बालसाहित्य के नाम पर पैसा लूटने का उद्देश्य है तो उन्होंने अपने बच्चों को स्कूल की पुस्तकों तक ही सीमित कर दिया। इस कारण बच्चे देश-विदेश तथा ज्ञान-विज्ञान की जानकारी तथा मनोरंजन और अध्ययन की रुचि बढ़ाने वाली पुस्तकों से प्रायः वंचित ही रहने लगे।

पिछला दशक : उत्तरार्द्ध

धीरे-धीरे बालसाहित्य की बढ़ती हुई मांग तथा भ्रष्ट साहित्य की रचना के कारण उसके मूल्यांकन की ओर लोगों का ध्यान गया। उन्होंने बच्चों की पुस्तकों में से उपयोगी पुस्तकों को चुनना शुरू कर दिया। जब वे देखभालकर पुस्तकें लेने लगे तो प्रकाशकों के सिर पर जूं रेंगी और वे भी थोड़े अपनी झपकी से जागे। परिणाम यह हुआ कि बालसाहित्य के स्तर में कुछ प्रगति हुई। १९५७ के बाद जो भी बालसाहित्य प्रकाशित हुआ उसे देखने पर सहज ही कहा जा सकता है कि इतनी तेजी से बालसाहित्य का प्रकाशन कभी नहीं हुआ।

उत्तरार्द्धकाल में प्रकाशित बालसाहित्य में अधिकांश ऐसा है जो बच्चों की रुचि, उनकी प्रवृत्ति तथा उनकी बुद्धि का अध्ययन करके लिखा गया है। इस अवधि में प्रकाशित पुस्तकें निश्चय ही स्वस्थ बालसाहित्य का भंडार भरने में सहायक हुई हैं और इतनी कम अवधि में अनेक सुन्दरतम कृतियों का प्रकाशन सचमुच प्रशंसनीय है। पांच वर्षों में बालसाहित्य की धारा के समान हिन्दी की अन्य कोई भी धारा इतनी तीव्र गति से प्रवा-

हित नहीं हुई होगी। लेकिन फिर भी दुःख इसी बात का है कि हिन्दी साहित्य जगत में बाल-साहित्य का कोई स्थान निर्धारित नहीं हो पाया।

बच्चों के लिए कविताएं प्रायः वही उपयोगी होती हैं जो उनके मन को भाएं। इन कविताओं को वे कण्ठस्थ कर लेते हैं और खेलकूद के समय गुनगुनाते हैं। कविवर सोहनलाल द्विवेदी की कई बाल-कविता पुस्तकें इस बीच प्रकाशित हुई हैं और वे बाल-साहित्य की समृद्धि में योग देने वाली एक अमूल्य निधि है। द्विवेदीजी हिन्दी के तो सुप्रसिद्ध कवि हैं ही, उन्होंने बालसाहित्यकारों में भी अपना शीर्ष-स्थान बना लिया है।

निरंकार देव सेवक ने भी 'माखन-मिसरी', 'दूध जलेबी', 'पंचतंत्री', 'मुन्ना के गीत' और 'धूप छाया' जैसी सुन्दर बाल-गीतों की पुस्तकें बच्चों के हाथों में दी हैं। बच्चों की मनोवृत्ति का अध्ययनकर, उनकी रुचि के अनुकूल, उन्हीं की भाषा में गीत लिखना, निरंकारजी की विशेषता है।

अन्य पुस्तकों में शकुन्तला सोरोठिया की 'गीतों भरी कहानियां' उल्लेखनीय है। 'देश हमारा' में कवि मोहनलाल गुप्त ने अत्यन्त सरल एवं सरस भाषा में लिखी गई कविताओं के माध्यम से एक नयी चेतना तथा जाग्रति उत्पन्न की है। 'बालकों के गीत' में संतराम वत्स्य ने प्रकृति वर्णन, त्यौहार, सीख, पशु-पक्षियों आदि विविध प्रकार के विषयों पर बालोपयोगी और सरस गीतों का संग्रह प्रस्तुत किया है।'

अब बच्चों के लिए उपयोगी गीतों की भी रचना होने लगी है। 'प्रतिनिधि बाल सामूहिक गान' श्रीकृष्ण तथा योगेन्द्रकुमार लल्ला द्वारा सम्पादित ऐसी ही पुस्तक है। किसी समारोह या खेलकूद के समय सामूहिक गायन के लिए गीतों का अभाव खटकने वाला था। इस संग्रह ने, इस प्रकार के गीतों की कमी को दूर करने का पथ-प्रदर्शन कार्य किया है। अच्छा होगा यदि खेलकूद, पढ़ाई-लिखाई तथा अन्य बाल सामूहिक क्रियाओं से सम्बद्ध, विभिन्न बालगीतकारों के गीतों का संग्रह भी प्रस्तुत किया जाय।

बालकथाओं के क्षेत्र में भी अब काफी प्रगति हुई है। आज की बालकथाएं कोरी मनोरंजन के लिए नहीं लिखी जातीं, बल्कि बच्चों पर अच्छे संस्कार डालने की भी उनसे अपेक्षा रहती है। इस सम्बन्ध में कतिपय लेखकों ने भ्रम उत्पन्न कर दिया है कि परियों की

कथाएं बच्चों के लिए इस युग में भी उपयोगी हैं। समझ में नहीं आता कि राकेट और चांद के इस युग में जब कि हम आगे बढ़ते जा रहे हैं, बच्चों को कल्पनालोक में ही भटकने के लिए क्यों छोड़ देना चाहते हैं। कुछ भी हो, आज राजारानी की कहानियां, परियों की सी उड़ान भरने वाली परीकथाएं, राक्षस-दैत्यों तथा भयंकर जादूभरी घाटियों की कहानियां बच्चों के लिए कभी उपयोगी नहीं सिद्ध हो सकतीं और आज नहीं तो कल, वे अवश्य ही कुप्रभाव बच्चों के मन पर छोड़ेंगी।

आज तो बच्चों को जिस दिशा में मोड़ने तथा उनके विकास के पथ को प्रशस्त बनाने के लिए जैसी कथाओं की जरूरत है, उनमें हमारे दिन प्रतिदिन के जीवन की बातें होनी चाहिए। हमें यदि बच्चों का मनोरंजन करना ही है तो परीकथा के माध्यम से किसी अद्भुत आविष्कार की कहानी बता सकते हैं। लेकिन मात्र कल्पना भरी बातें कहकर बच्चे की पलकों को बोझिल बनाना, उसकी बुद्धि को बोझिल बनाना होगा और जब वह बड़ा होगा तो बचपन में प्राप्त ज्ञान उसके लिए एक झूठ साबित होगा। तब उसे सारा ज्ञान-विज्ञान सही रूप में जानने के लिए प्रयत्न करना होगा। यह स्थिति क्या उसके विकास में बाधक नहीं होगी। तब फिर क्यों न हम कथाओं की पिटीपिटाई लकीर छोड़कर आगे आएँ और कथाओं की नई शैली, नई बातों को अपनाकर अपने बच्चों को नई दुनियां का श्रेष्ठ नागरिक बनाएं।

बालकथाओं में नए प्रयोग का एक उदाहरण मनमोहन मदारिया की 'नयी बानी: कथा पुरानी' तथा 'आज की लोक कथाएं' पुस्तकों में मिलता है। जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, इनमें नयी बात पुरानी शैली में तथा आज की बातों को लोककथा के रूप में कहने का प्रयत्न किया गया है।

बंकिमचन्द्र चटर्जी की प्रसिद्ध पुस्तकों के कथानकों का रूपान्तर बच्चों के लिए प्रस्तुत करने का सुन्दर प्रयास हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय ने किया है। बाल बंकिम कथा-माला के अन्तर्गत 'चन्द्रशेखर', मृणालिनी 'कृष्णकान्त का वसीयतनामा', 'दुर्गेशनन्दिनी' 'राधारानी इन्दिरा' 'कपाल कुण्डला' आदि सुन्दर और सुरुचि पूर्ण प्रकाशन हैं।

आम के आम और गुठलियों के दाम, यानी बच्चों के लिए उपहार भी और मजेदार कहानियां भी। इस दुहरे अर्थ को सार्थक किया है—आत्माराम एण्ड संस के

यहां से 'बाल उपहार माला' के अन्तर्गत प्रकाशित 'परियों की कहानियां', विज्ञान की कहानियां तथा साहस कीकहानियां' पुस्तकों ने ।

अन्य उल्लेखनीय वालकहानियों में राजेन्द्र शर्मा कृत 'सतलुज की कहानी', राज-बहादुर सिंह की 'भागवत की कहानियां', 'तपस्वियों की कहानियां', राजपाल एण्ड संस की ज्ञान-विज्ञान पुस्तकमाला के अंतर्गत प्रकाशित टेलीफोन की कहानी', 'ऐटम की कहानी'; 'सितारों की कहानी'; आत्माराम एण्ड संस के यहां से लोककथा माला के अन्तर्गत लग-भग १०० पुस्तकें वालसाहित्य की समृद्धि में सहायक सिद्ध हुई हैं ।

वाल उपन्यासों के लिए बालसाहित्य के पिछले दशक का उत्तरार्द्ध अधिक महत्व-पूर्ण सिद्ध हुआ है । बाल उपन्यासों की अभी बहुत कमी है और उनकी पूर्ति होना बहुत जरूरी है । गर्मी की छुट्टियों में बच्चों के लिए बाल उपन्यास बड़े ही उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं । किन्तु बाल-उपन्यास ऐसे हों जिनसे बच्चों को भारतीय जनजीवन, पशु पक्षी, जलवायु, विकास के नये तीर्थों तथा विज्ञान की बातों की जानकारी मिल सके । इस तरह के उपन्यासों के सृजन प्रेरणा के लिए कुछ उपन्यास विदेशी भाषाओं से अनूदित हुए हैं । ये अनूदित उपन्यास निश्चय ही प्रेरक सिद्ध हुए हैं और अब आवश्यकता इस बात की है कि बच्चों के लेखक छोटी-छोटी कहानियों के अलावा औपन्यासिक ढंग पर कुछ बड़ी कहानियां भी लिखें । अनूदित उपन्यासों में किशोर गर्ग द्वारा प्रस्तुत 'प्रेरी के मैदानों में', ब्राजील के वनों में', 'संसार के चिड़ियाघरों में' उल्लेखनीय हैं । नेशनल पब्लिशिंग हाउस दिल्ली ने भी काव्योपन्यास माला के अन्तर्गत संसार के सर्वश्रेष्ठ महाकाव्यों के कथानकों को उपन्यास के ढंग पर प्रस्तुत करके सराहनीय कार्य किया है ।

इस अवधि में प्रकाशित मौलिक बाल-उपन्यासों में हम कमल शुक्ल की 'गुंजाल', कृष्णचन्दर का 'खरगोश का सपना', सत्यप्रकाश अग्रवाल का 'एकडर पांच निडर', प्रशान्त कृत 'सुनहला हिरन तथा 'जादू की टहनी' का उल्लेख किया जा सकता है । ये मौलिक बाल-उपन्यास निश्चय ही इस दिशा में बढ़ते हुए कदमों के प्रतीक हैं । लेकिन इससे ही संतोष नहीं कर लेना चाहिए और बाल-उपन्यासों की दिशा में अभी भी काफी प्रगति अपेक्षित है ।

बालोपयोगी नाटकों की आभाव पूर्ति भी इस उत्तरार्द्ध काल में हुई है । अभी

तक सचमुच यह एक समस्या बनी हुई थी कि बच्चे कैसे नाटक खेलें। उन्हें या तो भारतेन्दु के 'अंधेर नगरी चौपट राजा' जैसे छोटे और हास्य प्रधान नाटकों का सहारा लेना पड़ता था या फिर किसी बड़े नाटक को काटकर सरल कर लिया जाता था। कई बार तो स्कूल के अध्यापक ही किसी ऐतिहासिक कथानक पर छोटा सा नाटक लिख लेते थे। तात्पर्य यह कि बच्चों की समस्याओं तथा उनके लिए उपयोगी बातों पर आधारित नाटकों का तो सर्वथा अभाव था। इधर कुछ वर्षों से अब यह कमी दूर हो रही है। मन्मथनाथ गुप्त का 'त्याग और बलिदान', दयाशंकर मिश्र 'दद्दा' कृत 'नटखट टम्मों' तथा विमला लूथरा कृत 'मोटे मियां', महेन्द्र भटनागर का 'बच्चों के रूपक' और भानु मेहता कृत 'वे सपनों के देश से लौट आए' सुन्दर और अभिनय योग्य बाल-नाटक हैं।

'प्रतिनिधि बाल एकांकी' नाट्य संग्रह योगेन्द्रकुमार लल्ला तथा श्रीकृष्ण द्वारा सम्पादित है। इसमें रंगमंच पर सफलता से अभिनेय एकांकी नाटकों का संकलन किया गया है। ऐसे संग्रहों की अभी बहुत आवश्यकता है। बच्चों की मासिक पत्रिकाओं में बहुत से सुन्दर नाटकों का प्रकाशन होता रहता है। यदि उनका संग्रह प्रकाशित किया जाए तो बाल नाटकों की अभाव पूर्ति की दिशा में यह एक सक्रिय कदम होगा।

ज्ञान-विज्ञान की पुस्तकों से बच्चे सामान्य-ज्ञान की बातें सीखकर, नये विषयों की जानकारी प्राप्त करते हैं। इससे उनकी प्रतिभा को विकसित होने में बल मिलता है। किन्तु ज्ञान विज्ञान की पुस्तकें युग के अनुकूल विषयों पर ही अधिक उपयोगी हो सकती हैं। राजकमल प्रकाशन के यहां से 'विज्ञान की अनोखी दुनियां', 'जानने की बात', राजपाल एण्ड सन्स की ज्ञान–विज्ञान पुस्तकमाला के अन्तर्गत प्रकाशित १८ पुस्तकें, हरीश अग्रवाल की 'भारत में महान् वैज्ञानिक,' राजेन्द्र अवस्थी कृत 'नयानीरथ', सुरेशसिंह कृत 'जानवरों का जगत' पुस्तकें विशेष उल्लेखनीय हैं। अभी ऐसी पुस्तकों की बहुत आवश्यकता है, जिनसे बालपाठकों के मनमें बड़े से बडे विषय के भी बीज बोए जा सकें।

पिछले दशक के उत्तरार्द्ध में पत्र-पत्रिकाओं ने भी बालसाहित्य की समृद्धि में अत्यन्त महत्वपूर्ण योगदान दिया है। इस अवधि में 'पराग' का प्रकाशन एक महत्वपूर्ण बात है। बच्चों के लिए इतने सुन्दर मासिक पत्र की पूर्ति करने के लिए 'पराग' के मालिकों को धन्यवाद है। अब आनन्द प्रकाश जैन के सुसम्पादन में वह लाखों बच्चों का

मनोरंजन और ज्ञानवर्धन कर रहा है। 'बालभारती' इधर बहुत अच्छी निकलने लगी। इसके 'विकास कथा अंक', 'अभिनय विशेषांक', 'बाल लेखक अंक' जैसे कई विशेषांक बहुत सुन्दर और उपयोगी सिद्ध हुए हैं। 'बालसखा' ४८ वर्ष का होकर भी एक सुन्दर और आदर्श बालक के रूप में अपनी परम्परा बनाए हुए हैं। इधर सोहनलाल जी द्विवेदी के सम्पादन में वह और अच्छा निकलने लगा है। यों बालसाहित्यकारों का निर्माण कार्य' 'बालसखा' द्वारा प्रारंभ से सम्पन्न होता आ रहा है, इसलिए उसकी अपनी व्यक्तिगत प्रतिष्ठा भी है।

'चन्दामामा' तो पिटीपिटाई और घिसी हुई कहानियों का, एक पिटारा है। अभी तक बैताल की पच्चीस ही कहानियां सुनी थीं, पर चन्दामामा के पिटारे में पता नहीं और कितनी और कहां से आगई। इसके भयानक घाटियां, राक्षसों आदि के चित्र बड़ों तक के मन में भय पैदा करनेवाले होते हैं फिर बच्चों के बारे में भला क्या कहा जाय। बालसाहित्य की समृद्धि में 'चन्दामामा' जैसे पत्र का योग्य शून्य के बराबर होना दुःख की बात है।

अन्य मासिक बालपत्रों में 'किशोर' और 'बालक' बिहार की बालसाहित्य को देन की परम्परा को बनाये हैं। दिल्ली से रुक-रुककर प्रकाशित होने वाला 'राजा भैया' भी अच्छा ही निकलता है।

दैनिक तथा साप्ताहिक पत्रों में बच्चों के लिए जो पृष्ठ प्रकाशित होते हैं, वे भी अच्छे निकलते हैं। 'धर्मयुग' का बाल जगत' और 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' की 'बच्चों की फुलवारी' उल्लेखनीय हैं। साप्ताहिक हिन्दुस्तान तो विगत कई वर्षों से चाचा नेहरू के जन्म दिवस पर बाल विशेषांक प्रकाशित करता है। पिछले वर्ष 'धर्मयुग' ने भी 'बाल अंक' निकाला था। आशा है 'धर्मयुग' आगे भी इसी तरह बालसाहित्य की समृद्धि में अपना योग देगा।

दैनिक पत्रों में 'भारत' और 'आज' के बालपृष्ठ बच्चों के लिए अच्छी सामग्री देते हैं। भारत ने तो कुछ वर्षों पहले एक बहुत सुन्दर 'बाल-विशेषांक' भी प्रकाशित किया था। 'आज' के बाल पृष्ठ में बच्चों की रचनाओं को प्राथमिकता मिलती है।

इस तरह बालसाहित्य के पिछले दशक का पर्यवेक्षण करने के बाद यह सहज ही कहा जा सकता है कि अब हिन्दी बालसाहित्य अपनी शैशवावस्था से निकलकर बाल्यावस्था में पहुँच चुका है। वह बहुत साफ सुथरा है और अच्छे रंगीन कपड़े पहनकर बड़ा आकर्षक रूप धारण किए है। उसमें बच्चों की चपलता तो है ही, उसकी बुद्धि बड़ी कुशाग्र है। वह छोटी बड़ी सभी बातों को बड़े सजग ढंग से अभिव्यक्त करता है।

अब आवश्यकता इस बात की है कि इसे हम अच्छे संस्कारों में ढालें। यदि इसकी आदतें बिगड़ने पाईं तो फिर आगे चलकर इसका विकास अवरुद्ध हो जायगा। इसके जन्मदाता-लेखक तथा पोषक-प्रकाशक दोनों ही इस कार्य के लिए उत्तरदायी हैं और दोनों के प्रयत्नों पर ही बालसाहित्य का भविष्य निर्भर करता है।

पिछले दशक के उत्तरार्द्ध काल से बाजारू और सस्ते किस्म के बाल साहित्य के प्रकाशन में अब काफी कमी आ गई है। अतः आवश्यकता इस बात की है कि बाल मनोविज्ञान की कसौटी पर खरी उतरने वाली पुस्तकों की रचना की जाए और बाल-साहित्य के भण्डार को भरा जाय। बच्चों के प्यारे चाचा नेहरू ने कई वर्ष पहले अपने एक संदेश में कहा था, "बच्चों में बचपन से ही पढ़ने की रुचि जागृत की जा सकती है। अतः यह विशेषरूप से आवश्यक है कि हम बच्चों को पढ़ने की आदत डालने के लिए प्रोत्साहित करें और उन्हें उचित मनोरंजक पुस्तकें दें। बच्चों का दिमाग जिज्ञासाओं और अधिक जानकारियों के लिए लालायित रहता है। यदि इस उद्देश्य को दृष्टिगत रखकर बच्चों की रुचि के अनुकूल पुस्तकें तैयार की जांय तो निश्चय ही बच्चों की रुचि पढ़ने की ओर बढ़ेगी। परन्तु दुर्भाग्य है कि जो लोग पुस्तकें लिखते और प्रकाशित करते हैं उनमें से बहुत कम ऐसे हैं जो यह सोचते हैं कि बच्चों की वास्तविक मांग क्या है?"

बालसाहित्य के पिछले दशक के उत्तरार्द्धकाल में इस बात को समझने का काफी प्रयास किया गया है। अनेक उत्कृष्ट प्रकाशन भी हुए। किन्तु इसके बावजूद भी बालसाहित्य का हिन्दी जगत में अब तक अपना कोई स्थान नहीं है। सभी लोग उसे विदेशी बालसाहित्य के स्तर पर देखना चाहते हैं, किन्तु जब देशी भाषाओं की तुलना में तो क्या, स्वयं हिन्दी की अन्य धाराओं के साथ इस धारा को स्वीकारने में झिचकिचाते हैं तो भला विदेशी भाषाओं के रंगमंच पर उसे देखने की आशा कैसे करते हैं। इसलिए

अब यह आवश्यक है की बालसाहित्य को हिन्दी साहित्य जगत में उचित स्थान देकर उसे विदेशी बालसाहित्य की तुलना में समृद्धशाली बनाने के प्रयत्न किए जाएं। पिछले दशक में प्रकाशित बालसाहित्य को देखकर सहज ही कहा जा सकता है कि हिन्दी का बालसाहित्य भी अब इस योग्य बन गया है कि वह अपना स्थान बना सके। साथ ही उसकी प्रगति को देखकर यह भी कहा जा सकता है की अब वह समय भी दूर नहीं जबकि हिन्दी का बालसाहित्य विदेशों के बालसाहित्य की तुलना में भी रखा जा सकेगा।

दुःखद स्मृति

मनुष्य पृथ्वी की इस सांवली सतह को कितनो ही बार खून से रंगता जाये, भगवान् उस दुःखद स्मृति को हरी घास के परदे में ढकता ही जाता है।

—खलील जिब्रान

× × ×

स्वतन्त्रता—एक आदत

स्वतन्त्रता ?

उपहार में दी जाने वाली कोई सुविधा ?

नहीं।

फिर ?

एक आदत, जो धीरे-धीरे सीखने पड़ती है।

—लोयड आर्ज

डॉ० नरेन्द्र भानावत

दशक की पत्र-पत्रिकाएँ

पौराणिक युग में जो स्थान और महत्त्व नारद का था वही स्थान और महत्त्व आज के वैज्ञानिक युग में समाचार पत्र का है। समाचार-पत्र युग की उष्मा को नापने का थर्मामीटर और वातावरण की सघनता-विरलता को अंकित करने का बेरोमीटर है। राजनीतिक चेतना सम्पन्न प्राणी समाचार-पत्र की उसी प्रकार प्रतीक्षा किए बैठा रहता है जिस प्रकार अपार जनता की भीड़ अपने राष्ट्र-नायक के दर्शनों के लिए तरसती रहती है। व्यापारी वर्ग समाचार-पत्र को पाकर इतना उल्लसित होता है मानों किसी आसामी ने उसे कर्ज चुका दिया हो। बुद्धिजीवियों के लिए तो वह मानसिक खाद्य ही नहीं 'टी-टेबुल' का मुख्य टॉपिक भी है। जनतांत्रिक देशों में इन समाचारपत्रों को 'लोकसंसद का स्थायी अधिवेशन कहा गया है।

ये समाचार पत्र सामान्यतः दैनन्दिन देशी-विदेशी घटनाओं, राजनीतिक स्थितियों, सामाजिक विकृतियों और आर्थिक उतार-चढ़ावों से परिचित कर हममें विश्व-नैकट्य की भावना भरते हैं। इनसे सूचनात्मक ज्ञान तो मिलता है पर वह राग का विषय बनकर हृदय को गुदगुदाता नहीं, इनसे मानवीय संबंध स्थापित तो होता है पर उत्तेजना का, उथल-पुथल का, तन्मयता और आनन्द का नहीं। इस अभाव की पूर्ति साहित्यिक पत्र-पत्रिकाओं द्वारा होती है। साहित्यिक पत्र-पत्रिकाएँ राजनीतिक क्षुब्ध वातावरण से ऊपर

उठाकर पाठक को सांस्कृतिक स्तर पर रस-विभोर करती हैं। दोनों (समाचार पत्र और साहित्यिक पत्र) का अपना २ मूल्य है। एक बाजार मूल्य (Market Price) है तो दूसरा सामान्य मूल्य (Normal Price)[१] एक समुद्र की लहर की तरह ऊपर-नीचे उठता है तो दूसरा अन्तर तक पैठकर मानस को शान्त और तृप्त करता है। प्रस्तुत निबन्ध का विषय सामान्य मूल्य से सम्बन्धित साहित्यिक पत्र-पत्रिकाएँ ही हैं।

दशक-पूर्व पत्र-पत्रिकाओं की स्थिति:

हिन्दी पत्रकार कला का आरम्भ विद्वान ३० मई सन् १८२६ से मानते हैं। इसी दिन कलकत्ता से 'उदित मार्त्तण्ड' प्रकाशित हुआ।[२] पर इसमें पत्रकारिता के लक्षण न थे अतः कुछ विद्वान हिन्दी पत्रकार-कला का वास्तविक आरम्भ भारतेन्दु के 'कवि वचन 'सुधा' (सन् १८६८) से मानते हैं।[३] इसके पूर्व 'सितारे हिन्द' ने 'बनारस अख-बार' (सन् १८४५) निकाला था पर उसकी भाषा उर्दू थी। इसके विरोध में तारा-मोहन मैत्र ने 'साप्ताहिक सुधार' (सन् १८५०) और राजा लक्ष्मणसिंह ने 'प्रजाहितैषी' (सन् १८५५) निकाला। भारतेन्दु की 'कवि वचन सुधा' साहित्यिक पत्रिका न थी वह सार्वविषयक थी।[४] उनकी 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' (१८७३) साहित्यिक दृष्टि से अधिक महत्त्वपूर्ण है। साहित्यिक पुट लेकर बालकृष्ण भट्ट का 'हिन्दी-प्रदीप' (१८७७) आलोक बिखेरता प्रकट हुआ। लगातार ३२ वर्षों तक यह 'प्रदीप' हिन्दी भाषा और साहित्य का संवर्धन करता हुआ स्वतन्त्रता के प्रभात के लिए उड़ता रहा। बालमुकुन्द गुप्त के साथ भारत-मित्र (१८८६) ने जोर पकड़ा। प्रतापनारायण मिश्र ने 'ब्राह्मण' (१८८४) बदरीनारायण चौधरी ने 'आनन्द कादम्बिनी' का प्रकाशन किया। 'काशी नागरी प्रचा-रिणी पत्रिका' (१८९७) और 'सरस्वती' (१९००) के प्रकाशन ने पत्रकार-कला को

---

[१] अर्थशास्त्र में इनका प्रयोग होता है। बाजार मूल्य अल्पजीवी होता है जबकि सामान्य मूल्य दीर्घजीवी।

[२] अम्बिका प्रसाद वाजपेयी : समाचार पत्रों का इतिहास, पृ० ९२

[३] डॉ० राजेन्द्र शर्मा : हिन्दी गद्य के युग निर्माता पं० बालकृष्ण भट्ट पृ० १४२

[४] उस पर लिखा रहता था A bimonthly journal of Literature news and Politics "

नया मोड़ और नई दृष्टि दी।

स्वतन्त्रता-पूर्व पत्र-पत्रिकाओं के दो प्रमुख उद्देश्य थे—

(१) हिन्दी भाषा और नागरी लिपि का समर्थन।

(२) देश भक्ति की भावना को जागृत कर देश को स्वाधीन बनाना।

कहना न होगा कि इन उद्देश्यों की पूर्ति करने में ये पत्र सफल रहे। बालगंगाधर तिलक, महात्मा गांधी, गणेश शंकर विद्यार्थी आदि राष्ट्र नेताओं ने पत्रों के माध्यम से ही वह अलख जगाई कि जन-जन की आत्मा आन्दोलित हो उठी। स्वतन्त्रता-पूर्व पत्रकारिता अपने आप में कठोर तपस्या थी। सरकार स्वयं बाधक थी। पत्रकार को उसी के विरुद्ध लड़ना था। सरकार के साथ २ उसके हिन्दुस्तानी पिट्ठू भी कम खतरनाक न थे! अर्थाभाव से पत्रकार पीड़ित था, प्रेस का संकट भूत की तरह सामने था। पाठकों का अभाव था, लेखकों की कमी थी। फिर भी पत्रकार शहीद बनकर, अपनी हड्डियों को गला कर खून की स्याही से लिखता रहा।

दशक की पत्र-पत्रिकाएँ :

स्वतन्त्रता प्राप्ति के साथ-साथ जन-जीवन के सभी अंग उल्लसित हो उठे। राष्ट्र-देह में नया रुधिर प्रवाहित हुआ। 'पराजित काल रात्रि' अन्तर्धान हो गई और जयलक्ष्मी 'उषा के सुनहले तीर बरसाती' प्रगट हुई। साहित्य को नया स्वर मिला। संस्कृति को फैलाने का मुक्त सूक्ष्म आकाश मिला। व्यक्तित्व को सर्वांगीण विकास करने का अवसर मिला। दृष्टि का कोण अब फैलता गया, नये-नये स्तरों में नवीन-नवीन सृष्टि की तड़फ लिये। बदलते हुए राजनीतिक, सामाजिक एवं आर्थिक परिवेश में पत्रकार को संभल कर चलना था। उसने परिवर्तन की पदचाप सुनी। अब उसका उद्देश्य 'देशभक्ति की भावना को जागृत कर देश को स्वाधीन बनाना' नहीं रहा वरन् प्राप्त की हुई आजादी की रक्षा करना रहा, अवरुद्ध सृजनशीलता को गति देना रहा, सांस्कृतिक संकट को दूर करना रहा, मानवीय संवेदना और सहानुभूति को जगाकर भावात्मक एकता को प्रतिष्ठित करना रहा। सच्चे अर्थों में—सम्पादक को 'व्यास' बनना पड़ा। उठते हुए 'महाभारत' (नये भारत) को स्वर देना पड़ा। गूँजती हुई रागिनी को संयोजित करना पड़ा। भारतेन्दु ने पत्रकार की हैसियत से 'स्वत्व निज भारत गहै' 'खल गनत सों सज्जन दुखी मति होय', और 'नारिनर

सम होंहि' का जो नारा बुलन्द किया था उसे संवैधानिक मान्यता प्राप्त अब हो गई। पत्रकार[1] का उद्देश्य रहा—

(१) प्राचीन साहित्य, संस्कृति और कला का उद्घाटन कर उसका नवीन मूल्यांकन करना।

(२) अभिनव साहित्य-सृजन को प्रोत्साहन देना और उसकी वैज्ञानिक, सांस्कृतिक व ऐतिहासिक समीक्षा प्रस्तुत करना।

(३) समस्त भारतीय भाषा और साहित्य के बीच समानता की खोज करना व आदान-प्रदान का द्वार मुक्त करना।

(४) लेखन-प्रकाशन की अधुनातम दिशा, प्रवृत्ति, और उपलब्धि का परिचय प्रस्तुत करना।

इन उद्देश्यों की पूर्ति दशक की पत्र-पत्रिकाओं ने बड़ी सजगता और ईमानदारी के साथ की। यहां संक्षेप में प्रत्येक उद्देश्य की पूर्ति के लिए जिन २ पत्र–पत्रिकाओं का योगदान मिला उनका परिचय दिया जा रहा है—

(१) प्राचीन साहित्य, संस्कृति एवं कला सम्बन्धी शोध-पत्रिकाएं

भारत में साहित्य सृजन की प्रवृत्ति आदि कवि वाल्मीकि से मानी जाती है। मुद्रणालय का अभाव होने से यह साहित्य शिष्य-प्रशिष्यों के कंठों में बन्दी बनकर पड़ा रहा या ताम्रपत्रों, भुर्जपत्रों और हस्त लिखित ग्रन्थों के रूप में लिपिबद्ध होकर भण्डारों और राजकीय पुस्तकालयों में संग्रहीत रहा। स्वतन्त्रता-पूर्व इस साहित्य के जीर्णोद्धार की ओर ध्यान नहीं गया। परतन्त्र-मानस ने इसका मूल्य भी नहीं समझा। जब कर्नल टॉड और डा० एल० पी० तोस्सितोरी ने इसका मूल्यांकन कर भारतीय विद्वानों का ध्यान आकर्षित किया। तब छुट-पुट प्रयत्न होने लगे। 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' (काशी), हिन्दुस्तानी (इलाहाबाद) सम्मेलन पत्रिका (प्रयाग) ब्रजभारती (मथुरा) आदि त्रैमासिक पत्रिकाओं ने प्राचीन साहित्य और संस्कृति का सम्यक् अनुशीलन कर वैज्ञानिक

[1] यहाँ पत्रकार से तात्पर्य साहित्यिक पत्र-पत्रिकाओं के सम्पादक से ही है।

विश्लेषण प्रस्तुत किया ।

स्वतन्त्रता मिलते ही विद्वानों ने अनुभव किया कि जब तक हम अपनी प्राचीन साहित्यिक, सांस्कृतिक एवं कलात्मक थाती को नहीं सम्भालेंगे (जगायेंगे) तब तक हममें नव जागरण, स्वाभिमान और स्वाश्रयी भावना का विकास नहीं होगा न हम नवीन साहित्य सृजन को खाद दे सकेंगे । इस दिशा में द्रुतगामी प्रयत्न हुए और विभिन्न विश्व-विद्यालयों तथा शोध संस्थाओं से कई त्रैमासिक शोध-पत्रिकाएं प्रकाशित हुई । राजस्थान इस दौड़ में सबसे आगे रहा । यह स्वाभाविक भी था । यहां का प्राचीन साहित्य विविध और विशाल है । हिन्दी का आदिकाल बहुत कुछ इसी की देन है । राजस्थान विद्यापीठ, उदयपुर के साहित्य संस्थान ने सबसे पहले 'शोध पत्रिका' का प्रकाशन आरम्भ किया । इसमें प्राचीन साहित्य, संस्कृति एवं कला सम्बंधी विविध लेख प्रकाशित होते रहते हैं । बिड़ला एड्यूकेशन ट्रस्ट, पिलानी के राजस्थानी शोधविभाग ने 'मरुभारती' का प्रकाशन किया इसमें प्रधानतः राजस्थानी साहित्य और संस्कृति सम्बंधी लेख प्रकाशित होते हैं । राजस्थानी लोक-कथा–कोश और शब्द–चर्चा इसके विशिष्ट स्तम्भ रहे है । सादूल राजस्थानी रिसर्च इन्स्टीट्यूट, बीकानेर की 'राजस्थान-भारती' के 'तैस्सितोरी' और 'राठौड़ पृथ्वीराज जयन्ती' विशेषांकों ने तो शोध को नई दिशा दी है । विद्वानों ने डा. एल. पी. तैस्सितोरी और वेलिकार पृथ्वीराज के विषय में तथ्यपूर्ण नवीन सामग्री यहां प्राप्त की है । राजस्थानी शोध संस्थान, चौपासनी (अब जोधपुर) की 'परम्परा' ने तो शोध के क्षेत्र में एक नई परम्परा ही डाली है । इसका हर 'साधारण अंक राज संस्करण' होता है । अब तक इसके १२ महत्त्वपूर्ण अंक निकल चुके हैं । लोकगीत गोरा हटजा, जेठवे रा सोरठा, डिंगल कोश, राजस्थानी बात संग्रह, राजस्थानी साहित्य का आदि काल, मध्यकाल, राठोड़ रतनसिंघरी वेलि पिंगल सिरोमणि आदि अंकों ने हिन्दी साहित्य के इतिहास को अलभ्य सामग्री दी है । राजस्थान साहित्य समिति, बिसाऊ की 'वरदा' लोक साहित्य एवं लोक संस्कृति के उद्घाटन में महत्त्वपूर्ण कार्य कर रही है । वागड़ प्रदेश साहित्य परिषद, डूंगरपुर के 'वाग्वर' ने जनपदीय साहित्य को प्रकाश में लाने का कार्य किया है । बीकानेर से 'विश्वम्भरा' और भरतपुर से 'समितिवाणी' का प्रकाशन नया कदम है ।

राजस्थान के बाहर अन्य प्रान्तों में उत्तरप्रदेश को छोड़कर विशेष प्रगति नहीं दिखाई देती। भारतीय हिन्दी परिषद् प्रयाग विश्व विद्यालय की शोध-पत्रिका 'हिन्दी-अनुशीलन' प्राचीन एवं नवीन साहित्य सम्बन्धी शोध-दिशा के विभिन्न छोर खोलती रही है। विद्यापीठ, आगरा का 'भारतीय साहित्य' तथा राष्ट्रभाषा परिषद्, बिहार का 'साहित्य' भी उल्लेखनीय है। बंगीय हिन्दी परिषद् कलकत्ता की 'जनभारती' ने कई सुन्दर विशेषांक निकाले हैं जिनमें, मीरा, तुलसी, भारतेन्दु, रवीन्द्र, प्रसाद, निराला आदि के विशेषांक उल्लेखनीय हैं। वीर सेवा मन्दिर, दिल्ली द्वैमासिक 'अनेकांत' विशिष्ट शोध प्रवृत्ति का द्योतक है। इसमें जैन काव्य-रूपों, जैन काव्यकारों तथा जैन मन्दिरों का शोधपरक परिचय मिलता है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि शोध की दिशा में इन पत्रिकाओं ने जो कार्य किया है उससे हिन्दी भाषा और साहित्य सशक्त बना है। हिन्दी का प्राचीन साहित्य उसकी बोलियों का साहित्य है। राजस्थानी साहित्य को प्रकाश में लाने के लिए जितनी पत्रिकाएं कार्य कर रही हैं उतनी पत्रिकाएं हिन्दी की सब बोलियों को मिलाकर भी नहीं। अतः आवश्यक है कि व्रज, अवधी, भोजपुरी, मैथिली आदि बोलियों के साहित्य को प्रकाशित करने के लिए नवीन और विशिष्ठ पत्रिकाओं का प्रकाशन हो।

(२) अभिनय साहित्य एवं समीक्षा सम्बन्धी साहित्यिक पत्रिकाएँ :

हम केवल प्राचीनता के बल पर नहीं जी सकते। उससे तो केवल प्रेरणा लेकर आगे बढ़ सकते हैं। आगे बढ़ना ही नवीनता का मार्ग प्रशस्त करना है। युग की धड़कन को सुनकर उसे प्रगट करने का सबसे सरल और समुचित माध्यम पत्र-पत्रिकाएं हैं। दशक की आवाज को रूप देने और बल भरने का काम दशक की पत्रिकाओं ने किया है। नवीन साहित्यिक आंदोलन का नेतृत्व इन्हीं पत्रिकाओं ने सम्भाला है। प्रयोगवादी कविता को परिष्कृत और परिमार्जित बनाकर 'नयी कविता' का नाम इन्हीं पत्रिकाओं ने दिया है। 'नई कहानी' और 'आंचलिकता' का वस्तु-बोध (रस-बोध भी) इन्हीं पत्रिकाओं से मिला है। समीक्षात्मक और रचनात्मक दोनों दिशाओं में प्रगति हुई है।

इस दृष्टि से इन पत्र–पत्रिकाओं को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है ।

(क) विशुद्ध समीक्षात्मक

ख) सरस रचनात्मक

विशुद्ध समीक्षात्मक पत्र पत्रिकाओं का मूल सम्बन्ध साहित्यिक आलोचना से से है । परीक्षा को केन्द्र मानकर इस आलोचना के दो रूप किये जा सकते हैं । परीक्षा–सापेक्ष और परीक्षा निरपेक्ष । परीक्षा–सापेक्ष आलोचना का स्वर संकीर्णस्थूल और व्यावसायिक है । पाठ्यक्रम में निर्धारित पुस्तकों को ही आलोचना का विषय बनाकर छात्रोपयोगी समीक्षा प्रस्तुत की गई है । 'साहित्य सन्देश', (साहित्यरत्न भंडार, आगरा) 'सरस्वती संवाद' (मोती कटरा आगरा) और 'समीक्षा' (अलवर) इसी प्रकार की आलोचनात्मक पत्रिकाएँ हैं । अपने वार्षिक विशेषांकों में इन पत्रिकाओं ने अपनी दृष्टि को थोड़ा स्वस्थ और व्यापक बताया है । वे परीक्षोपयोगी घेरे से थोड़ी बाहर निकलती है । इन पत्रिकाओं में 'साहित्य सन्देश' का एप्रोच स्वस्थ तथा सन्तुलित है । उसने छात्रों तथा शोधार्थियों दोनों को खाद्य दिया है । इसके विशेषांक-आलोचनांक, कहानी-अंक, आधुनिक काव्यांक, अन्तःप्रान्तीय नाटकांक, आधुनिक उपन्यास अंक, भाषा विज्ञान विशेषांक, सन्त साहित्य विशेषांक, ऐतिहासिक उपन्यास अंक, रीती काव्यालोचनांक, शोध अंक, प्रगती विशेषांक ५९, ६०, ६१, निबन्धांक, रांगेय राघव स्मृति अंक— उपयोगी व तथ्यपूर्ण सामग्री प्रस्तुत करते हैं । 'सरस्वती संवाद' की दृष्टि परीक्षांकों पर अधिक रही है । फिर भी उसके विभिन्न विशेषांक— गद्य विशेषांक, प्रसाद अंक, महाकाव्य अंक, काव्य-शास्त्र अंक, इतिहास अंक, सूर अंक— उच्चस्तरीय विचारोत्तेजक सामग्री प्रस्तुत करते हैं । 'समीक्षा' द्वैमासिक पत्रिका है (अर्थाभाव के कारण अब उसका प्रकाशन बन्द हो गया है) आरम्भ से ही यह परीक्षोपयोगी दृष्टि लेकर चली । इसके चार विशेषांक— तुलसी, सूर, आधुनिक कवितांक प्रेमचंद अंक— छात्रों में लोकप्रिय तो हुए पर अधीरता एवं जल्द-बाजी के कारण प्रकाशक इसे जीवित न रख सके ।

परीक्षा-निरपेक्ष आलोचना का स्वर अधिक सूक्ष्म, सशक्त और वजनदार है । उसने साहित्य के शास्त्रीय मानदण्डों को बदला है, रूढ़िगत आलोचना प्रणाली को झकझोरा है और साहित्य का मनोविश्लेषणात्मक, समाजशास्त्रीय, वैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत किया है । त्रैमासिक पत्रिका 'आलोचना' और मासिक 'समालोचक' (आगरा) ने आलो-

चना का यह रूप बड़ी जागरूकता के साथ रखा पर मत-भेद के कारण इनका प्रकाशन बीच ही में अवरुद्ध हो गया।

सरस रचनात्मक पत्र-पत्रिकाओं का प्रचार और प्रसार भी इस दशक में बढ़ा ! इस श्रेणी की पत्र-पत्रिकाओं के भी दो रूप हैं। सार्वविधा मूलक और विशिष्ट विधा मूलक। सार्वविधा मूलक पत्र-पत्रिकाएँ वे हैं जो साहित्य की विभिन्न विधाओं— निबन्ध, आलोचना, कहानी, एकांकी, कविता, हास्य-व्यंग्य आदि सभी— को प्रश्रय देती हैं। 'विशाल भारत' (कलकत्ता) और 'सरस्वती' (इलाहाबाद) आज भी अपनी उज्ज्वल परम्परा का गौरव निभा रही हैं। ये पत्रिकाएँ सामान्य पाठक के लिए अधिक उपयोगी सिद्ध होती हैं। उसे ज्ञानवर्द्धक सामग्री के साथ-साथ मनोरंजन के लिए सरस सामग्री भी पढ़ने को मिलती है। साहित्य के अतिरिक्त अन्य सामाजिक विषयों— इतिहास, भूगोल, राजनीति, विज्ञान, कला, धर्म— को भी ये परिस्पर्श करती हैं। वीणा (इन्दौर), कल्पना (हैदराबाद दक्खन), नवनीत (बम्बई), नई धारा (पटना), ज्ञानोदय (कलकत्ता), सप्तसिन्धु (पटियाला), सरिता (दिल्ली), त्रिपथगा (लखनऊ), भारती (बम्बई), कादम्बिनी (दिल्ली), लहर (अजमेर) मधुमती (उदयपुर) वातायन (बीकानेर) प्राच्यभारती (भागलपुर) रसवन्ती (लखनऊ) विक्रम (उज्जैन) नया जीवन (सहारनपुर) आदि पत्र-पत्रिकाएँ रचनात्मक साहित्य का संवर्धन कर रही हैं। वीणा, कल्पना, नई धारा, सप्तसिन्धु, लहर, वातायन और रसवन्ती में आलोचना का स्तर और स्वर भी ऊंचा एवं सशक्त रहा है। इनके विशेषांकों में तो प्रायः समीक्षा की प्रवृत्ति ही प्रधान रही है। 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' और धर्मयुग' भी इसी श्रेणी के साप्ताहिक पत्र हैं।

विशिष्ट विधामूलक पत्र-पत्रिकाओं की प्रकाशन प्रवृत्ति इस दशक की विशेष देन है। इससे पूर्व किसी साहित्यिक विधा-विशेष को लेकर सामान्यतः पत्र नहीं चले। इस दशक के साहित्य की दो विधाएँ— कहानी और कविता— इस ओर सचेष्ट रहीं। कहानी आज के व्यस्त जीवन को सप्राण करने वाली रस-धारा है। गहन चिन्तन और तात्कालीक समस्याओं को पाठक के समक्ष सरल और सीधे रूप में रखने का कहानी के अतिरिक्त और कोई माध्यम नहीं। पाठकों की रुचि इस ओर जितनी अग्रसर है उतनी और किसी विधा की ओर नहीं। पाठकों की इसी भूख को मिटाने के लिए केवल मात्र कहानियों

की पत्रिकाएँ इस दशक में प्रकाशित हुईं ! 'कहानी' 'नई कहानियाँ' 'सारिका' इस दिशा में उल्लेखनिय पत्रिकाएँ हैं । इन पत्रिकाओं में केवल कहानियाँ ही नहीं रहतीं वरन् आधुनिक कहानियों की टेकनीक, दिशा और उपलब्धि पर परिचर्चा भी रहती है । सस्ते मनोरंजन के लिए हलके स्तर की पत्रिकाओं में 'माया', 'मनोरमा', 'मनोहर कहानियाँ, और 'अरुण' के नाम लिए जा सकते हैं ।

कविता की टेकनीक में इस दशक ने आमूलचूल परिवर्तन किया । सम्मान्य आलोचकों ने कमर कसकर इस तथाकथित कविता की खबर ली । पर युग की बौद्धिक चेतना नई कविता को अपनाकर ही रही । कवि को इस संक्रमण काल में स्वयं आलोचक ही नहीं प्रकाशक भी बनना पड़ा । 'नयी कविता, (इलाहाबाद), 'कविताएँ' (जोधपुर) और 'कविता' (अलवर) इस संदर्भ में उल्लेखनीय प्रकाशन हैं ।

इस सामान्य विवेचन से इस निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि अभिनव साहित्य और समीक्षा सम्बन्धी पत्रिकाएँ उत्तरोत्तर विकास कर रही हैं । सरस रचनात्मक पत्रिकाएँ तो व्यावसायिक दृष्टि से सफल होने के कारण फल-फूल रही हैं पर विशुद्ध समीक्षात्मक पत्रिकाओं की आर्थिक नींव सुदृढ़ नहीं है । 'साहित्य सन्देश' के अतिरिक्त अन्य सभी पत्र प्रायः लंगड़ाते रहे हैं । यह स्थिति हिन्दी साहित्य के लिए कभी भी खतरनाक हो सकती है । अतः आवश्यक है कि पाठकों की रुचि का परिष्कार हो और आलोचना का मानदण्ड स्वस्थ बने अन्यथा समीक्षा के 'माली' के अभाव में रचनात्मक साहित्य की वाटिका 'अवांछनीय' तत्त्वों से भर जायगी ।

(३) अन्तर भारती भाषा, साहित्य और संस्कृति सम्बन्धी पत्रिकाएँ :

आजादी के बाद भारतीय राष्ट्रीयता का जो अखण्ड और पूर्ण स्वरूप सामने आया, वह कभी नहीं आया । जिस राष्ट्रव्यापी एकता की कल्पना अशोक और अकबर ने भी नहीं की वह सहज ही हमें प्राप्त हो गई । अब मूल प्रश्न राष्ट्रीयता और एकता को स्थायी बनाये रखने का है । यह दायित्व राजनीतिक नेताओं का जितना नहीं है उतना संवेदनशील, अनुभूतिप्रवण साहित्यकारों का है । इस प्रकार का वैचारिक सरस साहित्य घर-घर में पहुँच सके, ऐसी व्यवस्था करना आज के पत्रकार और प्रकाशक का कार्य है ।

पिछले कुछ वर्षों मे भाषा-भेद की आग सुलगाकर राष्ट्र-देवता को झुलसाया जा रहा है। हिन्दी अपने सहज गुणों से राष्ट्र भाषा बन गई। पर उसका जीवित रहना अपने प्रादेशिक भाषाओं की बहनों के सहयोग पर ही निर्भर है। उन्हें अपदस्थ कर वह जी नहीं सकती। उसका मूल विरोध भी अंग्रेजी मे है। भारतीय भाषाओं के साथ हिल-मिल कर वह अपना गौरव और वैभव बढ़ाना चाहती है। इस दिशा में पत्र-पत्रिकाएँ महत्त्वपूर्ण कार्य कर सकती हैं।

केन्द्रिय हिन्दी निर्देशालय ने 'भाषा' नामक एक त्रैमासिक पत्रिका का दो वर्ष पूर्व प्रकाशन किया है। इसका उद्देश्य है (१) शिक्षा, कला, विज्ञान, अनुसंधान, कानून और शासन आदि के लिए अन्य भारतीय भाषाओं से शब्द ग्रहण कर हिन्दी की समृद्धि करना (२) हिन्दी को सब प्रकार की अभिव्यक्ति का सशक्त और प्रभावशाली साधन बनाने के उद्देश्य से उसकी प्रकृति के अनुकूल प्रादेशिक भाषाओं का सहयोग लेना। (३) समस्त भारतीय भाषाओं के बीच समानता की खोज करना और आदान-प्रदान का द्वार मुक्त करना।

उपरोक्त उद्देश्यों की पूर्ति के लिए और भी कुछ पत्रिकाएँ कार्य कर रही हैं। साहित्यिक आदान-प्रदान का कार्य राष्ट्रभारती (वर्धा), आजकल (दिल्ली), राष्ट्रभाषा पत्र (कटक), दक्षिण भारती (हैदराबाद— तीन वर्षों से यह पत्रिका बन्द है) देवनागर (दिल्ली) आदि पत्रिकाओं द्वारा सम्पन्न हो रहा है। सांस्कृतिक आदान-प्रदान का माध्यम है 'संस्कृति' (दिल्ली)। 'मुक्ता' (दिल्ली) भारतीय भाषाओं में प्रकाशित महत्त्वपूर्ण सामग्री का मासिक संकलन है जिसका काम है भारत के कोने-कोने में बिखरे मोतियों की लड़ी बनाकर जागरूक और प्रबुद्ध पाठकों तक पहुँचाना।

पत्रकारिता के क्षेत्र में इस प्रकार आदान-प्रदान भाषा और साहित्य के क्षेत्र में एकदम नया है। यह कार्य प्रधानतः सरकारी स्तर पर हो रहा है। दक्षिण भारत की कुछ पत्रिकाओं ने भी इस ओर अनुकरणीय आदर्श प्रस्तुत किया है। उत्तर भारत में भी इस प्रकार के गैर सरकारी प्रयत्न होने चाहिये। इससे हिन्दी के विरुद्ध जो विष उगला जा रहा है वह अमृत बन जायगा।

(४) लेखन प्रकाशन की अधुनातम प्रवृत्तियों की सूचक पत्रिकाएँ :

पहले पत्रकारों के सामने पाठकों एवं लेखकों की कमी थी। पर अब दिन-प्रति-

दिन धड़ल्ले के साथ नया साहित्य सामने आ रहा है । इस ढेरी में से चयन कर अभीष्ट कृति का पठन-पाठन आज के साहित्य-जगत की जटिल समस्या है । यों तो प्रत्येक पत्रिका में साहित्य-समीक्षा का एक स्तम्भ रहता ही है, पर इस दशक में नवलेखन एवं प्रकाशन की प्रगति को सूचित करने के लिए कई स्वतन्त्र पत्रिकाओं का प्रकाशन भी हुआ है। इसका प्रकाशन किसी न किसी प्रकाशक संस्था से हुआ है। ऐसी पत्रिकाओं में ज्ञानपीठ पत्रिका' पुस्तक-समाचार, विश्व साहित्य, नया साहित्य आदि उल्लेखनीय है । 'ज्ञानपीठ पत्रिका, ने विभिन्न विश्वविद्यालयों में हो रहे हिन्दी-अनुशीलन-कार्य का विषयवार विवरण देकर शोध-जगत की महती सेवा की है । इससे शोधार्थी विषय की पुनरावृत्ति से तो बचेंगे ही नवीन शोध-दिशा ढूंढने में भी समर्थ होंगे ।

समग्र रूप से यह कहा जा सकता कि पिछले दशक की पत्र-पत्रिकाओं ने हिन्दी साहित्य की महत्त्वपूर्ण सेवा की है । नयी कविता सम्बन्धी आन्दोलन का सूत्र तो इन्हीं पत्रिकाओं ने संभाला है। पहले की पत्रिकाएं प्रायः सार्वविषयक होती थीं । इस दशक में विशिष्ट-विधामूलक पत्रिकाओं का प्रकाशन प्रारंभ हुआ । अन्तर-भारती भाषा और साहित्य संबंधी पत्रिकाओं ने हिन्दी की गोद भरकर उसे अखण्ड सौभाग्यवती बनाया है । प्रबुद्ध सम्पादक और अनुभूतिशील लेखक का दायित्व है कि वह पूंजी (प्रकाशक) के व्यामोह से अलग हटकर पाठक की रुचि का परिष्कार करता रहे, उसे कलुषित न होने दे ।

परिशिष्ट

- नयी कविता : नया आयाम
- समकालीन साहित्य-बोध
- दशक : दस कविता-संग्रह
- दशक : दस उपन्यास
- दशक : दस कहानियाँ

प्रो० कीर्तिनाथ कुर्तकोटी

नयी कविता : नया आयाम

नयी कविता एक प्रयोग मात्र है लेकिन विभिन्न साहित्यिक प्रयोगों की अपेक्षा यह, कवि और सामाजिकों के समक्ष समस्या रूप में उपस्थित है। यह समस्या इतनी गहरी इसलिए है, क्योंकि नई कविता अनेक प्रभावों से प्रेरित है और अनुकरण काव्य-स्वरूप का संकोच और कवि की आन्तरिक असहायता—इनसे आज काव्य-परम्परा पीड़ित हो रही है। नये-नये आनेवाले कवि व्यावहारिक सरलता के लिए सिक्कों की तरह इस

काव्य रूप का उपयोग कर रहे है। तमाम भारतीय भाषाओं के लिए नयी कविता समान-रूप से एक समस्या बनकर खड़ी है इसलिए इस पर शास्त्रीय ढंग से विचार करना भी लाभप्रद होगा ।

पहले हम नये कवियों की बात सुनें—उनका कहना यह है कि हमारा जीवन—क्रम बदल गया है अतएव काव्य स्वरूप का बदलना भी आवश्यक है। एक दृष्टि से यह बात ठीक है। हमारा जीवन-क्रम बीसवीं सदी के प्रवकाश में निश्चित रूप से बदल गया है किंतु यह परिवर्तन किस रूप में आया हुआ है, इसकी विशेषताएँ निश्चित रूप से कौनसी हैं, इन बातों पर नये कवियों ने ध्यान नहीं दिया। परिवर्तन यदि निर्दिष्ट रूप में हो और विशिष्ट भी तब ही वह (परिवर्तन) काव्य-स्वरूप पर प्रभाव डाल सकता है अन्यथा नहीं। आज की नई कविता इस परिवर्तन को प्रतिबिम्बित न करके केवल पाश्चात्य नयी कविता की अनुकरणमात्र हो रही है, इसका भाव पक्ष अस्तित्ववाद जैसे पाश्चात्य दर्शनों से प्रभावित हो रहा है और कलापक्ष के लिए इलियट, ओडेन, स्पेंडर, रिलके आदि कवियों का काव्य प्रयोग ही मोडल हो रहा है। फ्रॉयड, मार्क्स, जुंग, डार्विन इनका प्रभाव आज के नये कवियों के लिए नये वेद हैं, चूंकि ये ही नये ऋषि यूरोप में नयी चेतना के नियामक हैं। इस नयी चेतना के तत्व भारतीय सुशिक्षित लोगों के वातावरण में मात्र प्राप्त होते हैं। अतएव यह सोचना आवश्यक है कि किस हद तक हमारी नयी कविता हमारे बदले हुए जीवन क्रम को काव्य में अभिव्यक्त कर रही है ।

जो कवि नयी कविता लिख रहे हैं वे राहों के अन्वेषी नहीं हैं; उनकी राह एक ही है और निश्चित है, वह राह अनुकरण की है। आज का नया कवि पाश्चात्य काव्य को मानता है, उसके सामने सर झुकाता है। उसका कारण यही है कि आज का कवि सुशिक्षित है और अपने देश में विदेशी हो गया है। वह हमारे रूढ़िगत समाज के पुरुषार्थों पर विश्वास नहीं रखता है; उसको देश के स्वातन्त्र्योत्तर भवितव्य का कुतूहल नहीं है और हमारे देश की नयी योजनाओं पर कोई भी कवि कविता लिखे वह प्रचारात्मक बनती है; इसका कारण कवि आज देश पर विश्वास खो बैठा है, हमारी संस्कृति उसको संस्कृति नहीं लगती ।

– आज की नयी कविता निश्चित रूप से हमारे सामान्य जीवन केन्द्र से दूर चली जा रही है। आज के सुशिक्षितों की बौद्धिकता की चतुःसीमाओं में वह पल रही है। हमारे

देश में पहले से ही बहुत सी 'कौम' हैं उनमें और दो कौम नये से आगये हैं; एक सुशिक्षितों की और दूसरी अशिक्षितों की। लोकतन्त्र में इन दोनों का अन्तर स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ता है। इन दोनों जातियों के रहन-सहन, जीवन के मूल्य, श्रद्धा, सांस्कृतिक स्तर सम्पूर्ण रूप से भिन्न-भिन्न हैं। भारत में ऐसा भी एक जमाना था जब अशिक्षित लोग भी महान् कलाकार हो सकते थे—हमारे सन्त कवियों की परम्परा इसका महान् उदाहरण हैं; कबीर काशी के जुलाहा थे। मगर आज ललित कलाएँ केवल सुशिक्षितों की बपौती बन गयी हैं। पाश्चात्य देशों के नये-नये मोडल्स् को आँखों के सामने रखकर कला का निर्माण करते हैं, उनकी चित्रकला पिकेसो की आकृतियों से भरी हुई हैं; उनके संगीत में पॉल रोबसन की धुनें सुनाई पड़ती हैं; हमारे शिल्पकारों के हाथों पर एप्सटेन का आशीर्वाद है और कविता पर इलियट का भूत सवार है। इसलिए भारतीय कलाओं के पीछे एक जड़ रहित जागतिक चेतना है और यह जागतिक-चेतना हमारी प्रादेशिक-चेतना से किसी रूप में भी सम्बद्ध नहीं है।

अब अशिक्षित लोगों की कला की भूख मिटाने के लिए कई मार्ग हैं। देहातियों के लिए रामलीला जैसे लोक नाटक और उत्सवों और लोकनृत्य जैसी लोक कलायें हैं। मगर अब वे पहले के समाज जीवन का अंग नहीं रह गये। शहरों में जो शिक्षित व अर्द्धशिक्षित लोग हैं उनके लिए सिनेमा, नाटक कम्पनी, विभिन्न सस्ती पत्रिकायें व कवि-सम्मेलन हैं। इस प्रकार हमारे देश में विभिन्न प्रकार के ये लोग चेतना के भिन्न-भिन्न स्तरों पर जीते हैं। इस प्रकार हमारे पास वह सर्वांग साहित्य नहीं है जो लोगों के जीवन के महत्त्व का उद्घाटन करते हुए सार्वजनिक रूप से जन समुदाय की कलात्मक भूख को परितृप्त कर सके।

हमारे काव्य में जो नयापन आया है उसका कारण हमेशा यही बताया जाता है—जीवन का नयापन। निर्विवाद रूप से हमारा जीवन-क्रम बदल गया है। नयी सामाजिक और आर्थिक व्यवस्थाओं के कारण हमारे जीवन में नयी समस्या पैदा हुई है और हमारे जन जीवन के मानस में अपूर्व परिवर्तन हो रहा है। पहले जो बताया गया वह नया जाति-निर्माण पुरानी वर्ण-व्यवस्था की विषमताओं को बढ़ा रहा है। ब्राह्मण, कायस्थ और शूद्र—सुशिक्षित ब्राह्मण, सुशिक्षित कायस्थ और सुशिक्षित शूद्र—इनके स्नेह भाव को तो छोड़ो, उनकी चेतनायें भी समान स्तर पर नहीं हैं। सुशिक्षित लोग जातीय विषमताओं

पर अधिक रंग चढ़ाकर कुटिल नीति का खेल खेल रहे हैं। पुरानी पीढ़ी से नयी पीढ़ी तक, सुशिक्षित लोगों से अशिक्षित लोगों तक संवेदनायें (Sensibilities) बदल गयी हैं—सुसंस्कृत ब्राह्मण परिवार का एक लड़का जो नित्यकर्म करता है, लम्बी चोटी रखता है और त्रिपुण्ड धारण करता है वह कितना भी सुन्दर हो; आज की एक अर्द्धशिक्षित लड़की उसको पसन्द नही करेगी। इसका कारण एक ही है कि यौन आकर्षण का क्षेत्र बदल गया है और यौन आकर्षण एक प्रबल संवेदना (Sensibility) है ऐसी कई बातें हैं जो इन परिवर्तनों के गवाह हो सकते हैं।

परन्तु समस्या यह है कि हमारा काव्य किस हद तक इन परिवर्तनों को प्रतिबिम्बित कर रहा है। काव्य में बदली हुई चेतना व जीवन में बदली हुई चेतना—दोनों अलग-अलग हैं। कवि ने जो पाया है, देखा है और अनुभव किया है उन सबको काव्य में लाना ही चाहिए, ऐसा कोई नियम नहीं है। जीवनक्रम के पीछे जो सिद्धान्त रहता है उसकी गहराई में जो चेतना रहती है उस पर कवि की आंखें लगी हुई रहती है। जीवन के विस्तार (Details) केवल काव्य के प्रतीक मात्र बन सकते हैं; पर हमारी नयी कविता श्रेष्ठता की ऐसी मामूली आवश्यकता को भी पूरी नहीं कर पायी। कारण स्पष्ट है, आजकल के कवि सुशिक्षित हैं। बीसवीं सदी में भारत का सुशिक्षित मनुष्य ही भारत के निजी जीवन क्रम से दूर-दूर चला जा रहा है। आम जनता के और उसके बौद्धिक स्तरों में काफी अन्तर है। भारत की पुरानी संस्कृति या भविष्य के कौतूहल, इन बातों पर उसकी श्रद्धा नहीं है। उसको स्वयं की जाति पर अविश्वास होने के कारण जाति के विशिष्ट भाव-समुदाय उसके पास नहीं हैं जैसे कि एक कर्मनिरत ब्राह्मण या युद्धप्रिय राजपूत के पास उसकी जाति की भावनिष्ठता रहती है और पाश्चात्य लोगों जैसे वे किसी राजनीतिक दल के सदस्य नहीं हैं, यदि वे होते भी हैं तो उनमें वह भावानिष्ठता नही पायी जाती। इसके कारण आधुनिक कवि आत्मनिष्ठ बनता है और उसकी आत्मनिष्ठता इतनी उत्कट होती है कि कवि के लिए भावावेश (Sentimentality) एक खतरा (Danger) बन जाता है।

अब हम नयी कविता की समस्या को और भी स्पष्ट रूप से देख सकते हैं। आधुनिक कवि निश्चित रूप से दो चेतनाओं के संघर्ष में फंस गया है—एक चेतना वह है जिसको हम प्रादेशिक चेतना कह सकते हैं और दूसरी है जागतिक (World

Consciousness) चेतना। हमारा कवि पहली चेतना से भावात्मक-सम्बन्ध रखता है; वह प्रादेशिक चेतना में पैदा होता है पलता है, रागद्वेष में लिपट जाता है। उसके व्यक्तित्व की जड़ें उसके देश, भाषा, समाज की गहराई में उतरी हुई हैं; उसके स्नेह-प्रणय आदि स्थायीभाव इसी चेतना के फलस्वरूप हैं। दूसरी ओर शिक्षण और संस्कार के फलस्वरूप उसने एक जागतिक चेतना (World Consciousness) को भी अपना लिया है—यह चेतना अधिकतर बौद्धिक है, उसमें विशालता जरूर है मगर गहराई नहीं है। किसी चीज के साथ भावात्मक सम्बन्ध के बिना हमारी चेतना गहरी नहीं होती। कवि की ये दोनों 'चेतना' बिल्कुल अलग-अलग हैं; दूसरी चेतना पहली चेतना से विकसित नहीं हुई है। इन दोनों 'चेतना' को काव्य में स्थान देना ही नयी कविता की प्रतिज्ञा है। इसका कारण स्पष्ट है। केवल प्रादेशिक चेतना ही काव्य का आधार बने तो वह काव्य केवल लोकगीत बन जायेगा और दूसरी चेतना बौद्धिक होने के कारण वही, काव्य का एक मात्र आधार नहीं बन सकती! दूसरे शब्दों में जागतिक चेतना के लिए भावात्मक प्रतिरूप (Emotional equivalents) हमारे जीवन में नहीं हैं। हमारे देश में आधुनिकता केवल दिखावा मात्र है, चेतना को आधार बनाकर नया जीवन निर्माण अभी होने वाला है। यह जागतिक चेतना केवल अमूर्त विचार है।

इन दोनों चेतनाओं के बीच में जो विसंगति है वही नयी कविता के रूप विधान का कारण है। एक दृष्टि से सर्वांगीण रूप का काव्य-निर्माण ही नयी कविता की प्रतिज्ञा है। बुद्धि और भावना का सामंजस्य ही नयी कविता की आत्मा है—मगर इस बात को काव्य की अभिव्यञ्जना में उतारना मुश्किल काम है। बौद्धिकता जन्मजात न होकर जब शैक्षणिक हो जाती है तब तो यह बात पूरी की पूरी असम्भव है। नयी कविता में जो बौद्धिकता दिखाई पड़ती है, वह शुद्ध रूप से शैक्षणिक ही है। आजकल समाचारों के रूप में ज्ञान बहुत सस्ता मिलता है, उसको कविता में भर देने से कविता नयी होगी, मगर कविता नहीं होगी। मनोविज्ञान के रहस्यों को, वैज्ञानिक आश्चर्यों को या राजनीतिक विवरणों को वाचक के कानों में चुपचाप कहकर उसके मूकविस्मित अज्ञान पर हंसने वाले कवि आजकल बहुत हो गये हैं। मगर यह बौद्धिकता का दुरुपयोग है। बौद्धिकता जब कवि का अन्तसतत्व बन जाती है तभी कविता सशक्त होगी। कविता में बौद्धिकता का उपयोग करने का ढंग अलग ही है। बौद्धिकता का उपयोग-अनुभूत को

रूपनिर्माण की दृष्टि से जांच करने की वस्तुनिष्ठा, अभिव्यंजना में उचित भाषा का प्रयोग करने की शब्दनिष्ठा अभिव्यंजना की सम्पूर्णता में बहुविध अर्थों को प्रकाशित करने की अर्थनिष्ठा, में होना चाहिए। छायावादी कविता कल्पनानिष्ठ थी और नयी कविता बुद्धिनिष्ठ है—ऐसा कहने से कुछ नहीं होगा। कल्पना कविता का सृजनशील तत्व है उसके बिना छायावादी कविता ही क्यों नयी कविता भी जन्म नहीं ले सकती।

बौद्धिकता काव्यत्व को सुरक्षित रखने के लिए एक आवश्यक चीज हैं, उसके बिना छायावादी कविता भी स्वप्निल और धूमिल हो जायगी। कहने का तात्पर्य यही है कि दोनों अलग-अलग तत्व हैं और उनका कार्य भी अलग-अलग। छायावादी कवियों में जयशंकर प्रसाद जैसे बुद्धिनिष्ठ कवि थे और नयी पीढ़ी में अज्ञेय जैसे कल्पनाशील कवि भी कोई नहीं। काव्य में बौद्धिकता की आवश्यकता आज जरूरत से ज्यादा है; पहले भाव-सम्बन्ध सबल होने के कारण शब्दार्थों में विच्छेद नहीं आया था। शब्द का अभिधार्थ सजीव रहकर व्यन्यर्थों को प्रकाशित करने में समर्थ था। आज हम जीवन के मूल्यों पर विश्वास खो बैठे हैं इसलिए शब्द अर्थ की पूर्ववासना के बल से चलते-फिरते प्रेत बन गये हैं। कवि केवल बौद्धिकता के बल से उस अर्थ पूर्णता को फिर से ला सकता है, इस अर्थ में नयी कविता बुद्धिनिष्ठ है और होनी चाहिए। काव्य की आत्मा हमेशा भाव ही है।

प्रयोगवादी साहित्यिक से साधारणतः उस व्यक्ति का बोध होता है, जिसकी रचना में कोई तात्त्विक अनुभूति कोई स्वाभाविक क्रमविकास या कोई अनिश्चित व्यक्तित्व न हो। वास्तविक सृजन और क्रांतदर्शिता के बदले सामान्य मनोरंजन और शैली—प्रसाधन ही उसकी विशेषता होती है। अधिकार और उत्तरदायित्व की अपेक्षा अनिश्चय और उद्देश्यहीनता की भावना ही वह उत्पन्न करता है। स्रष्टा और सन्देशवाहक न होकर वह प्रणेता और प्रवक्त मात्र होता है।

— आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी
(आधुनिक साहित्य)

श्रीराम तिवारी

●

समकालीन साहित्य बोध

समलेखन नितान्ततः एक नया साहित्य बोध है ।

नवलेखन के बाद समलेखन यानी 'नये' की वास्तविक शुरुआत के लेखन का

वह वृत्त, जिसके भीतर आज का कृति-साहित्य रूपायित और विकसित हो उठा है। लेखन की एक समग्र संदर्भयुक्त दृष्टि की आवश्यकता ने समलेखन का आधार प्रस्तुत किया है। साहित्य में नये आन्दोलन का घोषणापत्र हमेशा एक नाम को लेकर चलता है, जो नाम अनायास एक नई वस्तु-स्थिति के लिये उसमें प्रयुक्त होता है। एक बार प्रयोग में आ जाने पर वह नाम यथार्थ के नये स्तरों को स्पष्ट करने लगता है और अपने मूल्यों को गठित करता है। समलेखन नाम सृजन की उस विशुद्ध दिशा को मिल गया है जिसने अपने को '६० के बाद अलग किया है और स्थापित किया है। भाव-बोध और भाषा दोनों में एक स्पष्ट मोड़, एक ताजा और मौलिक आघात इस काल की रचनाओं में बिम्बित हुआ है। इससे यह धारणा पुष्ट हुई है कि हमारे साहित्य में लेखन के एक पहले से भिन्न स्वतन्त्र विवेक का निर्माण (जो अप्रत्याशित नहीं था) '६० के बाद की कृतियों से हो गया है। उसको पहचानने और अलग करने का दायित्व इनमें से हर किसी का है जो लेखन के प्रति कोई ईमानदारी रखते हैं। समलेखन नाम से इस कार्य में सुविधा है क्योंकि यह नाम एक ऐसे मूल्य-स्तर की ओर संकेत करता है जो हमेशा हर युग के साहित्य में बना करता है और युग की महान्, कालसिद्ध रचनाएं उस स्तर पर प्रतिष्ठित और सिद्ध होती हैं। समसामयिक लेखन के मूल-संस्कार का नाम समलेखन है। यहां मूल-संस्कार से तात्पर्य उस शुद्ध तत्त्व से है जिससे साहित्य की नई शक्ति, निर्वाह और प्राणवत्ता तथा प्रमुख रुचि का पता चलता है। समसामयिक लेखन द्वारा अगर नई लेखन-क्षमता और शक्ति और प्राणधारा तथा एक प्रमुख रुचि का प्रवर्त्तन हो रहा है, तो उसकी ओर इंगित करना समलेखन के नये आन्दोलन और घोषणापत्र में मानी रखता है।

चरम संवेदना बनाम संक्षिप्त संवेदना— लेखन हमेशा दूसरी कोटि की वास्तविकता और प्रतीक तथा बिम्ब पद्धति है। पहली कोटि की वास्तविकता प्रतीक और बिम्ब जीवन में, मन में या वातावरण में वस्तुओं, लोगों, स्थितियों के भूले— बिखरे स्वरूप में होते हैं। यही लेखन के साथ जीवन के, हृदय के, परिवेश के सापेक्ष सम्बन्ध का सूत्र है। जीवन-बोध में कुछ युगीन सापेक्ष संवेदनाएँ होती हैं और कुछ चिर और चरम जिनके विवेचन बदलते रहते हैं और इन्हीं के बदले 'ट्रीटमेंट' से बदले भाव-बोध का पता चलता है। जो लेखन जीवन की चरम संवेदनाओं प्यार, घृणा, आसक्ति, विकर्षण, करुणा, दुःख, सुख, क्रिया, नैतिकता को उद्घाटित करता है वही साहित्य के स्थायी कोष में संचित होता

है। मात्र सापेक्ष संवेदनाओं को साहित्य का उपजीव्य बनाना एक तात्कालिक साहित्यिक आवश्यकता है, तात्कालिक जीवन और परिवेश को समझने के लिए उनका आकलन जरूरी होता है। लेखन के ये ही दो मूल्य होते हैं। समलेखन नाम द्वारा संकेतित लेखन में हमेशा सापेक्ष संवेदनाओं के बीच से कुछ चरम संवेदनाएँ, छवियाँ उभर आती हैं। जैसे भक्तियुग में विनय और भक्ति चरम संवेदना बन गई, रीतियुग में शृंगार चरम संवेदना तक उठ गया। हमारे साहित्य में '६० के बाद के सृजन में ऐसा बिल्कुल साफ आधुनिक साहित्य के इतिहास में पहली बार हुआ है कि सापेक्ष आधुनिक संवेदनाएँ सघन और विश्लेषित होकर चरम संवेदना के स्तर पर पहुँच रही हैं। प्यार, घृणा, क्रिया, अकेलेपन, नवोन्मेष आदि के आधुनिक मूल्यों और आयामों का '६० के आस-पास और बाद की समकालीन कृतियों से बारीक और पवित्र विश्लेषण हुआ है। प्यार और घृणा जैसी सापेक्ष संवेदनाओं को समान रूप से हमारे साहित्य में समादर मिला है। आधुनिक जीवन के मूल तत्त्वों और संवेगों तथा वस्तुओं, स्थितियों से लगाव और असम्पृक्तता की 'इनटेन्स फीलिंग' को नई साफ सीधी भाषा में प्रस्तुत करने की क्षमता और मूल्य-बोध का विकास समलेखन की विशुद्ध नई रचना-दिशा का संकेत है। कम से कम रोमैंटिकता द्वारा भाव बोध और भाषा में सघन संवेगों, अनुभूतियों को नकारे कर नए प्रकार के अर्थ-सौन्दर्य का उद्घाटन समलेखन के वृत्त में आनेवाली रचनाओं की विशेषता है। आधुनिक साहित्य का परिवेश गहन सामान्य अनुभूतियों को साफगोई सीधी भाषा में प्रस्तुत करने और विश्लेषित करने से बना है और इस परिवेश का समाहार हमारे साहित्य में प्रथमतः सम-समलेखन की चेतना में हुआ है। अतः समलेखन समकालीन कृतियों की उस विशुद्ध दिशा का नाम है जिसके द्वारा आज के जीवन की तिक्त सामान्य सवेदनाएं साहित्य की चरम संवेदना के रूप में परिणत हो रही हैं। विचार और क्रिया के विभेद से उत्पन्न भावात्मक संकट की स्थिति एक सापेक्ष संवेदना की स्थिति है जिसकी समलेखन सम्मत रचनाओं में इतनी साफ सुथरी विवृत्ति हुई है या हो रही है कि आज के जीवन-बोध में अपने अनेक संदर्भों और आयामों में व्यक्त इस संवेदना को चरम संवेदना का स्तर मिल गया है। भावात्मक संकट और दायित्व की संवेदना से परिचालित साहित्यिक लेखन हमारे साहित्य का कालसिद्ध स्थायी मूल्यवान लेखन हो गया है। दूसरी साहित्य-धाराओं में ठीक यही बात हेमिंग्वे, कामू, फाकनर, सोलोखोव, पास्तरनाक, चेखव, सार्त्र, दास्तावस्की, इसलिये,

मेलर, टामस मैन, मैनहिम, कापका, स्टेन्डर, कॉलिन विलसन, शाम् डेजाई, टिबोरी डेरी, ग्रडेन, ग्रार्थर कोएस्टलर ग्रादि के लेखन में घटित हुई है। इस प्रकार विश्वलेखन के ग्राधार पर ग्राज की व्यापक मानवीय स्थिति को ग्रात्मसात करने ग्रौर व्यक्त करने के लिये समलेखन का सापेक्ष संवेदनाग्रों का धरातल हमारे साहित्य में उभरा है। हमारे साहित्य के नवलेखन में नये क्षण बोध, मानव बोध, सौन्दर्य बोध, यथार्थ बोध, भाव बोध, ग्रौर बिम्ब धर्मी संवेगों की चर्चा हुई पर उसके द्वारा ग्राधुनिक लेखन की किसी स्वतंत्र भिन्न निजी 'सेन्सिबिलिटी' का पता नहीं चला। ग्राधुनिकता की मूल प्रकृति ग्रौर ग्रात्मा जो ग्राज समस्त विश्व में साहित्य-बोध की मूल प्रकृति, उसकी ग्रात्मा ग्रौर प्रमुख रुचि है उसका प्रवर्त्तन समलेखन में ही ग्राकर हुग्रा है। समलेखन ग्राधुनिकता के संदर्भ में समकालीनता ग्रर्थात् समकालीन दायित्व को एक नई मूल दृष्टि देता है— समकालीनता हमारे भावात्मक दायित्वों के निरूपित ग्रौर सिद्ध होने का नया दायरा है।

व्यक्ति का लेखन नहीं, व्यक्तित्व का — '६० के बाद समलेखन का धरातल व्यक्तित्व के लेखन का है, व्यक्तिवादी या लघुमानववादी या क्षणवादी वैयक्तिक कुंठावाद से यह लेखन परिचालित नहीं है। इसमें उन संवेदनाग्रों, रागों, ग्रनुभवों, संवेगों की ग्रभिव्यक्ति हो रही है जिससे ग्राधुनिक मनुष्य का व्यक्तित्व बनता है या बना है। इस ग्रर्थ में समलेखन सीधे व्यक्तित्व की ग्रभिव्यक्ति का लेखन है यानी एक व्यक्ति के रूप में हम जिन संवेगों, ग्रनुभवों, परिवेशों को झेलते हैं, जिनसे हमारा व्यक्तित्व बनता है जो हमारे भीतर क्रिया को उत्प्रेरित करते हैं— वे ही ग्राज के समलेखन के साहित्य में ग्रभिव्यक्ति पा रहे हैं। समान रूप से ग्राज के ग्रनुभव में ग्राने वाले विचार ग्रौर संवेग इस प्रकार से समकालीन कृतित्व में प्रतिबिम्बित हैं कि साफ साफ उनके भिन्न धरातल ग्रौर स्वतंत्र भाव-बोध का पता चल जाता है। ग्राज के जीवन-बिम्ब, विचार तथा संवेग ग्रौसत समष्टि के मस्तिष्क में हैं— जीवन की व्यस्तता ग्रौर भागदौड़ की संवेदनाएँ हम सभी कार्यजीवी लोग भोगते हैं जिनकी ग्रभिव्यक्ति समलेखन' में हो रही है। हमारा व्यक्तित्व इससे ग्रधिक ग्रौर कुछ नहीं रह गया है कि हम ग्रपने चारों ग्रोर की ग्रासन्न भौतिक, ग्रार्थिक, नैतिक परिस्थितियों को स्वीकारें ग्रौर भोगें, उसे ठीक करने की कोशिश करें ग्रौर उसकी ग्रभिव्यक्ति करें— व्यक्तित्व में सत्यात्मकता का प्रश्न कुछ दिनों के लिए जब तक स्थिति साफ नहीं हो जाती, स्थगित है। इस प्रकार ग्राधुनिक मनुष्य

के व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति समलेखन है— समकालीनता के दायित्व की यही तत्कालीन मांग है कि हम अपने तत्कालीन जीवन और परिवेश और व्यक्तित्व-बोध की बनावट को साहित्य में अभिव्यक्त करें। समलेखन इसी मांग को लेकर हमारे साहित्य में उभरा है। समलेखन यानी समान लेखन, सेन्सिबिलिटी की एक समान पकड़ द्वारा आधुनिक मनुष्य के संक्रमण को सही और ईमानदार कलात्मक अभिव्यक्ति कविता, कहानी, उपन्यास और अन्य नये साहित्य रूपों में हमारे साहित्य में हो रही है। इसी अभिव्यक्ति से, समकालीन सृजन के समान आधुनिक भाव-बोध से समलेखन की शुद्ध नई रचना-दिशा का पता चलता है।

युद्ध-साहित्य और समलेखन— समलेखन के अन्तर्गत समकालीनता का दायित्व एकमात्र प्रमुख प्रेरक तत्त्व है। चीनी आक्रमण से उत्पन्न राष्ट्रीय संकट से जिस साहित्य-रचना का समकालीन दायित्व हमारे ऊपर आ पड़ा है तथा इस दायित्व-बोध से जो स्थायी महत्व की स्वस्थ कृतियां लिखी जा रही हैं या लिखी गई हैं वे समलेखन की सही मूल्य-चेतना और भावात्मक चेतना का परिचय देती हैं। समलेखन को समसामयिकता के दायित्व का लेखन मानकर उसे एक स्वतंत्र साहित्य-बोध के रूप में अलग करने की आवश्यकता हमारे साहित्य में कर्म और प्रेरणा और जीवन-तत्त्व, निर्माण तत्त्व पैदा करने वाले समकालीन युद्ध-साहित्य यानी भावात्मक और राष्ट्रीय संकट के नये मूल्यों और सम्बन्धों और प्रवृत्तियों के साहित्य के अचानक उभर आने के कारण भी है। एक समान स्वतंत्र सेन्सिबिलिटी और रुचि का निर्माण समलेखन की आवश्यक शर्त है— हमारे साहित्य में आज युद्ध-साहित्य के सृजन की आवश्यकता उस स्वतंत्र सेन्सिबिलिटी के निर्माण का आधार प्रस्तुत करने की उपयुक्त प्रेरणा और अवसर देती है (युद्ध से ही एक समान भावना और मूल्यों के वास्तविक संकट, उद्वेलन का पता चलता है) जिससे हमारा समकालीन लेखन परिचालित हो और एक स्थायी युद्ध और राष्ट्रीय साहित्य को रूपायित कर सके। समलेखन इस समकालीन दायित्व के परिणामस्वरूप भी युद्ध-साहित्य तैयार करने का एक नया मूल्य और साहित्यिक आन्दोलन है जिसके द्वारा उस समान सेन्सिबिलिटी और साहित्य-रुचि का निर्माण होगा जिससे एक स्वस्थ और संयत युद्ध-साहित्य प्रस्तुत किया जा सके— समकालीन लेखकों को युद्ध के समय के वास्तविक 'क्रिया-के-जीवन' को भोगने का अवसर मिला है।

समलेखन और नये साहित्य-रूप समकालीन लेखक, साहित्यिक समस्याएं, चिन्तन-पद्धतियां, दृष्टियां— समलेखन द्वारा लेखन और विचारों की एक ठोस वास्तविकता सामने आ रही है। असली साहित्यिक समस्याओं के बीच जीने की आदत समलेखन के साहित्य-बोध से पड़ रही है। कोई भी साहित्य उभरता नहीं जब तक साहित्यिक समस्याओं के बीच जीने की आदत लेखकों और पाठकों की नहीं पड़ती। इस आदत द्वारा साहित्य में समाजशास्त्रीय भावों और मूल्यों का पहली बार प्रवेश हो रहा है। समष्टिमूलकता (समष्टिगत जीवन और अनुभव) और लोक तत्त्व, ग्लीस ऑफ द कमन प्लेस, सामान्य का सौन्दर्य उल्लास समलेखन के आन्दोलन का तत्त्व है। नई आंचलिकता, शहरी और स्लम तथा अर्द्धग्रामीण या अर्द्धशहरी आंचलिकता जो नागार्जुन, राजेन्द्र अवस्थी, शैलेश मटियानी तथा अमृतलाल नागर, सत्यदेव, शांतिप्रिय, शिवप्रसादसिंह, लक्ष्मीनारायणलाल, बनारसी प्रसाद भोजपुरी, रेणु, शिवपूजन सहाय, ठाकुरप्रसादसिंह आदि में मुखर है; नये गीतों का रवीन्द्र भ्रमर, केदारनाथ सिंह, नरेश सकसेना, बच्चन, रामदरश मिश्र, महेन्द्रशंकर, वीरेन्द्र मिश्र, रामनरेश पाठक, केदारनाथ अग्रवाल, त्रिलोचन शास्त्री, मनमोहिनी कांत आदि का ताजा और मौलिक लोक रोमानीपन; सार्थक संदर्भों, वास्तविक अनुभवों के समकालीन काव्य-बोध की नई कृति कविता और समकालीन जीवन की कंक्रीट स्थितियों और एब्सट्रैक्ट बोधों की प्रबोध कुमार जितेन्द्र, रामनारायण शुक्ल, प्रयाग शुक्ल, विजय चौहान, मनहर चौहान, दूधनाथसिंह, वीरेन्द्र, विजयमोहनसिंह की कहानियां— ये सब समलेखन के एक समान साहित्य-बोध के विभिन्न संदर्भों के प्रतिरूप हैं। औपन्यासिक मानों की नई गद्य-समीक्षा जिसे नामवरसिंह जैसे वरेण्य समीक्षकों ने उपार्जित किया है और देवीशंकर अवस्थी ने पुष्ट किया है समलेखन के साहित्यिक बोध के अन्तर्गत ही आती है। आज तक हिन्दी की समीक्षा कविता के मानों और दृष्टिकोणों तथा मूल्यों से होती आई है— समलेखन की समीक्षा में पहली बार गद्य-लेखन, कहानी, उपन्यास, रिपोर्ताज आदि की कसौटियों और मानों पर समीक्षा आधारित हो रही है। नई कृति कविता में बिम्ब घट रहे हैं और प्रतीक बढ़ रहे हैं यह काव्य-स्थिति समलेखन के अन्तर्गत व्याप्त साहित्यिक समस्याओं और विचारों की परिधि के भीतर की है। हिन्दी समीक्षा में रुचि का जो सवाल पैदा हुआ है— रुचि के सवाल के अन्तर्गत इतिहास के मूल्यांकन और नई रुचियों के विकास के आधार पर समीक्षा के

मानदंडों के ग्रहण की बुनियादी बातें समलेखन की साहित्यिक समझ की देन हैं। समलेखन के आंदोलन की शुरुआत अनायास अनेक काव्य और साहित्य-संकलनों, 'कृति', 'कल्पना' जैसे पत्रों के माध्यम से ६०' के आसपास और उसके बाद हुई है जिससे एकबारगी नई काव्य और साहित्य संभावनाएं, प्रतिभाएं और साहित्य-रूप उभर आये हैं। खुशमिजाज और टटकी बातों, सम्बन्धों और संवेगों तथा नये जीनियस के विचारों, अध्ययनों से आप्यायित रमेश कुन्तल मेघ, श्री कांत वर्मा, लक्ष्मीचन्द्र जैन, अक्ष्योत्रेश्वरी प्रताप, प्रभाकर माचवे, राजेन्द्र यादव, मार्कण्डेय, महेन्द्र कुलश्रेष्ठ, मोहन राकेश, डा० देवराज, धर्मवीर भारती, अमृतराय जैसे लेखकों की विचार रिपोटिंग और प्रभाव-लेखन का नया रूप; जरनल की शैली में लिखी विजयमोहनसिंह, वीरेन्द्रकुमारसिंह, रघुवीर सहाय, महेन्द्र भल्ला, और प्रयाग शुक्ल की कहानियों का नया फॉर्म; कविताओं की रचना प्रक्रिया से सम्बंधित गजानन माधव मुक्तिबोध और शमशेर बहादुरसिंह के डायरी-अश; श्यामसुन्दर घोष, श्रीराम तिवारी, प्रभाकर मिश्र के 'फैन्टेसी' और रिपोर्ताज; शुकदेवसिंह, कमलेश, वीरेन्द्र-कुमारसिंह का डायरी-लेखन; मनमोहिनी कांत, वेदनन्दन सहाय और मधुकरसिंह की हिन्दी में नई गजलों रूबाइयां और त्रिपदियों आदि के प्रयोग; विद्यानिवास मिश्र, शिवप्रसाद-सिंह के गति प्रसन्न विचार-लेख; यशपाल, नलिनविलोचन शर्मा, शालिग्राम शुक्ल की 'जीवन-तत्त्व' उगाहनेवाली कहानियां और शालिग्राम शुक्ल के नये ढंग के अनुवाद प्रयोग; नर्मदेश्वर प्रसाद के अर्द्धविकसित बिम्बों तथा आदिवासी जीवन और आधुनिक सभ्यता के मिलेजुले तत्त्वों, संवेगों की कविताएं और कहानियां; रेसियल समस्याओं, युद्ध और मौत के आतंक पर लिखी गई निर्मल वर्मा की नवीनतम कहानियों का विश्व-स्तर का कैनवॉस; गंगाप्रसाद विमल और हरीश भादानी की प्रवाहवादी, विश्लेषणाक्षम अंगरेजी के लम्बे वाक्यों के उलझे 'सीनटेक्स' की आलोचना शैली; वीरेन्द्र कुमार जैन, रांगेय राघव, गजानन माधव मुक्तिबोध, सुरेन्द्राचार्य, राजेन्द्र प्रसाद सिंह, राजीव सक्सेना की वास्तविक काव्य-चेतना को व्यक्त करनेवाली लम्बी प्रगाढ़ कविताएं रामेश्वरनाथ तिवारी के वैयक्तिक निबन्ध— ये सब समलेखन के आधुनिक साहित्य-रूप हैं। पत्र पत्रिकाओं के हाल के विशेषांकों, घोषणाओं और कुछ नई प्रकाशित रचनाओं से जिससे आधुनिकता के पहलू स्पष्ट हुए हैं, समग्र समलेखन का स्तर हमारे सामने है अपने जीवित और जाग्रत साहित्यिक उन्मेष के साथ। नई मानव-मुक्ति की कामना और समूहमन के संक्रमण की

अभिव्यक्ति की सहेतुक उपयुक्तता और समीचीनता जिन नये आस्था के स्वरों, समूह में विश्वास और प्रणति-कामनाओं की मांग करती है, जिस नई आध्यात्मिक नैतिकता को उजागर करती है, जिन नये मानवीय मूल्यों को महिमान्वित करती है, जिन सांस्कृतिक और पौराणिक संवेगों, प्रतीकों और बिम्बों का उपयोग करना चाहती है उसकी घोषणा वीरेन्द्रकुमार जैन की नूतन सूर्योदयी कविता-धारा का वक्तव्य करता है, वह समलेखन के साहित्यिक आंदोलन का ही एक पत्र है । इस कविता धारा से भिन्न अनुभूति और परिवेश के घुले-मिले रूप को अभिव्यक्त करनेवाली बिम्बरुचि और साफ, स्फीत, सूक्ष्म, खुशमिजाज संवेदनाओं की कृति कविता (जैसे केदारनाथ सिंह, शमशेरबहादुर सिंह, धर्मवीर भारती, सर्वेश्वरदयाल, अज्ञेय, रमेश कुन्तल मेघ, श्रीराम तिवारी, विजय मोहन सिंह की कविताएं), लघुमानवी और क्षणजीवी भावनाओं के संस्कार से भिन्न वास्तविक को जीवन के भोगे गए पहलू के रूप में अभिव्यक्त करने वाली बिम्ब और प्रतीक रहित नई सार्थकता की कविताएं (आग्नेय और राजा दुबे की कविताएं उदाहरण हैं । , निश्चित रूप से समलेखन की साहित्यिक समझ की देन हैं । ये सब साहित्यिक लेखन के आधुनिक यथार्थ स्तर में हैं जो 'समलेखन' नाम के अन्तर्गत स्पष्ट हो रहे हैं । समलेखन के अन्तर्गत ही हिन्दी में पहली बार नये ओरियेन्टल अध्ययन 'एसथेटिक्स' तथा बिम्बों मूल्यों का नया मौलिक अध्ययन और चिन्तन क्रमशः नेमीचन्द्र शास्त्री, कपिलदेव पाण्डेय, रमेश कुन्तल मेघ, चन्द्र भूषण तिवारी, कुमार विमल; केदारनाथ सिंह, तथा श्रीराम तिवारी द्वारा हुआ है । इस प्रकार एक 'सेन्सिबिलिटी' समग्र दृष्टिकोण से बन्धे रहना समलेखन का नया साहित्य-बोध है ।

भाव और भाषा की समान सेन्सिबिलिटी को उपार्जित कर उसके अनुसार रचना का सृजन समलेखन है, आज के लेखन की यही उपर्युक्त विशेषता है, अनेक लेखक ऐसा कर चुके हैं या अपनी कृतियों के माध्यम से उसे ग्रहण करने, ढूंढ़ने और उजागर करने की प्रक्रिया में हैं । बहुत से लेखक जब एक साथ एक समान लिखते हैं तभी लेखन की एक सेन्सिबिलिटी और रुचि बनती है, '६० के बाद ऐसा ही हुआ है और 'समलेखन' स्थापित हो गया है । अपने लेखन के साथ माडर्न सेन्सिबिलिटी को उपार्जित करने का प्रयोग समलेखन की साहित्यमर्यादा के आन्दोलन का अंग है । आधुनिक भावबोध को लेखन में स्वायत्त करना समलेखन का साहित्यिक लक्ष्य या मूल्य है । आधुनिक भावबोध

क्या है इसी को हमें अपनी साहित्य-रुचि और विश्व के साहित्यिक लेखन के आधार पर 'डिफाइन' करना है। आधुनिक भाव-बोध के निरूपित हो जाने पर साहित्यिक लेखन की अनेक भ्रांतियां और समस्याएं सुलझ जाती हैं और हमारे साहित्य की प्रमुख रुचि, टेस्ट क्या है इसका पता चल जाता है प्रमुख रुचि के आलोक में हमारे लेखन की नई बदली सेन्सिबिलिटी रचनाओं को एक समान कलात्मक और वैचारिक पूर्णता की धरती देगी— साहित्य की प्रमुख दिशा का साफ अन्दाज मिलेगा, उसमें एक आवश्यक सार्थक व्यवस्था आयेगी जो व्यवस्था पहले के हर युग के साहित्य की विशेषता है। समलेखन की यही प्रमुख कोशिश है, इसके प्रारम्भिक उन्मेष में इसी की ओर प्रवृत्ति है। समलेखन पहले-पहल यह सवाल पैदा करता है कि हमारे आधुनिक साहित्य का प्रमुख 'टेस्ट' क्या है या क्या हो और क्या रहा है ? आधुनिक साहित्य की क्या सीमाएं हैं और कौन-कौन से प्रमुख पहलू हैं जिसके आधार पर प्रेमचन्द, छायावाद से आधुनिक साहित्य का नया इतिहास प्रस्तुत किया जा सके और नई कुछ सर्वथा उपेक्षित और अपरिचित कृतियों को जो हर मानी में आधुनिक हैं सामने लाया जा सके। समकालीन रचनाओं के नये स्तर के निर्माण को जिसको हमने समलेखन कहा है यही सवाल अलग करके उसको बिल्कुल एक नये लेखन और 'समकालीन साहित्य-बोध' का स्तर प्रदान कर देता है। आधुनिक साहित्य के दायरे में आने वाले लेखक स्तरों और विवेक में कभी यह बात नहीं उठी कि हमारे साहित्य की प्रमुख रुचि, टेस्ट क्या है, उसके कौन-कौन से यथार्थ स्तर हैं, जिस पर हमारी जीवन और समाजगत वास्तविकताएं 'पोज्ड' और सिद्ध हुई हैं, उस रुचि को हम कैसे जन-सामान्य और पाठकवर्ग तक सम्प्रेषित करें। कैसे उस रुचि के विभिन्न आयामों और संदर्भों की कसौटी पर विभिन्न साहित्य-रूपों और कृतियों और प्रवृत्तियों का मूल्यांकन करें, पहले के साहित्य को परखने का साहस करें जिसका निरूपण शुक्ल जी आदि द्वारा एक ही मूड यानी रसवादी, लोक-संग्रह की शिवं और सुन्दरम् समीक्ष्य दृष्टि से कर दिया गया है और तब से आज तक 'सत्यं' की समीक्ष्य दृष्टि और वास्तविकता के प्रयोजनों (परपसेज ऑफ फाइडेलेटी) को अपनाने वाली कृतियों के मानदंडों की सर्वथा उपेक्षा होती रही है। समलेखन हमारे साहित्य के इन्हीं अब तक उपेक्षित अत्यन्त बुनियादी प्रश्नों को अपने कृति साहित्य के माध्यम से उठाता है। हर साहित्य का अपना एक 'टेस्ट' होता है (कृतियों द्वारा इस 'टेस्ट' का अवश्य पता चलना चाहिये), यह 'टेस्ट' बदलता है तभी साहित्य बदलता है (नवलेखन

के ग्रांदोलन द्वारा कहीं उस टेस्ट का पता नहीं चला) । पहले के तथा समकालीन साहित्य का मूल्यांकन उसके समकालीन भाव ग्रौर भाषा के टेस्ट के ग्राधार पर ही किया जा सकता है । समलेखन के ग्रन्तर्गत ग्रानेवाले साहित्य का प्रमुख 'टेस्ट' क्या है (यह पहले पहल स्पष्ट हो रहा है) इसी के निर्णय ग्रौर ग्राधार पर हमें समकालीन साहित्य ग्रौर पहले के साहित्य के सही, वास्तविक मूल्यांकन ग्रौर पुनर्मूल्यांकन की दृष्टि मिलती है । समलेखन के सामने कोई विशेष मान्यता ग्रौर विचार नहीं है । विचार हमें कहीं भी नहीं पहुँचाते वे मात्र होते हैं । समलेखन मात्र सृजन को ग्राधुनिक ढंग से 'ट्रीट' करने का एक बोध है जिससे हमारे साहित्य में ग्राधुनिकता का स्तर उभर रहा है ।

समकालीनता बनाम ग्राधुनिकता— सृजनात्मक ईमानदारी ग्रौर एकनिष्ठता की मानसिक संस्थिति को व्यक्त करने के लिये 'समकालीन का दायित्व' ग्रधिक उपयुक्त ग्रौर सार्थक शब्द है । यह ग्रकारण नहीं है कि समकालीनता नाम ग्राधुनिकता के वजन पर बनता है ग्रौर इसमें काल की ध्वनि ज्यादा प्रधान है । ग्राधुनिकता की चर्चा के ग्रन्तर्गत परम्परा ग्रौर प्रयोग तथा समसमायिकता के वैचारिक चक्कर से जो व्यापक ग्रस्पष्टता हमारे साहित्य में ग्राई है यहां उसका संदर्भ नहीं है । यहां सृजन की नवीन विशुद्ध दिशा ग्रौर विचारों में एक संदर्भयुक्त साहित्यिक उन्मेष को ग्राधुनिक रुचि से प्रतिष्ठित करना ग्राधुनिकता का लक्ष्य ग्रौर तात्पर्य है । रचना में ग्राधुनिकता का प्रारम्भ हमारे साहित्य में द्विवेदीयुग ग्रौर प्रेमचन्द के बाद से शुरू होता है, तब से लेकर ग्राज तक सृजनात्मक सेन्सिबिलिटी के चार स्तर उभरे हैं । हमारे साहित्य में ग्राधुनिकता या ग्राधुनिक संवेदन ग्रौर विचारों ग्रौर रुचि के पहलू इन्हीं विभिन्न धरातलों के इतिहास में स्पष्ट होते हैं । इसी कसौटी पर हम यह कहते हैं कि इस बीच हमारे साहित्य में जो कुछ लिखा गया है वह सब ग्राधुनिक नहीं है । जो रचनाएं ग्राधुनिकता के पत्तों से रहित हैं उनका ग्रलग महत्त्व है, उनमें हमारे क्लासिकल ग्रौर भावुकताजन्य संस्कार हैं। समकालीन बोध यह तय करता है कि ग्राधुनिकता के कौन-कौन से Aspects पहलू हैं जिनके ग्राधार पर हम ग्रपने वास्तविक ग्राधुनिक साहित्य का इतिहास प्रस्तुत करें । इस इतिहास में कितनी ही ऐसी रचनाएं हमारे सामने नये रुप में ग्रा जायेंगी जो पहले हमारे लिये महत्त्वपूर्ण नहीं थीं या ग्रपरिचित थीं । हो सकता है कि प्रेमचन्द की 'कफन' कहानी का ट्रीटमेंट' (कहानी में ट्रीटमेंट ही उसका 'फॉर्म' है जो उसे लोचदार

बनाता है) आधुनिक नहीं हो 'पूस की रात' या 'भूत' अधिक आधुनिक हों (संवेदना के चित्रण में निसंग लापरवाही की आधुनिक कथा का ट्रीटमेंट है)। ऐसा भी हो सकता है कि कुछ बिलकुल अविश्रुत लेखक आधुनिक हों और कुछ प्रतिष्ठित लेखक आधुनिक नहीं हों। इस प्रकार आधुनिक साहित्य का इतिहास प्रस्तुत करने में समलेखन द्वारा निर्धारित आधुनिकताओं के पहलुओं से निश्चित रूप से सहायता मिलने वाली है और इसके द्वारा अनेक उपेक्षित कृतियाँ उजागर होने वाली हैं, परम्परा का नया मूल्यांकन होने वाला है और मान्यताओं मूल्यों का सही परिप्रेक्ष्य में विश्लेषण होनेवाला है। इससे समलेखन द्वारा हमारे साहित्य के तात्कालिक और समसामयिक प्रश्नों को सही संदर्भ मिलने वाला है। साहित्य में सार्थक बातों और सार्थक संदर्भों के ग्रहण का विवेक निश्चित रूप से पहली बार समलेखन के आन्दोलन से प्रतिष्ठित हो रहा है। साहित्यिक मूल्यों को संरक्षित करने का विचार-धरातल पहली बार समलेखन के जागरूक विचार विनिमय में बन रहा है यह एक अत्यन्त शुभ लक्षण है। समकालीनता का बोध इन अनेक उपर्युक्त बातों का संदर्भ हमारे सामने रखता है। समकालीनता का बोध सृजन को उसकी आधुनिक सामयिक चेतना में स्थिर करता है और एक समान सेन्सिबिलिटी का निर्माण करने में सहायता प्रदान करता है। इस बोध के प्रति सजगता '६० के बाद की समकालीन रचनाओं के नये स्तर में परिलक्षित होती है।

आधुनिकता की प्रमुख रुचि ट्रीटमेंट की दृष्टि से 'बिखराव' है, चेतना और व्यक्तित्व का नहीं, रुचि का। ट्रीटमेंट ही सेन्सिबिलिटी की पहचान का असली धरातल है। वस्तुओं, व्यक्तियों और स्थितियों में कोई क्रम और व्यवस्था नहीं है वे जैसी बिखरी पड़ी हैं उसी में उनका नैसर्गिक सौन्दर्य है। आधुनिक कला और साहित्य-बोध इसी प्रकार के बिखराव से अर्थ पैदा करता है— वस्तुओं और स्थितियों के बाद हमारे सहज लगाव के बाद एक निस्संगता पैदा होती है, इस मानसिक निस्संगता में भूली हुई वस्तुओं, व्यक्तित्वों, स्थितियों, संवेदनाओं की यादें होती है जिनके संदर्भों के हू-बहू चित्रण से एक नया 'मीनिंग' पैदा हो जाता है। समकालीन कला और साहित्य बोध का आधुनिकता की इस प्रमुख रुचि से गहरा सम्बन्ध है। समकालीनता आधुनिकता की प्रमुख रुचि का मूल्य-बोध है। साहित्य में समकालीनता की दृष्टि द्वारा आधुनिकता की प्रमुख रुचि की रक्षा हो रही है। समकालीनता का यह दायित्व है कि वह आधुनिक भाव-बोध को

साहित्य में निर्मित करने की कोशिश करे और इस प्रकार साहित्य की प्रमुख रुचि के निर्माण में अपना महत्त्वपूर्ण योग दे। समकालीनता इसीलिए महत्त्वपूर्ण होती है कि उसके द्वारा सृजन को एक सार्थक मूल्य और प्रयोजन मिलता है जिसे समकालीन हर रचना और एक लेखक की हर कृति महसूस करती है और साहित्य में वास्तविक, यथार्थ का सन्निवेश होता है। वस्तुतः ऐसी आवश्यकता कभी नहीं होती कि समकालीनता के सृजन-मूल्य को अलग से या बाहर से आरोपित किया जाय— ऐसे एक मूल्य का आविर्भाव आधुनिकता के संदर्भ में स्वयं सोचने, अनुभव करने की सहज प्रक्रिया में हो जाता है। तत्वतः आज समकालीनता का बोध ही हमारे साहित्य में आधुनिकता के ग्रहण की शुरुआत है, साहित्य में वास्तविक 'नयापन' इस बोध से ही आया है। समकालीनता के बोध के परिणामस्वरूप ही हमारी चेतना में सृजन की एक समान स्वतंत्र सेन्सिबिलिटी संश्लिष्ट हुई है। इस बोध के कारण ही लेखन में सामान्य, कमन प्लेस वस्तुओं, व्यक्तित्वों और स्थितियों संवेदनाओं का विश्लेषण मिलता है— 'सामान्यता' में ही कहीं न कहीं वह 'असामान्यता', वह फीलिंग रहती है जिसका उद्घाटन कला और साहित्यिक लेखन की विशिष्टता है। सामान्य बातों, स्थितियों घटनाओं, व्यक्तित्वों संवेदनाओं के विश्लेषण से आधुनिक जीवन की लापरवाही, बिखराव, संक्रमण, निस्संगता, Chaos और असामान्य तथा विचार और क्रिया के भेद को उद्घाटित कर देना समकालीन लेखन के नये स्तर की अपनी निजी सेन्सिबिलिटी है जिसका पहले के लेखन में कोई संकेत नहीं मिलता। समकालीन लेखन अपने असम्बद्ध प्रभाव-संगठन और बिखरे सौन्दर्य चित्रण द्वारा बिल्कुल आधुनिक मनोवृत्ति अर्थात् आधुनिकता के पक्षों को सामने ला देता है समकालीन रचनाओं का प्रभाव 'लयात्मक' या 'काव्यात्मक' होता है वे अनेक संदर्भों को सजेस्ट' करती हैं। यह आधुनिक तथा सम्पूर्ण कला और साहित्य का सत्य है कि 'ऑल आर्ट कान्सटेंन्टली एसपायर्स टुवार्डस् द कनडिशन ऑफ म्युजिक' और इसे कोई अस्वीकार नहीं कर सकता कि आधुनिक जीवन के इन मानों, प्रवृत्तियों, मूल्यों, रुचियों का आविर्भाव आकस्मिक और मनमाना नहीं है। मनुष्य के हृदय के बिखरे प्रभावों, संवेगों, अनुभवों, विचारों, अनुभूतियों की भीतरी दुनिया आज की मशीनी, फारमॅल, अव्यवस्थित, मूल्यहीन, नियतिहीन बाहरी वास्तविकताओं, वस्तुओं, स्थितियों, मूल्यों, क्रियाओं की टकराहट और संक्रमण से माडर्न सेन्सिबिलिटी के रूप में उभर आई है, इसे ही आज की कला और साहित्य-बोध अपनी प्रमुख रुचि-मानकर तथा इससे एक पॉजिटिव, प्रयोजनपूर्ण,

क्रियात्मक जीवन तत्व को निर्मित करने का लक्ष्य बनाकर चल रहा है। यह आकस्मिक योजना या चमत्कार के परिणामस्वरूप नहीं आधुनिक जीवन और विचार की सहज ज्ञानोन्मेष प्रक्रियाओं के परिणामस्वरूप है। कला और साहित्य का यह भीतर की ओर देखने वाला युग है, यही आधुनिक भाव-बोध का आधार है जीवन और विचार और परिवेश को आंतरिक बनावट के भीतर वस्तुओं, जीवन-तत्वों, स्थितियों, व्यवस्थाओं की छिपी हुई समानता और लयात्मकता को बिम्बों के एकमात्र प्रारम्भिक माध्यम से ज्यों-का-त्यों ठोस रूप देना और संबंध बनाना आधुनिक भाव-बोध है जो साहित्य, कला, विज्ञान तीनों का लक्ष्य और प्रयोजन है। आधुनिक भाव-बोध से निर्मित समकालीन बोध में साहित्य और कला के सामाजिक वस्तुपरक प्रयोजनों की दृष्टि है। लोकरुचि और आवश्यकता के अनुसार साहित्य का सृजन, जीवन समाज और विचारगत 'रियलिज्म' के प्रति निष्ठा, रचना में स्फूर्तिप्रद उठी हुई जीवन्तता और ताजी प्रसन्नता की गंध और सामाजिक क्रिया, नैतिकता, प्रगति के निर्माण की आकांक्षा— मानवीय स्थिति के अनेक 'एसोशियेसन्स' और उनके अर्थापनों की प्रतीकों द्वारा व्यापक पकड़ समकालीन सृजन, समलेखन और आधुनिकता की सेन्सिबिलिटी का स्तर है जिसका अपने अनुसार निर्वाह आज के सजग समकालीन लेखक कर रहे हैं। बाहरी वास्तविकता को कोई भी लेखन कभी भी अस्वीकार नहीं कर सकता— उसी से 'सब्जेक्टिविटी' निर्मित होती है। साहित्यिक लेखन और पठन द्वारा अवकाश के क्षणों में बाहरी वास्तविकता और आंतरिक जीवन के बिम्बों के स्थायी रूप को जानने, समझने और अपनाने में ही तो हम रस लेते हैं और अपनी रुचि का साहित्यिक लेखन के पापुलर टेस्ट के साथ तादात्म्य करते हैं। लेखन का यही समाजशास्त्रीय महत्त्व और उपयोग है कि उससे हमारे साहित्यिक और पाठकीय रुचि और भाव-बोध का निर्माण होता है— यह रुचि आधुनिक श्रेष्ठ कृतियों और लेखकों को पढ़ने से ही हो सकता है। सामान्यता, चलते फिरते गतिमान जीवन के सौन्दर्य की पकड़ और व्यक्तित्व और रुचि का असामान्यता का निस्संग उद्घाटन विश्व साहित्य के आधुनिक भाव-बोध का धरातल है जिससे आज का पापुलर स्टेट बना है। आधुनिकता आज के इसी लोकप्रिय टेस्ट का ही नाम है। हमारे साहित्य में आधुनिक भाव-बोध का आवश्यक तत्त्व समकालीनता के मूल्य-बोध द्वारा ही आ रहा है जिसकी चरम परिणति 'समलेखन' है।

एक दशक :
दस कविता संग्रह

हरीश भादानी

कला और बूढ़ा चांद
चार खेमे चौसठ खूंटे
आंगन के पार द्वार
सात गीत वर्ष
प्राणगीत
माध्यम मैं
ओ अप्रस्तुत मन
लेखनी वेला
नाव के पांव
अंगना फूले कचनार

समय के अनार्थिक उपयोग से ज्ञापित यदा-कदा लिखी गई मेरी डायरी मेरे सामने खुली है। प्रत्येक पृष्ठ के साथ कई प्रश्न, कई उत्तर, कई अपने-पराये, कई पुस्तकें बोलती जा रही हैं। वे जो छोटे से प्लेटफार्म की तरह आये, चले गये, उनकी क्या सुनूं, क्या सुनाऊं ? हां, वे जो मुझे रुक-रुक कर आगे बढ़ने को विवश कर रहे हैं, वे जो, मेरे पेशे से जुड़े हैं, वे बोल रहे हैं, मैं सुन रहा हूं, आइये, आप भी सुनिये... —

मैं सुमित्रानन्दन पंत, पल्लव, गुंजन ग्राम्या और युग-वाणी का पंत नहीं, कला और बूढ़ा चांद का पंत, छायावाद का प्रकाशस्तम्भ पंत प्राकृतिक रूपों का गायक पंत, हिन्दी कविता का शब्द— कुबेर पंत।

कला और बूढ़ा चांद मेरी दार्शनिक उपलब्धि है। चिन्तन और सृजन का धरातल तपस्वी के आसन की तरह ऊंचा उठ गया है तो क्या पर उस पार खड़ी मानवता का दोहित्य लेने में एक-एक सांस लगा रहा हूं। अरविन्द दर्शन के मुझ जिज्ञासु भक्त को पलायनवाद का प्रवक्ता कहना, पूर्वाग्रहों को ऊंची मीनारों पर से कोरे असत्य की ध्वजाएं उड़ाने के अतिरिक्त कुछ भी नहीं। मैं अपनी समस्त गम्भीरता के साथ एक

बार नहीं, कई बार घोषणा कर चुका हूँ कि मैं अब भी रूप का चितेरा हूं, उपासक हूं— सुनो ! युवक, युवतियों स्वच्छ चांदनी में नहाओ, नग्न गात्र, नग्न मन... ए तटस्थ प्रेमियो, रूप विरक्त मत होओ। मुझे यह स्वीकारने में कोई आपत्ति नहीं कि रूपाभिव्यक्ति का मेरा माध्यम पल-पल प्रच्छन्न होता जा रहा है पर अभिलाषाओं में अभी भी तीव्रता है— मेरे मन की समग्रता, संगति तो 'तुम' मे संयुक्त रहने में है। कहिये क्या यह 'तुम' रूप नहीं, जीवन नहीं ?

मेरे सहित, पंत जी के सैकड़ों पाठको ! आप सामान्य स्थिति पर टिके रह कर विचार करिये कि दार्शनिक देश की आधी शताब्दी मे भी ऊपर की उम्र के पंत जी, क्या अब भी युवा शब्दों में धरती की प्यास, पत्थर तोड़ती ग्राम्या और आर्थिक असामान्यताओं से घिरे शहरी-शहरिन को उतार सकते हैं ? शायद नही ! अब तो हमें उनकी दार्शनिक उपलब्धियों पर आस्था रखनी चाहिये, उनके सूत्रों पर जीवन घड़ना चाहिये। देखिये ! पंत जी जा रहे हैं मानवी अन्धकार पर प्रकाश का अभिषेक करने... । आइये ! एक पृष्ठ आगे बढ़ें ।

आप... ? मैं बच्चन... चौसठ खूंटों पर खड़े चार खेमों में बट कर बोल रहा हूँ। मुझे आपने खूब सुना है और अब भी सुनते जाइये जो कुछ मैं कहूं। चेहरे पर सलवटें न आने दीजिये कि आज मैं मधुशालीय निमन्त्रण नहीं देता, पातियां नहीं लिखता। यह दुराग्रह भी छोड़ दीजिये कि मैं सदा इस पार प्रिये... ही कहता रहूँ। सदा एक-सा रंग न रहा और न रहेगा, और उस देश में रह भी कैसे सकता है, जहां जवानी भी गेरुआ वस्त्र लेकर चलती है। एक उम्र थी हजारों आंखें गीली कर दीं, अनगिन घड़े रीते करवा दिये, ऐसा रग चढ़ाया कि कवियों की एक कलमी-फसल उग आई ।

काजल, उभार, आकर्षण, संयोग-वियोग के गीत तीन दशक पार कर साठ की दहरी तक आते आते दर्द से पूछ ही बैठे क्या होगा, चिल्लाकर, वह भी बोला, क्या होगा भी गाकर ? बस मैं दर्द को दबा गया, और आज दर्द मेरा दास है ।

मैं चाहता हूं कि लोकधुनी खेमा मुझे साधारण के साथ खड़ा करदे, छन्दई–खेमा मुझे एक ईश्वर, एक अल्लाह का प्रवक्ता सिद्ध करे, मुक्तधारा का खेमा भारतीय आश्रम व्यवस्था के अनुसार मेरे नये जन्म का, समस्याओं के तटस्थ पर्यवेक्षक-रूप

का ज्ञापन करे, और चौथा यमा मेरी क्रियाशीलता, मेरी चेतना, मेरे बौद्धिक गाम्भीर्य का प्रमाण तो है ही। सच मानिये ! मैं वही बच्चन हूं, पर उम्र के अनुसार बदला हुआ बच्चन .. . ...

सोचता हूं, बच्चन बदले नहीं, खो गये हैं। कहां है वे बच्चन जो भौतिकी भय और वैषम्य से आक्रान्त अबोलों को, क्षणभर ही सही, अपने गीत–स्वर–श्लोकों से सहज आनन्द के समीप ले आते थे। आज उन्हीं अबोले प्यासों को बच्चन जी कोरे–सूखे का तो बोध नहीं कराते ? अनास्थाओं और उदासियों से तर-बतर सांस को, मीलों की सीटियों- धौंकनियों से संचालित गति को बच्चन जी, संयोग–वियोग, आकर्षण, सहज सौन्दर्य के बहाने देते रहते, बस देते चलते... तो सम्भवतः कुण्ठाओं के कुहरे में भी हलचल होती रहती, यह ठहराव न आता।

कौन जानता था कि पावन प्रणय के गायक स्वाभाविकता के सबल प्रवक्ता बच्चन को भी 'तीसरे हाथ' की ओर देखना पड़ जायगा ?

मैं... हिन्दी साहित्य का सर्वाधिक आलोच्य कवि, कहानीकार, उपन्यासकार अज्ञेय, 'प्रतीक' और 'वाक' का सम्पादक अज्ञेय पाश्चात्य विचार-तंतुओं की भीड़ में पूर्वी-आधुनिक मानवतावादी आन्दोलन की खोज जिसे परिवर्तन की आशंका मात्र से चौंकनेवाले हिन्दी आलोचकों ने प्रयोगवाद की संज्ञा दी— का सूत्रधार, और तीन सप्तकों का नियामक अज्ञेय, जिज्ञासा और अन्वेषण के लिये प्रयोग कर नये मूल्यों की स्थापना का प्रयत्न मात्र करने पर विरताओं का शिकार, अज्ञेय ! शेखर: एक जीवन की स्वच्छन्दता का हामी, अपने ही समर्थकों द्वारा पराजित, अन्वेषण और जिज्ञासा के नाम पर युद्धकालीन फैक्टरियों सरीखे कुण्ठाओं के काव्य ढालने वाले अपने ही बौने लोगों द्वारा पीड़ित अज्ञेय, आज "आंगन के पार–द्वार" श्रद्धा से आहूत स्वरों में गा रहा हूं— ओ आत्म साक्ष्य मुकुर... ओ निश्छाया अरूप, ओ उद्गतियों का आयाम, मैं सांस का पुतला हूं, जरा से बंधा हूं, मरण को दे दिया गया हूं ...

वह अज्ञेय भी मैं ही था जो पश्चिम की पुरानी पोथियां हिन्दुस्तान में नया कवर चढ़ाकर बांचा करता था, मैं ही वह अज्ञेय हूं जिसने अनुत्तरदायी यायावरीय जीवन का नारा दिया, मैंने अपने मत की, अपने शिष्यों की हर भोंडी नकल की प्रतिष्ठा के

लिये आत्मनेपद तो रचा ही, पता नहीं और कितना लिखा–लिखवाया। आज... यह अज्ञेय भी मैं ही हूं जिसे .. वही एकान्त सच्चा है... मैं अवाक हूं मैं ठीकरा हूं... कहना पड़ रहा है।

जो बखिये उधाड़े, फिर वही बुन रहा हूं, मौन के माध्यम से विराट से जुड़ने जा रहा हूं... ऐसा लग रहा है कि मैं युवा उम्र की सभी उच्छृंखलताओं उन्मत्तताओं का प्रायश्चित्त कर रहा हूं— आंगन के पार द्वार देवता बुलाकर असाध्य वीणा साध कर। कच्ची अवस्था में ही जराग्रस्त अपने आन्दोलन को पीठ दिये पुनर्मूषको.. ... की स्थिति में आ गया हूं मैं अज्ञेय हूं ! यथार्थ क्या है— विराट से पूछकर बताऊंगा ! अच्छा ! भारतीय संस्कृति पर प्रवचन का समय हो गया है, चलूं — इत्यलम्... ।

धरती की कठोरता, नग्नता और लिप्सा देखकर आदमी को गुनाहों का देवता कहनेवाला, ठंडा लोहा और पराजित पीढ़ी के गीत का समानुपातिक कड़वा और मीठा कवि, धर्मवीर भारती !

मैंने किसी वादाचार्य के मत को आधार मानकर कविता नहीं की और न ही यह चाहा कि किसी उधार ली हुई धारा का दूसरा–तीसरा मुहाना बनूं। मेरे॰निर्धारण की प्रक्रिया— 'दूसरा सप्तक' में, मैं बोला अवश्य हूं, पर वे स्वर मेरे अपने हैं। फिरोजी होठ...होठ के पाटल... तेरी गोद में... बरबाद मेरी जिन्दगी ... क्या ये सब प्रयोग हैं ? मैं तो इन्हें अतृप्त यौनाभिलाषाओं की सहज अभिव्यक्ति की संज्ञा देता हूं। पर नये रूप बिम्बों से विवशतावश ही परहेज करनेवाले बूढ़े आलोचकों ने तो मुझे प्रयोगवादी खेमे में खड़ा कर ही दिया है।

बहुत सम्भव है, दूसरा सप्तक के मेरे अहमवादी वक्तव्य ने कइयों को छोड़ दिया हो, पर आप सात-गीत वर्ष लीजिये ! क्या बृहनला के माध्यम से काल के इतिहास की ही नहीं आज के भी क्लीवी-शौर्य का पोस्टमार्टम न करूं ? क्या मैं, गति-प्रगति की जोड़-जोड़ में धंसी संक्रान्ति को कुरेदना छोड़ दूं ? नहीं, यह मैं नहीं कर पाऊंगा। सुनिये ! मैं पीड़ा से परिशोधित स्वरों में एक नया धरातल उभारना चाहता हूं, आस्था के प्रकाश-मार्गों की ओर अपने को ही नहीं उन सबको ले जाना चाहता हूं जो रात में

भटके हुए हैं।

सात गीत वर्ष के बाद मुझे और दस वर्ष की कच्ची उम्र में ही अपंग हुए प्रयोगवाद और उसकी उपलब्धियों के करीब से गुजरनेवाले मित्रों को कहना पड़ा कि भारती जैसी अपनी समीक्षा, आस्था, अभिलाषा के सहज आकर्षण प्रयोगवादी मिलिसिया के सभी सैनिक अपनाते तो उनकी नई धारा ऐसा ठहराव न लेती।

मैं, बच्चन के बाद हिन्दी गीत धारा, उभरा हुआ चेहरा, मंचीय श्रोताओं का चहेता कवि—नीरज; पत्थरों के देश की राजकुमारी को समर्पित प्राणगीत का नीरज !

मैंने हजारों घावों को सहलाया है, हजारों अबोली पीड़ाओं, आकुलताओं को गा-गाकर उनका प्यार लिया है। मैं, जहां इतिहास से हुई गलती को सुधारने के दम-खम के साथ बोला हूँ, वहां जीवन की स्वाभाविक पूर्तियों के प्रभाव में— यदि तुम न मिलो तो कहो, जन्म किस अर्थ है, मृत्यु किस अर्थ है— मैं भी बोला हूं। मैं हिन्दी की वीणा हूं, मैं हिन्दी का अश्वघोष हूं। उथली नवीनता के हामी भले ही मुझे मरघटिया कवि कहें।

छोटी सी उम्र में ही मैंने अणु से लेकर मंदिर और मस्जिद प्यार और दर्द को हर सहज अभिव्यक्ति दे दी। कभी-कभी थक जाता हूं तो मां की गोद में बैठकर विराट से जुड़ने की सी सोच लेता हूं—जिन्दगी थक गई मौत चलती रही।

मेरे दर्शन की मेरे मरघट की घोषणायें लम्बी हैं, लोग सुनते हैं और मैं भरे मंच को गौण कर खम ठोककर सुनाता रहता हूं—शाम; आधीरात सुबह तक; इसलिए कि मैं नीरज हूं, समकालीनों में अग्रणी, सर्वाधिक अर्थोपार्जी, लाडला मानो कवि नीरज !

जनमानस की अनकही को गीत बनाकर गानेवाले नीरज ! उद्जन बम की विभीषिका से त्रस्त मनुष्य को देवता नहीं देखने वाले नीरज ! एक प्यार, एक दर्द के सबल प्रवक्ता नीरज, कहीं फिर पुराने अरूपी विराट की योग साधना में तो नहीं लग जायेंगे ? प्राणगीत के पृष्ठों से इस प्रश्न का झांकना अस्वाभाविक नहीं।

माध्यम में पड़ कर तुम मुझे बूढे छायावादियों की पांत में खड़ा कर दोगे या

प्रयोगवादी कह दोगे, मैं ऐसा नहीं सोचता। मेरी [illegible] की छठी जिल्द तुम्हारे सामने है। क्या तुम यह चाहोगे कि मैं संयत न रहूँ ? क्या तुम यह चाहोगे कि पूर्णताओं के लिये बहुत भटकने के बाद भी मैं तटस्थ न बनूं ? संयोग की आकांक्षा और दर्द तो बहुत पहले उतर चुका। भाई ! भारतीय मान्यताओं के अनुसार अब मैं प्रौढ़ होने जा रहा हूँ; इसलिये मुझे ऊपर के विराट की ओर खोजी-नजर भी फेंकनी चाहिये।

पर जीने की यह खुरदरी विधा, ये सौ-सौ अपने जाने भी तो नहीं देते। फिर भी इस भीड़ में भी कभी-कभी ऊपर की ओर रास्ता देख ही लेता हूँ। पर इसका अर्थ यह नहीं कि मैं इस भीड़ से डर गया हूँ अथवा ठेलमपेल से थक गया हूँ। मैं, अब भी आँधियों का अतिथि की तरह स्वागत करता हूँ मैं अब भी मौत के कोड़ों की फटक के बीच जीवन का अर्थ बोलता हूँ। समय का अर्द्ध-सत्य मेरे लिये व्यर्थ है। ताबूत की कलों का दर्द अथवा सोंधी प्रतिध्वनियों का दायरों-बंधा आकर्षण मुझे मृत्यु के तट पर जीवन की ध्वजा गाड़ने से नहीं रोक सकता।

अब छन्दई प्यार और कविताई स्वाद मुझ में न सही, पर जीवन तो है, आस्था तो है। मेरी मुक्तछंदी अभिव्यक्ति को मेरी अनामे तुम को चाहे जो संज्ञा दे दो, मुझे तो इतना है कि 'मैं' के अस्तित्व को गला गला कर मैं माध्यम बना हूँ, शम्भूनाथ सिंह तो सम्बोधन की सुविधा भर है।

तार सप्तक के साथ महारथियों में से एक मैं और मेरा अप्रस्तुत मन ! छंदी-अछंदी अभिव्यक्तियों की भीड़—ये कवितायें तार सप्तक के अवतार से तुक्तकों के जन्म से कुछ पहले तक की कलम घिसाई का परिणाम है। नये उजाले के अनभ्यस्त, वे आलोचक महान् तो हैं ही जिन्होंने विलायती स्पंण और कार्टूनों का जुलूस पढ़ कर मुझे नये दल के अगुआओं की कतार में खड़ा कर दिया—इस स्पष्टोक्ति के पश्चात भी कि मेरी कविता किसी फैशन की अनुवर्तिनी नहीं है।

मेरी कविता समझने के लिये किसी दिमागी यंत्र की आवश्यकता नहीं, मेरी कविता प्यार है, पीड़ा है, जीवन है, अनुभूति है। मैं क्या करूं, जो भाषा असंयत, भावों को व्यक्त न कर पाई। मैं अँधकार की हदें खींचने में लगा हूँ, कविता और जीवन के बीच दीवार बनाने में मेरी आस्था नहीं। मुझे तो प्रतीक्षा है—अभी जीवन में अनागत

हैं न जाने और कितने ज्वार···उनकी। यौवन के युग में यह जीवन बिखर गया तो क्या, पर जीवन से परे की बात तो नहीं उठो, बस !

झुर्रियों पड़े, रेंगते संस्कारों को मरण-संगियों का गीत चुभ जो गया, और लगे चीखने—यह नया आ गया ! और तो और पूर्वाग्रहों का मोटा चश्मा चढ़ा कर बहियों में भी टांक दिया कि इस नये का न आकार है, न आधार। जब कि मैंने अहम् का व्यव-धान फोड़ कर कर्म की प्रतीति की बात कही है। मैंने विष पचाकर अमृत की परिभाषा दी है। मैं अपने खेमे के उन बिगुल-बजैयों सा नहीं जिन्होंने नये के नाम पर अनर्थक सिक्के चलाये जो पाठक तक पहुँचते-पहुँचते जंग खा गये।

समय का फेर था भाई कि छायावादी टकसाल में खोटे सिक्कों की पर्त तैर आई, पर मैं जानता था कि इस ढेरी में असंख्य नये सिक्के दबे पड़े हैं, जिन्हें हल्की सी तराश की आवश्यकता है, और मैं ओ अप्रस्तुत मन लेकर तुम्हारे सामने हूँ, कहो, कैसी रही !

अब रही तुक्तकों की बात, भाई कुछ हल्का होने के लिये, कुछ साथवालों की बात रखने के लिये कुछ मजूबा न दूँ तो बिरादरी बाहर कर दिया जाऊँ। हिन्दुस्तान में दल-जाति नीति भेद की सजा तो तुम जानते ही हो—हुक्का-पानी बंद !

कलम के कारीगरो, उठो ! अपनी मिट्टी, अपने आकाश, अपनी हवा के गीत गाओ, अपनी रिक्तताओं पर खीज, नवीन की सम्पूर्णता के लिये दुराग्रहों पर अपने को मत बेचो। कविता, दर्शन नहीं विचार और नीतियों की उलझन नहीं, कविता तो सूने को स्वर देने वाला संगीत है, कुहासे में किरण की लकीर है।

मैं लेखनी बेला पर वीरेन्द्र मिश्र हस्ताक्षर कर रहा हूँ—समय के साथ, अकेला नहीं, सबको साथ लेकर चलने की घोषणा के साथ। तू सिसकती शाम सा गमगीन है, आ तुझे खिलती किरण तक ले चलूँ—इस आस्था के साथ। सम्भव है, वीरान वीथियों के भ्रम कुछ क्षणों के लिये भटका दें, निराश कर दें, और मैं कह दूँ—इतनी दूर रहा न करो तुम, जीवन भार हुआ जाता है पर इसके साथ ही थकन भुलानेवाला स्वर जनम आयेगा—अभी तो दूर चलना है, जरा सी जिन्दगी है, बहुत से दर्द हैं मगर आकाश ने

दुखड़ा सुनाया है किसे ?

मेरे स्वरों की निर्झरणी में दर्द की, प्यार की, साथ के मोह की हाय-हाय ही नहीं, उजली दिशाओं को जाने वाली जीवन नौका है, निष्ठाओं की मबल पतवार भी है। मेरी लेखनी की नोक पर मेरा, संस्कृतियों वाला देश है, मिट्टी मे फसलों का सोना देनेवाला देवता है और नई धूप का चीर उड़ाती युग की भोर मेरे साथ है।

ओ नई कविताओ ! बोलो, तुम्हारे पास क्या? अष्टावक्री सत्य ! आधी अननुभूत अभिव्यक्तियां — आधे इंच सी या बिजली के खम्भे सी लकीरें—जिन्हें फावड़े-हथौड़े वाला नहीं समझेगा। पहले उसे साथ ले लो, उसे बदल दो, फिर मैं भी तुम्हारा हो लूंगा। एक सुबह से दूसरी सुबह की आशा, घन-घन पसीना, थकन, गति और कर्म की गूंज है मेरी लेखनी बेला···।

मैं ! जगदीश गुप्त, कवि, आलोचक, चित्रकार, प्रयोगवाद के उखड़े खेमे फिर से जमाने का जिज्ञासु, पुस्तकों में कम, पत्र-पत्रिकाओं में अधिक, सठियाये आलोचकों को समझाता नाव के पांव सा डोलता बढ़ रहा हूँ।

सही है, नाव के पांव में जैसा था; आज मैं वैसा नहीं हूं। तुम्हारे विचार से इसमें मेरा सबल कवि है। पर मैं अब भी नया हूं, ताजा हूं इसलिये कि राहें मेरी अपनी हैं। सही है कि अब मेरी कविता कुछ भारी होगई है, पर नाव के पांव में तो पायल है, यौवन है गीत है। एक उम्र थी, यह सब लिख गया। चाहूं तो आज भी लिख सकता हूं, पर मेरे उन अनाथ साथियों का क्या होगा ? प्रयोगवाद का क्या होगा ? कोई पीठाधीश संस्कृति का प्रवक्ता बन बैठा तो कोई रंगीन सम्पादक, अकादमीय आलेखक। उजड़े हुए घर को फिर से संवारने का उत्तरदायित्व मुझी पर आ पड़ा है। देखो तो सही नंगे को और नंगा करने के लिये हिन्दी के सभी बड़-छुट-भैय्ये कलम-लैस हैं।

मैं तुम जैसे पाठकों को प्रिय लग सकता हूं, कि मैं किसी चुम्बकीय मोह के कारण मैं, नाव के पांव में नये मुल्लाओं की सी अजान न देकर डूबता तिरता रहा हूं अथवा विवशताओं के घेरे में ही रहा हूं, पर अब प्रयोगवाद बचाओ का बीड़ा उठा लिया है। झंडा ऊँचा ही रखूंगा कविता का नहीं, एक विचार का, एक आधुनिकतम यांत्रिक सुविधाओं से सजी पीठ का।

इन पुराने नयों को, उन, नये के नाम पर नयों को जिन्होंने समझौतावादी सरगर्मी हरी फिर पकड़ लिया है, उन सब को पुष्टि के श्लोक रटाया करूँगा। थोड़े दिन बाद ही प्रयोगवाद-पुष्टिमार्गियों की एक ऐसी कतार खड़ी कर दूंगा कि नंददुलारे जी, विश्वम्भर नाथ जी, नामवर सिंह-प्रतिष्ठान को नई-जोड़ को फिर-फिर जांचने को विवश होना पड़ेगा...अच्छा चलता हूं......जय प्र...यो......की।

अंगना फूले कचनार—बीस वर्षों की कलम घिसाई से बनी पाण्डुलिपियों में से एक पर पहला मुद्रित हस्ताक्षर—मैं—छविनाथ मिश्र 'पागल' !

अब तक के जीवन में ही कोई उपलब्धि नहीं हुई तो अंगना फूले कचनार को उपलब्धि कैसे कहूं ? मैं चर्चाओं—खेमों से दूर रहने का आदी हूं, पर तुम मुझे दशक की चर्चा में ले रहे हो, अच्छा नहीं। किसी बहु-मुद्रित–विज्ञापित लेखनी के धनी को लेते तो बीसियों पत्र तुम्हें और तुम्हारे वातायन को मिलते, तुम उन्हें छापते लाभ का खाता भारी हो ही जाता। हरीश भाई ! थोड़ा व्यावहारिक ज्ञान तो तुम्हें सीखना ही चाहिये।

तुम्हें अखरता है कि मैं लम्बे–यायावरी-भूख-युग से गुजर आने के बाद भी नीमतल्ला की ताबूतनुमा कोठरी में आबाद हूं, मैं पीठाधीशों की चक्रम-गोष्ठियों की उलझनों से अछूता हूं। तुम्हें दर्द होता है कि मैंने छापेखानों का प्रकाशकीय शहद नहीं चखा या सम्पादकों से रिश्ता नहीं जोड़ा। भाई, यह सब कर ही लेता तो क्या होता ? तुम से ही पूछता हूं, तुम अपने नाम से तो तीन और एक दो पेट के नाम पर नीलाम चढ़ाकर मेरे सामने हो, क्या होगया ? क्या मिल गया ? हो गये ना अनुत्तरित !

यह सही है कि सड़कीय हकीमों की तीखी आवाजों से चूरण-मंजन का बाजार कुछ दिन तो गर्म रहता ही है पर उपयोगिता और असर की ओर ध्यान जाते ही दुकानें सिमटने लगती हैं।

पानी की परछाई—सांस में न कितने प्यार के मरुस्थल–गीले नहीं कर पायगी। संध्या की युवती कुण्ठाओं को संवारने, ध्वंस की लाश को ढांपने में युग के नये मसीहाओं को कलम का जादू दिखाने के लिये आवाज दे रहा हूं—आओ ! आओ ! भरिमय के दूध की पत्नी को लाल मत होने दो, अमन की कपोती को नाश के जाल में मत फेंको,

फसलों की चूनर लहलहाओ ! प्यार चाहते हो तो सृजन करो !

मौत को चूम कर जिन्दगी से प्यार करना सीखा है, इसलिये जीवन की, धरती की बात करना चाहता हूं, सांस के आखिरी छोर तक। मेरी बात को विज्ञापन और तालियां न मिलें न सही। तुम्हें अपना लगा हूं, बहुत है।

नवीन कविता छायावादी कल्पना-प्रवणता के स्थान पर यथार्थवादी पद्धति को अपना रही है। काव्य में यथार्थवाद अथवा बाह्यार्थवाद की योजना एक शैली के रूप में स्वागत योग्य है। हमारा काव्य इस नवीन शैली को अपनाकर विकास की नयी दिशा में चल रहा है। यह समझना कि वह अकाव्यत्व की ओर बढ़ रहा, अथवा काव्य संस्कृति का परित्याग कर रहा है, अनुचित होगा। काव्य में यथार्थवाद का अर्थ अकाव्यत्व नहीं, न उसका अर्थ काव्य के स्थायी प्रतिमानों का त्याग ही है। यदि हम इन अधूरे, एकांगी और भ्रामक निरूपणों से बचना चाहते हैं, तो नवीन काव्य-शैली का अंतरंग अध्ययन ही हमारा काम दे सकता है।

—आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी
(आधुनिक साहित्य)

पिछला दशक : दस उपन्यास

राजानन्द

दु:खमोचन

आखिरी आवाज

अपने अपने अजनबी

जयवर्धन

मोती

अंधेरे बंद कमरे

उखड़े हुए लोग

कबूतरखाना

प्यास के पंख

सूरज किरन की छांव

नीलम-सी नीली-नीली रात। रुपहरा चांद फांक-सा आकाश में टंका है, तारे झिलमिला रहे हैं।

मैं? मैं अपनी मीनार की छतरी में खड़ा हूं, अपने चारों ओर देख रहा हूं प्राचीर से घिरा वृत्त, उसकी परिधि के अन्दर अन्तर-अन्तर से खड़ी मीनारें; एक, दो, तीन…… और यूं दस की गणना।

मेरा परिचय ?

एक वृद्ध वानप्रस्थ वीतरागी, राग-द्वेष, कुंठा निकुंठा से मुक्त, तुला का वह संकेत जो ज्ञान की घनता को बताए; वह संकेत जो दशक के काल-बिन्दुओं को आरम्भ-अन्त मान कर सीमा में खड़े मील के पत्थरों को नापे-तोले, जाने और जनवाने का कर्तव्य पूरा करे।

मेरी दृष्टि मीनारों में खड़े अपरिचितों को हाथ हिला-हिला कर बुलाने वाली आवाजों का पीछा दोहरा रही है— आवाजें आ रही हैं : इधर आओ इधर आओ हम बुला रहे हैं! मैं डरता हूं, गंधित हवाओं के शीत-स्पर्शी स्पर्श सीना झीना-सा बना देते

है, मैं धीरे-धीरे पहली मीनार तक पहुँचता हूँ। स्पात की चपटी पट्टियों का दरवाज़ा एक तरफ़ लगी प्लेट। लिखा है—दुःखमोचन,— नागार्जुन।

एक लम्बासा कृषकाय व्यक्ति, साधारण-सी पोशाक, साधक-साहित्यिक, चेहरा निचुड़े आम-सा। दरवाजा खुलता है।

"मैं नागार्जुन हूँ, कहिये ?"

"दुःखमोचन से मिलना है।" मैं अपनी श्वेत कपास-सी दाढ़ी को स्पर्श करते हुए कहता हूँ।

"वह सामने हैं, जाइये !" नागार्जुन जी संकेत करके चले जाते हैं।

गेहुँए रंग का धीर-गम्भीर व्यक्ति, वह दुःखमोचन ही है, गाँव का पंच। वह मुझे अपने साथ ले गया।

गाँव है। हर परिवार के पास एक-एक खपरैल का घर है। गाँव का हर व्यक्ति अपने नेता दुःखमोचन को सादर नमस्कार करता है। एक कन्या पाठशाला है जिसमें अध्यापक पढ़ा रहा है। बताया कि लीलाधर ! मेरे भाभी के देवर जिनकी चेतना की चांदी पर संशय का कुहासा छा गया था। पलायनी वैरागी से अब कर्मयोगी बन गये हैं।

मैं आश्चर्य ही तो कर रहा था। ऐसा सम्पन्न आदर्श गाँव ! यथार्थ है या कल्पना-विलास ?

"आप सशंकित हैं प्रगतिशील इस गांव पर ?" दुःखमोचन पूछ बैठा।

"हाँ यह टमका कोइली गांव भारत का है, या यूनान का समर्थ नगर राज्य, या राम के समय का कोई राम-राज्य-खण्ड ! यहाँ प्रतिक्रियावादी शक्तियों को क्या आक का दूध लग गया या गंधक के अम्ल ने जड़ों में पहुँच कर उनको समूल नष्ट कर दिया ? दलगत राजनीति की दलदल यहाँ कहाँ है ? सारे अधिकारी क्या रिश्वतखोरी,, भ्रष्टाचार और हरामखोरी से दूर गंगा नहाय हैं क्या इस गांव में ? कहना बाबा से 'कुम्भीपाक[1] का यथार्थ क्या टमका कोइली में पारस बन गया ?"

विकास अधिकारी ने बीच में ही व्यवधान दे दिया। दुःखमोचन चले गये।

[1] कुम्भीपाक — नागार्जुन का एक उपन्यास

गांव मुझे 'सरकारी डाक्युमेन्टरी फ़िल्म-सा लग रहा था। इतने में ही एक सज्जन आए नाम था सुखदेव मिश्र ! दुःखमोचन के भाई थे। मुझे लगा कि यह व्यक्ति ठीक है। कहा— "आप भाग्यशाली हैं दुःखमोचन-सा भाई पाकर।"

असंतोष उनके चेहरे पर उभर आया। बोले: "क्या खाक भाग्यशाली हूं। अपने घर में अंधेरा और लिए मशाल फिर रहे हैं। कहीं हैं ऐसे दुःखहरण गांव में— किसी भी गांव में ? आग लगी तो गांव में खपरैल चुनवादी; भुखमरी हुई तो अनाज बटवा दिया; जादुई डंडा है जो सरकार, सरकारी अफ़सर यूं सहायता फेंक दें— बुढ़ापे में आकर नागा बाबा भी दुःखमोचन के साथ जय पंचायत ! जय नेहरू राज करने लगे। मैं पूछूं क्या टेकनाथ, नित्याबाबू इतने नपुंसक थे ? नहीं— उन्होंने सत्य छिपवाया है हां ! हां दुःखमोचन ने रिश्वत देकर "नागा बाबा" से लिखवाया है ।

दुःखमोचन के आते ही जैसे सुखदेव मिश्र के मुंह को ताला लग गया— नैतिकता का आतंक !

मैं दुःखमोचन के साथ चला आया। मीनार से बाहर आ गया। अपनी मीनार में पहुंच गया। शापित हूं कि दिन में न निकलूं। कल रात्रि फिर।

दूसरी रात : दूसरी मीनार : आखिरी आवाज़

स्पात की पट्टियों का काला जंगला खुला। खादी का कुर्त्ता, सफ़ेद धोती और गले में पड़ी पटली-सी चादर। सुन्दर आकर्षक मुख, चुम्बक-सा आकर्षण; चौड़ा भाल, और सपाट-सा चंदोया ! एक छाया सी आकृति। बोली: "मैं रांगेय राघव"; फिर वह मुस्कराए। शब्द निकले:

"आगे डूंगरपुर है। नागार्जुन जी का टमका कोइली नहीं डूंगरपुर ! स्वतंत्रता-प्राप्ति के पश्चात् का पंचायत राज !" तब छाया अन्तर्धान; पर एक पगली युवती की हृदय विदारक चीख !

"मैं कुलटा हूं, मैं पापिन हूं। मैं ······ हां मैं नायन निहाल कौर ! सोचा था विवाहित पति के मिलने से पहले थोड़ा आनन्द लेने में क्या दोष ! आनन्द ? खरबूजे पर गिरी छुरियां। सरपंच का बेटा नरायन पहली छुरी। वार्ड पंच का बेटा माधो, दूसरी

छुरी। कट गई मैं, फाँक-फाँक हो गई। हाय! वह तनिक आनन्द नर्क बन गया। सारे गांव की कथा-व्यथा मुझ पर ठहर गई। मेरी सहेली हिरदे काका, दामी काकी की बेटी 'वाक' के धार उतार दी कसाई नरायन-माधो ने, मैंने तो पाप की संगिनी भर बनाना चाहा था।"

"रे! रे!! माधो मैंने यह तो नहीं चाहा था कि रंदा मेरे अन्तर में चल जाये और छिपटी-छिपटी उतरे आत्मा की, पैना लोहा घुस जाये मेरी आत्मा में और पीड़ा भक-भक जलाए मेरी देह। कमीने गोविन्द ने खेला मुझसे, मजबूर दईमारी मैं करती क्या? थू; थू; ये खद्दरधारी! लड़ें चंचल सिंह, रामतिवारी और कीच उछालें मुझ अबला पर-। थू तेरी जात, तेरी नेतागिरी पर। रे रामसिंह बामन! पी गया मुझे, मेरी देह में क्या था रे? धुत तेरी जोनी पर!"

पगली निहाल कौर भाग गई बड़बड़ाती। मैं बढ़ा नहीं आगे कि खड़ा हुआ था एक गरीब— 'होरी'[1] सा! बोला: धरम ने नहीं मारा मुझे··· मुझे तो मारा राज के नरक ने। 'होरी' धरम के कारण मरा, मुझे नोचा इन्होंने— इन्होंने······" हिरदय मुझे ले गया एक जगह: कीचड़, कर्दम, दलदल ही दलदल। गंदे भैंसों की तरह पड़े हैं एम० एल० ए०; मुन्सिफ, थानेदार, सी० आई० डी०, एस० पी०; कजोरी सिंह, पचौरी मास्टर और गोविन्द और ·· और बहुत से!

हिरदे बोला— यह हैं आज के साहब लोग; आज के नेता। रुपया, रुपया! न्याय बिक गया। सड़ांध से गिनगिना रहा है नेहरू-गांधी का गांव! क्या यही है सुराज?"

"एक आत्मा वह है; सच्ची आत्मा!" हिरदे ने इशारा किया। मैं पहुँचा! फांसी से लटका एक युवक; युवक नहीं सत्य। पाप के बाद के पश्चात्ताप से मुक्ति पाई इसने! अन्तरात्मा की पावनी निष्कलुषता का प्रकाश था उसके चारों ओर! एक ध्वनि हुई!

मेरी आत्महत्या, निराशा जनित नहीं है! राजनीतिपरक, अर्थपरक, स्वार्थी युग की वेदी पर बलिदान देनेवाली उदात्त आत्मा का रूप मैं! दिग्भ्रान्त पिता और

---

[1] होरी— प्रेमचन्द के 'गोदान' का नायक

कलुष मनों वाली देहों को पश्चाताप करने के लिये मैंने आत्महत्या की... ।"

मै घबराकर चल लिया ! वही छाया रांगेय राघव की फिर उपस्थित थी । पूछा, "युग यथार्थ आखिरी आवाज़ में दिया मैंने; कैसा लगा ?"

उत्तर निकला मुंह से; 'आखिरी आवाज़' बलीतर है । युग-सत्य से विकृत-दूषित रूप को जिस दार्शनिक भावुकता से सशक्त भाषा में उतारा है वह योग्यता अनुकूल है । मंगल भावना का 'विजन' रख आदर्श की सीमा खूब छूई है । पर लगा कि विस्तृत ज्यादा हो गये हो, सघनता विचारों में हैं, पर वातावरण का वर्णन भारी बना है ! 'आखिरी आवाज़' अमर देन है, यह अकाट्य सत्य है । तुम अमर हो गये राघव !

और मैं लौट आया— वही अपनी मीनार ! बाहर शायद भोर हो गई हो !

तीसरी मीनार–मौत ! मौत ! मौत !

रात वैसी ही नीली है । तारे टिम-टिमाकर पलकों की खुली–मुंदी का खेल खेल रहे हैं । मीनार पर लगी प्लेट पर लिखा था— 'अपने-अपने अजनबी' और नीचे 'अज्ञेय' ! यह सब कलात्मकता से उभरा था; जैसे कपास के सफेद बिनौलों से लिखा गया हो । स्पर्श किया तो और अचरज ! वर्फ थी ठंडी बर्फ ! जंगले के पार झांक कर देखना चाहा तो फिर अद्भुत ! पता नहीं कौन सी सोपान का कौनसा पत्थर दबा कि झनझनाता हुआ दरवाजा नीचे खिसक गया । राह बनी तो प्रवेश लिया । घोष ! गहन घोष: "मैं , मैं अज्ञेय बोल रहा हूं । 'शेखर'[1] का अज्ञेय, 'नदी के द्वीप'[2] का अज्ञेय और इस अपने-अपने अजनबी का अज्ञेय । भूखण्ड के इस बर्फीले शीत-खण्ड की दिशा में आए हो तो मेरा रचित यह विशिष्ट लोक देखो जहां मृत्यु है, मृत्यु का भय है, जो सांसों पर और बीतने वाले हर पल पर उतर कर स्पात-सा भारी बनाए है जीवन को । मृत्यु भयाक्रांत अस्तित्व है युवती योके का, वृद्ध सेलमा का !

---

१. शेखर एक जीवनी (अज्ञेय का उपन्यास)

२. नदी के द्वीप

फिर एक एन्द्रजालिक क्रिया ! और मैंने अपने को पाया तीन कमरों की बर्फ की कब्र में। आगम-निगम के द्वार रुके हुए।

वृद्ध सेल्मा के चेहरे पर उम्र की रेखायें बर्फानी जाड़ों की देन हैं। उसकी आंखों में रहस्य है और इन रेखाओं में छिपा एक इतिहास है। उसका योके से व्यवहार स्पष्ट अस्पष्ट है अज्ञेय की भाषा-सा ! क्या चाहती है, या कुछ भी नहीं चाहती यह धुंधला है, अर्वातित है, जैसे अपने-अपने अजनबी का लक्ष्य-या उद्देश्य; यादि कोई लक्ष्य या उद्देश्य है तो ? अन-अनुभूत, एब्स्ट्रेक्ट अकड़-पकड़ की चित्रकला-सी सेल्मा के सार्थक्य को घसीटना बुद्धि की जिस पुंपकता की अपेक्षा रखता है, वह आ पाये, न भी आ पाये !

जिजीविषा की उद्दामता में उफनी योके को रोष है कि क्यों रहस्यमयी है सेल्मा ! क्या है उसमें जो मृत्यु का भय उसे नहीं देता जब कि वह— योके-जीकर मरी-सी है और सेल्मा भरी-भरी होकर भी विदेह-सी[1] तुष्ट हो जी रही है। यही तो विरोध है जो योके के संतुलन को असंतुलित कर देता है। वह सेल्मा से पूछती है और उसे उत्तर मिलता है; जो हमारे भीतर नहीं है, वह हम बाहर कैसे दे सकते हैं— कैसे देना चाह सकते हैं ? खुली बिखरी हुई स्निग्ध, हँसती धूप— मैं बाहर उसकी कल्पना करती हूं तो वह मेरे भीतर भी खिल जाती है और मैं सोच सकती हूं कि उसे दे सकती हूं।"[2]

यह क्यों है; योके सोचती है ? कौन-सा अनुभव संचयन है जो सेल्मा को मृत्यु के भय से बेलाग किये हुए है। योके को असह्य है— असह्य; और वह भावना की उस विक्षिप्तता तक पहुँचती है कि बुढ़िया सेल्मा का गला घोटने को झुकती है; सेल्मा जाग्रत थी ! प्रयास असफल हो गया !

क्षमा वह मांगती है कि क्यों उसने ऐसी परिस्थिति पदा की कि योके बाध्य हो जाये उसका गला घोटने के लिये। सेल्मा को एक विश्वास है; कुछ भी किसी के बस का नहीं हैं; एक ही बात हमारे बस की है कि इस बात को पहिचान लेना; इसके आगे हम कुछ नहीं जानते !"

---

१. विदेह— जनक (सीता के पिता)

२. सेल्मा का कथन

योके नहीं समझती, शायद सेल्मा भी नहीं जानती, जानती है तो कहती नहीं; 'अज्ञेय' रहना चाहती है; कि बाढ़ के बीच टूटे हुए पुल पर जब एक बार इसी तरह युवा सेल्मा यान के सहिष्णु, मृत्यु-भय-मुक्त व्यक्तित्व से निर्दयी कठोर हो लड़ रही थी, विरोध को जीने की 'हारिल' बनाए थी, तब वह हारी थी, पराजित हुई थी यान से जिसने उपेक्षा की थी उसके शादी के प्रस्ताव की यह कहकर; "तुमसे विवाह ? यानी तुम्हारी इस सब सड़ती हुई पाप की कमाई से विवाह !"

सेल्मा के जीवन की 'दया' बाहर मुड़ गई थी। यान के सम्पर्क और फोटोग्राफर की बलि ने उससे पश्चात्ताप करवाया था शायद और वह बौद्ध धर्म की करुणा अपने में उतार बैठी थी; जीवन से तृप्त थी वह। यह था संतोष जो मृत्यु-भय की आक्रांतता से निर्लिप्त किये हुए था सेल्मा को— सेल्मा गड मड ही तो है अस्तित्ववाद और भारतीय दर्शन की अस्पष्ट मिलावट में। योके की उपस्थिति में ईश्वर की अनुभूति पाती है वह। 'अहंकार' की शून्यता और करुणा की बाहुल्यता ही तो है जो उसे संतुष्ट किये हुए है। वह कहती है कि, 'वरण की स्वतन्त्रता नहीं है, लेकिन रचना फिर भी सम्भव है और उसमें ही मुक्ति है।"

इसीलिये योके भी शायद उसकी मृतक आत्मा से क्षमा ही मांगती है।

मरियम ! ईसा की मां का नाम मरियम। मरियम, जर्मनी की वेश्या वही योके जिसे पौल ने त्यागा और जगन्नाथन् ने आखिरी समय में प्रकट होकर उसे वरण करने की स्वतन्त्रता दी— पर आत्महत्या कर अस्तित्ववाद का मूलाधार सिद्धांत उड़ा देने की स्वतन्त्रता भी न योके चाहती थी कि वह अच्छे आदमी के अंक में मरे और उसे जगन्नाथन् मिला — सांस तोड़ती योके कह रही है;

"सारी हरामी दुनियां को बता दूंगी कि एक बार जो मैंने अपने मन से चुना वही किया ! हरामी... हरामी दुनियां ! नाथन... अच्छे आदमी .. मुझे माफ कर दो !"

और वह ईश्वर को भी माफ कर देती है जिसने उसके जीवन को नरक दिया ! स्वतन्त्रता और तात्कालिक मृत्यु ! अस्तित्ववाद की विजय या पराजय ?

एक सपना था। जैसे एक जादुई जगत में था मैं ! बाहर निकल आया वहां से

दम घुट रहा था ! अपने से ही पूछा— 'आखिर कुल में है क्या यह सब ? क्या उपयोगिता हो सकती है इसकी ?' उत्तर अन्दर से ही आया; अज्ञेय कब ज्ञेय रहे ! दर्शन से खेले, भाषा से, चरित्रों से खेले— और फिर उलझाव का जाल। धन्य कह दूँ— 'अहं' की तृप्ति हो जायेगी ! कालिदास ने भी विद्योतमा को तीन उंगली और एक घूंसे की गूंगी अभिव्यक्ति से जीता था !

चौथी मीनार : नारी के क्रोड़ में दर्शन-राजनीति का मधुमास

सोचता हूँ कि रोज का यह क्रम क्यों ? एक मीनार से दूसरी मीनार फिर तीसरी मीनार ! बस एक उत्तर; "जिज्ञासा !" जिज्ञासा में रति, फिर उद्‌भूट पिपासा कर्म की, और कर्म में आनन्द। यह कुछ है जो भासितों से बंधन-मुक्त नहीं हो पाता, परिचालन को चालित करता है। सबको चालित रखता है; मैं विरोध नहीं हूँ।

नई मीनार तक पहुँचकर अभ्यस्त दृष्टि ने देखा— प्लेट; लिखा है **जयवर्धन— जैनेन्द्रकुमार** ! लिखा है एक शिला पर:

दुनिया संकटग्रस्त है राजनीति से, तनाव से, युद्ध-भय से। इधर पंचशील है; उधर शस्त्र निर्यात। स्वदेश का भविष्य संकट आच्छन्न है, इसीलिये जयवर्धन ! उपन्यास यह हो भी सकता है, नहीं भी। जैसा है, है !

अन्दर प्रविष्ट हुआ मीनार के। पर वह लम्बी, इकहरी देह वाला, आत्मपीड़न और प्रीति में अनीति की शुद्धता का द्रष्टा, विस्तृत भाल वाला दार्शनिक, शैली का धनी, सुनीता,[१] कल्याणी[२] व्यतीत[३] और त्याग-पत्र[४] जैसे उपन्यासों का सर्जक जैनेन्द्र दीखा नहीं— दीखी एक अमरीकन विदेशी की छाया। बोली; मैं नहीं... मैं नहीं, मैं हूस्टन विलबर हूस्टन जो मात्र माध्यम हूँ जयवर्धन का और उसमें झलकने वाले स्वतन्त्रता पश्चात के भारत का दिग्दर्शन कराने वाला। मैंने कार्य पूरा किया और लौट आया अपने देश, यह पुस्तक दे दी प्रकाशक को; जैसे इतने के ही लिये जीवित था। मिलो, तो मिलो

१, २, ३, ४, जैनेन्द्र जी के उपन्यास

इला से, लिजा से, अधिपति जयवर्धन से, इन्द्र से, आचार्य से, स्वामी से !" और छाया गायब हो गई ।

आगे बढ़ा तो बयालीस वर्ष की तेजस्विनी नारी एक झोंपड़ी के सामने बैठी थी— आश्रम ही तो था शायद वह ! उसके मुख पर गाम्भीर्य था, अथाह सौम्यता !

"आप इला हैं ? मैं जिज्ञासावश आया हूं, कुछ जानने दीजियेगा ?" मैंने बैठते हुए कहा !

नारी के होठों पर स्मिति छितरी : बोली, "इला ही हूं ! साम्राज्ञी मानकर आए हो ना ? ठीक है । ऐसी साम्राज्ञी हूं जो अहंकारी, निर्लिप्त; पर नारी निर्भर; कर्मों पर पलायन तत्पर जय को कर्तव्य की याद दिला दिलाकर अधिपति के स्थान पर ठहराए हूं । सुनीता, कल्याणी, और त्याग-पत्र की बुआ से भिन्न नहीं हूं । आत्मपीड़न और आकांक्षाओं की हवि दी है मैंने जय के लिये । रागी–वीतरागी अहंकारी जय की करवाल के नीचे बलि-पशु बनी रिंदती रही हूं मैं । जय चाहता है मैं अपने मन से चलूं, पर मेरा मन मेरा नहीं है— मैं बड़ी अकेली हूं, मुझे मेरी स्वतन्त्रता नहीं चाहिये । पर कैसे सोचूं जय को, जो स्वयं अपने को मुझ पर निर्भर करे हुए है ?"

इला की आंखें डबडबा उठीं; उसकी आत्मा तड़प उठी– बोली— पुरुष का पौरुष क्या नारी को देवी कहकर उसके सपनों के शोषण में ही हैं ? जय जीवन से उकताया हुआ ही तो महामना है, जो बात–बात में देहात भागने और पलायन के लिये तत्पर है । मैं हट नहीं सकती थी क्योंकि अपने को कठिनाइयों में घेर कर वह मेरी करुणा को केन्द्रित करता रहा; आत्मपीड़न में अपने को डाल मुझे पीड़ित करता रहा ।

इला की दृष्टि से मैंने जय को देखा तो लगा जय अधिपति है पर एक क्लीव-नारी-निर्भर व्यक्ति है, जिसकी सारी शक्ति इला से ऊर्ज्वसित है— एक उधार ली हुई हुई शक्ति, जैसे वह एक निर्जीव खिलौना हो इला की त्यागिनी तपस्या की शक्ति से चल रहा हो ।

तभी इकहरी देह की सुनहरी बालों वाली द्रुत, स्वरतलीन अदम्य भावना की पिंड हंगेरियन लिजा आई (मुझे बाद में मालूम हुआ नाम) बोली, "जय की बात हो

रही है। मैंने जय से कहा, "तुम नहीं जानते क्या हो। कायर नहीं हो लेकिन घमंडी जरूर हो।"

फिर इला से बोली, "जय को रात न छोड़ना होगा !"

इला वेग में हो गई, 'शायद अपनी वासना के प्रेम में हो— सपना कुछ है अगर तुम्हारा तो उसका बोझ उठाओ। स्त्री इसलिये नहीं है कि पुरुष को अपनी ओर ले। उसकी कृतार्थता इसमें है कि वह पुरुष को आगे और उत्तरोत्तर करे।"

लिजा बिजली सी तड़पकर कहती हुई चली गई— जय को राजा रहना होगा। मुझे अब शायद जानने के लिये अधिक शेष नहीं था। जय इन्द्र के कहने से विरोधी दलों की मिलीजुली सरकार बनाकर चले गये, इतना ज्ञात हुआ। इला से विवाह भी हुआ !

मैं लौटा तो जैनेन्द्र जी मिले ! बोले: मैंने दिखाया है, अधिपति राज का नियामक नहीं होना चाहिये। अहिंसा का पालन हो। विरोधी दलों का मिला-जुला सर्वोदयी राज हो। धीरे-धीरे राज प्रजा निहित हो ! क्या गलत हूं ?

मैं— दर्शन के आधार पर राजनीतिक 'यूटोपिया' ही तो दिया है— पर कारण— सिर्फ इला-जय का प्रेम ? प्रणय और ऐसी राजनीतिक उथल-पुथल ! क्या नारी और प्रेम ही नियामक है सब कुछ का ?

उत्तर— मेरी विवशता है।

मैं— चरित्रों में कल्पनाप्रसूत अन्तर्विरोध, तथा स्वगठन नहीं है !

उत्तर— विवशता है।

मैं यह कह कर चला आया, "फिर ठीक है। असम्भव आदर्श सम्भावनाओं से युक्त है, इसी में सफलता है आपकी इस कृति की— बस।"

पांचवीं मीनार : हम कहते हैं कि... कि...।

पांचवी मीनार के सामने खड़ा हूँ— प्लेट पर लिखा है **मोती— आचार्य चतुरसेन** ! जंगले की कुण्डी को खटका दिया, फिर खटका दिया।

एक गोल भरा चेहरा, उभरी-स्पष्ट नाक और उस पर ठहरा मोटे फ्रेम का

चश्मा, एक तरफ को निकली मांग— पकी उम्र के व्यक्ति ने······ नहीं नहीं उसकी छाया ने जंगला खोला— पूछा, "कौन, कैसे आए ?"

सीधा प्रश्न था। एक अपरिचित को अशिष्ट ही लग सकता था— मुझे भी लगा ! पर सम्भलकर उत्तर दिया, "मैं; और बस यूं ही आ गया। मोती जी से मिलना था।"

छाया खिलखिला कर हंस पड़ी, जैसे मुझ पर ही व्यंग्य कर रही हो, तब बोली, "यूं ही तुम आए हो; लोग आते भी नहीं ! अज्ञेय, जैनेन्द्र, यशपाल, इलाचन्द्र को लेकर तो साहित्य में तूफान उठा लिया, पर मैं रहा उपेक्षित, रांगेय रहा उपेक्षित। यह कहकर छोड़ा कि बहुत लिखते हैं।"

"लिखा तो बहुत ही है आपने !"

"गुनाह किया है क्या ? मैं पूछता हूं पाप है क्या ? अनुभव लिये, साधना की; कल्पना थी तो लिखा— मैंने लिखने की हिम्मत की दूसरों को पढ़ने का साहस नहीं हुआ। यह क्यों सच नहीं है कि हम दोनों में से कोई भी अड़ंगेबाजियों में विश्वास नहीं कर सका— फुर्सत ही नहीं मिली। सोचा मरने के बाद तो परख होगी— मोती परखे— ही जाएंगे !" और तभी जैसे ध्यान आया, बोले, 'माफ करना; समय लिया। मोती की जीवनी मेरी सन् '२६ की सर्जना है, बहुत पुरानी ! समझना तो कालगत कर समझना !"

छाया गायब हो गई। मैं आगे बढ़ा तो प्रवेश किया खान बहादुर नियाज अहमद ने नवाबी ठाट बाट में। उफ ! गजब का व्यक्तित्व। पक्का तीन मन का वजन, सफेद गुलगच्छ, पहिने हुए बढ़िया अलतस का अंगरखा, चिकन की नीमास्तीन। पानदान खोले जोहरा रंडी बैठी है पास में। मुझे देखते ही चमक उठे, जैसे कोई घोड़ा बिदका हो। घबराते हुए खड़े हो गये और कहने लगे— "तुम-तुम··· खुदा कि कसम तुम बताओ कौन हो ? हमीद म्यां... अरे हमीद म्यां यहां आना... कसम खाते हैं... हम पूछकर बताओ यह बुड्ढा खूसट कौन आ गया— म्यां देखो सरकार का कोई जासूस तो नहीं है। मैंने खानबहादुरी का खिताब लौटाया है तो कसम खुदा की अपने दिल के अन्धेरे को दूर किया है। हमारे मोती ने हमें सबक दिया है।"

नवाब साहब ऐसे नाच–उछल रहे थे, जैसे उनके कपड़ों में आग लग गई हो, या फिर पैर के नीचे किसी ने गोखरू बिछा दिए हों। जोहरा बेगम की तरफ़ मुख़ातिब होते हुए बोले— "हम क़सम खाते हैं हम कसम खाते हैं जोहरा बेगम इनको समझाओ कि हम कितने ही नवाब हों, कि चाहे हमने पचास बीबियां रखी हों फिर भी अपनी किस्म के एक नवाब हैं, कोई ऐरे-गैरे-नहीं हैं। हमें फ़क्र है अपने मोती पर...हम क़सम खाते... हम...।

"आप बैठिये ! मैं तो सिर्फ मोती से मिलने आया हूं, सरकारी जासूस नहीं हूं।" मैंने कहा !

कहने से नवाब साहब बैठे— "क़सम खुदा की मोती आफ़ताब है, देश का महताब है। वह इन्सानियत का जीता जागता बन्दा है। गारत हो यह पुलिस जिससे बेगुनाह हुसैनी को शक-ही-शक में मारा तकलीफ दे देकर। तुम चुप क्यों हो जोहरा तुम बोलो— वह तो तुम्हारा भाई है।"

जोहरा जो अब तक खामोश थी, बोली, "आप मिलना चाहते हैं मिलें कल ही उसका निकाह नवाब साहब की बेटी नीलम से हुआ है। वह वास्तव में इन्सान है, जो जाति धर्म से ऊपर इन्सानियत पर विश्वास रखनेवाला है। वह झूठ-मूठ में गंगाजली उठा सकता है, पर ज्यादा में माल बेचकर बेईमानी का मुनाफा नहीं कमाना चाहता। जिन क्रान्तिकारियों को उसने नहीं चाहा उन्हीं में से एक हंसराज के लिये उसने फांसी पर चढ़ना कुबूल किया और यही कहता रहा, वायसराय की गाड़ी को मैंने उलटने की कोशिश की, अकेले मैंने।" जोहरा के आंसू बहने लगे वह जैसे कोई रहस्य कहने जा रही थी— "मैं ही कायर निकली कि उसके सामने स्वीकार भी नहीं कर सकी कि हंसराज को मैंने चाहा है, उसकी पूजा की है।"

तभी पायजामा कुर्ता पहिने एक नौजवान आया। नवाब साहब फिर खड़े हुए कहने लगे, "यह है मोती ! हम क़सम खाते हैं कि यह आला इन्सान है, ऐसे ही इन्सानों से देश की तरक्की हो सकती है न कि बेइमानों से जिनका दिल कोयले की खान है।"

मोती ने कहा, "मैं कुछ नहीं हूं, बस सोचता इतना हूं, कि जीवन का जो अच्छा

मार्ग हो, जिस पर चलने से सबका लाभ हो, उसी पर हम चलें ।"

मोती ने वास्तव में मुझे प्रभावित किया । ऐसा चरित्र जो पाप-पुण्य में होकर भी उससे परे हो मन उसका उज्ज्वल हो । सन् २६ में चरित्र की यह पकड़ चतुरसेन जी की गौरवमयी प्रतिभा की द्योतक लगी । मैं लौट आया ।

छठी मीनार : अंधेरा, घुटन और दरारें

अजीब-सी बात है कि आज चांद नहीं, घटायें-ही-घटायें हैं । आसमान काला कलौंची हो आया है । बिजली चमकती है तो घटाओं की छाती को चीर जाती है फिर चमककर मिट जाती है बादल यूं गड़गड़ा रहे हैं कि जैसे गोले छूट रहे हों । मैं मीनार से निकला हूं हाथ में एक लालटेन लिये, कि बारिश धार-धार हो गिरती है— रोशनी में देखता हूं तो प्लेट नहीं है, पैर से टकराता है कुछ । प्लेट नीचे गिरी पड़ी है, पढ़ा । अन्धेरे बन्द, कमरे— मोहन राकेश । तेज हवा चली और भय से लालटेन बुझ गई— गनीमत थी कि दरवाजा जल्दी खुल गया और मैं अन्दर हड़बड़ाता हुआ घुस गया— बच गया नहीं तो फिसल जाता, न मालूम कि खेल यहीं खत्म हो जाता ।

मीनार में बिजली का प्रकाश खुला । उसमें था एक अड़तीस वर्ष का घुंघराले बालों वाला खूब सूरत व्यक्ति । पहने हुए था बुशर्ट-पेन्ट; नाक पर, नये फैशन का मोटे फ्रेम वाला चश्मा । लगा कि काफी पढ़ा लिखा है । बोला— मैं राकेश हूं । आगे इसमें वह दिल्ली है जिसे मैंने देखा, अनुभव किया है । यहां एक नई संस्कृति जन्म ले रही है, दूसरी तरफ बदबू और गन्दगी में पलती एक सीलनदार कोठरियों की जिन्दगी है जिसकी एक अपनी संस्कृति है । आगे जाकर देखिये ! आपको मधुसूदन परिचय करवाएगा इन दो संस्कृतियों से !"

पता चला कि मधुसूदन पत्रकार है, जिसने जीवन के मीठेतल्ख अनुभव पाये हैं । घूमते-घूमते हम पहुँचे कस्साबपुरे की बस्ती हरफूल में । गन्दी बस्ती है, टूटी हुई नालियों से पानी बह रहा है । जिन्दगी ठहरी हुई है— स्थिर । उसने ठकुरानी से मिलवाया, जिसकी बेटी निम्मा है, जो अब बड़ी हो गई है । वह निम्मा है, गरीबी के बोझ से लदी, अपनी विवशताओं की बोझिलता को लिये जैसे उसने अपने सपनों को बुझा

लिया है।

"यही हैं ठकुराइन; जिन्होंने कभी मुझे दो रुपये और पांच रुपये देकर अपने हृदय के सहज निस्वार्थ प्रेम को दिखाया था। यही ठकुराइन हैं, जो मुझसे यह कहकर आईं — 'अगर आओ तो भैय्या हमारी सिर आंखों पर।' और मैं था कि मैंने इसके हृदय को तोड़ा था, निम्मा से शादी करने की बात को टाला था।"

मधुसूदन आगे बढ़ा और बोला— "यह गंदी संस्कृति है दो रोटी, राख से बर्तन मांजने वालियों और प्याज की बदबू छोड़ने वालियों का संस्कृति।" मैं स्वार्थ से ऊपर हो ही नहीं सका इसके साथ कितने अन्दर बाहर से एक से हैं यह, पर हम कितने बाहर से कुछ और और अन्दर से कुछ और हैं।"

मधुसूदन ने तब मिलाया सुष्मा से, बोली "अगर कोई जीवन का मूल्य है तो इतना ही कि हर इन्सान अपने लिये थोड़ा बहुत सुख जुटाकर किसी तरह जी लेना चाहता है।"

जब वहां से चले तब मधुसूदन ने मुझसे कहा, "सुषमा— वह नारी है जिसने स्वावलम्बी और स्वतन्त्र बनकर पुरुषों की तरह जीवन यापन किया है। रिपोर्टर बनी— एम्बेसी–से सम्बन्धित रही जो विदेश की अपरोक्ष सहायक भी बनी, पर सब कुछ होते हुए भी जीवन में एकाकीपन था; एक ऐसी रिक्तता जहां नारी अपनी ही दृढ़ता से घबरा-कर किसी पुरुष के सामने आत्म समर्पण करना चाहती हो। इसने मुझे आत्म समर्पण करना चाहा पर शर्त कि मैं विदेश जाऊं ! वही स्वार्थ जहां त्याग कुछ नहीं, लेने को सब पर देने को शून्य।

यह नये उगते शहर की संस्कृति है— जहां स्वार्थ है, आकांक्षाएं हैं और अहं है। यह कैसा जीवन है कि पति-पत्नी का भी समझौता असम्भव हो गया है। मधुसूदन ने अपने मित्र हरवंश तथा नीलिमा की बात बताई। जैसे दोनों में अपने स्वार्थों को पूरा करने की होड़ हो, वही स्पर्धा जो व्यापार में होती है। जैसे हरवंश सहनशीलता के 'गर्व' में नीलिमा की रुचियों को टालता रहता है, नीलिमा अपने को स्वतन्त्र घोषित करके चलती है— एक बार चरम सीमा आती है कि नीलिमा छोड़कर चली जाती है।

नई संस्कृति में क्या समझौते, संतुलन और त्याग को स्थान नहीं है ? क्या स्वार्थ और लाभ की धुरी पर घूमने वाला अर्थप्रधान–युग जीवन को तितर–बितर करने को ही है ?

फिर मधुसूदन अपने आप ही उत्तर देता हुआ बोला–' है–शुक्ला और सरजीत में समझौता है, क्योंकि शुक्ला नीलिमा (अपनी बड़ी बहिन) के बारे में कहती है— "वह जो कुछ जिन्दगी में मिला है उसकी परवाह नही करती और जो कुछ नहीं है उसके पीछे भटकती है।"

यह एक आधार है जो इस युग के उच्छृंखल जीवन को संयमित कर सकता है। इसीलिये मैंने निम्मा को अपनाया। नीलिमा पश्चाताप कर हरवंश के पास आगई।

"राकेश जी आपकी स्वस्थ पकड़ सराहनीय है, पर अनर्गल बहुत स्थानों पर हो गये है— संयम रखते तो अच्छा था" यह राकेश जी से कहकर चला आया।

सातवीं मीनार : सफेद बर्फ और कोयले की खान

यह सातवीं मीनार थी जिसमें घुसते–ही मुझे एक महल दीखा नाम था 'स्वदेश महल !'

फाटक तक पहुँचा नहीं कि एक–युवक और एक युवती भागते हुए दिखाई दिये। मैं उनको देखने लगा कि एक ठोकर लगी— और गिर गया। हाथ में नागफनी चुभ गई, खून बहने लगा— आह निकली। तो भागने वाले युवक ने लौटकर देखा— दौड़कर आया और पकड़कर ले गया मुझे। मैं भी चल रहा था उनके साथ और वह युवती घबड़ा-घबड़ा कर कह रही थी— "यहाँ कि हवा विषैली है, इसमें दुर्गन्ध पलती है। उफ ! पटना दीदी छत से कूद पड़ीं ! कमीना देशबन्धु जिसको बेटी–बेटी कहकर पुकारता था शराब पीकर उसके ही सतीत्व का हरण करना चाह रहा था। ओफ़ आदमी।"

"जया तुम हांफ रही हो - रुको तो !" युवक ने कहा। जया चलते-चलते बोली— "तुम यहां से चलो शरद; तुम जिस देशबन्धु को देवता समझते थे, उसके

शैतानी रूप को मैं देख आई हूं— मैं मैं सीधी स्टेशन चलूंगी।" जया मेरा हाथ छोड़कर अब शरद को घसीट रही थी। मैं भी उनके साथ चल रहा था। पता नहीं कैसे बूढ़े की टांगों में विद्युतगति आगई थी। रुके तो सीधे स्टेशन पर ही जाकर !

वहां मिला सूरज ! शरद ने इसी नाम से परिचय दिया था। "यह," शरद ने कहा, "यह वास्तव में इन्सान है— चाहे अन्तर्विरोधों से पूरा जीवन दुर्भाग्य, प्रताड़नाओं और शोषण को सहता-सहता मजबूर हो गया तो 'अरे होगा—' का उदासीन दर्शन अपना बैठे। पर इन्हें भी निकाल दिया देशबन्धु ने ! अब यह कहते हैं हम, "बिगुल" अखबार निकालेंगे। "अरे होगा——।" की उदासीनता बगावत का बिगुल बजाने को तत्पर है, मज-दूरों में संगठन लाने के लिये जीवन अर्पण करने जा रहे हैं।

मुझे लगा कि वास्तवमें यह मनुष्य है। तभी वह बोला, "शोषण और अनाचार सहने की भी सीमा होती है। यह बाहर से जो कुछ भी चमकीला, महत्वपूर्ण है उसके पीछे, नीचे, पाप और अनाचार का मलवा सड़ांध दे रहा है। देशबन्धु और उनका सहयोगी 'ग्रुप' शैतानों और चालबाज़ शरीफों का वह समूह है जिनके कार्य नर्क से भी विभत्स, घृणास्पद और घिनौने हैं। यह कथोरिया जी, और थानेदार और लेबर इन्स्पेक्टर 'रोज' हैं। यहां माया बहिन है, देशबन्धु जी की रखेल। उन्हें चूसती हैं, और पद्मा को सिखाती थीं कि देशबन्धु के लड़के को फंसाए। देशबन्धु, वह नीच है जिसने अपने बेटे की बहू को नहीं छोड़ा, ड्राइवर केशव है जो अपनी बेटी को अपने घर रखे है। कितना विकृत–कितना जघन्य है सब कुछ–लिपा पुता, उज्वल, पंकमय।"

मेरी सांसे रुंधने लगीं। मैं वहां से लौट आया। मीनार के दरवाजे पर आया तो एक बर्स्ट था। तीखा नक्श, आंख पर काला चश्मा बाल सलीके से कढ़े ! पहिचाना— राजेन्द्र यादव ही थे।

पूछा, "कैसा लगा उखड़े लोग। खद्दरी नेता देशबन्धु को मैंने दिखाया है। ऐसा व्यक्ति जिनके चेहरे पर झिल्लियां–ही–झिल्लियां हैं— जो असली रूप को— काले रूप को ढके हैं।

"ठीक ही लिखा है। पर बहुत सूक्ष्मदर्शी हो गये है, कहीं-कहीं अनावश्यक रूप से विषद हुए हैं— फिर यह क्योंकि झट से पद्मा को कुंवा दिया, शरद-जया को भगवा

दिया ? उन्हें यह भी नहीं सोचने दिया कि बेचारे करेंगे क्या आगे। कौन था नायक ? देशबन्धु ! फिर यह शरद जया क्या ? और यह है तो इनको अनिश्चित दिशा क्यों। रोमांस तो इसमें है ही खूब— मिल का वर्णन देखकर आलोचक इसे महान कह दें तो बात दूसरी है— इतनी महान कृति नहीं है क्षमा करना !

यह कहकर मैं चला आया !

आठवीं मीनार : उक्... उक्... उक्

चांद चांदी का गोल छोटा चाक है, जिसका ऊपरी टुकड़ा कटा हुआ है— ऐसा लगता है कि जैसे कोई बड़ा पक्षी अपने पंजों से ऊपरी टुकड़ा तोड़ ले गया है। मैं मीनार तक पहुँचा तो बम्बइया आवाज़ आ रही थी अन्दर से—

कोई अभी हमेरे को बोले— अन्दर का पोल–पट्टी, क्या कभी बाहर नज़र पड़ेगा ? भुलेश्वर कैसा–क्या है ?... हमेरे से पूछो ! हमेरे कान से सुनो .. हमेरी आंखो से देखो !

बम्बई की बोली जो सुनी तो प्लेट पर निगाह गई— **कबूतरखाना— शैलेश मटियानी**। होठों पर मेरे मुस्कराहट फैली, याद आया बोरीवली से बोरीबन्दर तक ! तभी एक पहाड़ी युवक ने दरवाजा खोला। भरा-भरा चेहरा, तीखी नाक, बारीक मूंछे आंखे गम्भीर ! बोला: मैंने— शैलेश मटियानी ने, तीन वर्ष तक बम्बई में एक चाट की दुकान पर नौकरी की। एक रामा से उसकी आत्मकथा सुनी। कितनी ही घाटी' लोगों से उनकी जबानी सुनी : वही सब गरणपत 'रामा' बोलता है। जो आंखों से देखा, कानों से सुना वो य बोल्ता !"

और वह युवक हट गया। मैं गरणपत की आवाज़ तक पहुँचा, नशे में डूबा था वह। बाहर की दुनिया से बेहोश पर अन्दर की दुनिया में चेतन !

मैंने पूछा, "शराब क्यों पीते हो ?"

बोला : हमेरी लावारिश जिन्दगी में आगे पीछूं से, ऊपर नीचूं से बेशुमार गमगीनी का, बरबादी— बदनशीबी का दरिया समंदर ! दरिया— समंदर को पार करने का वास्ते दारू का बालटी को कश्ती का माफ़िक इस्तेमाल नहीं करिंगा, तो क्या अपनी

'.......' को '...' ...... ।"

बोले तो साफ बात, दारू पिएगा ...... दारू हमेरा बाप पिया, हम पिएगा और सेठानी वसुन्धराबेन, वसन्ती बेन ... याने किसी भी डेमिश औरत से हमेरा पैदा होने वाला बेटा भी पिएगा !

गणपत यहाँ आकर जैसे रोने-रोने-सा हो गया बोला: नहीं तो हमेरे को हमेरी गंगा बहन दो, हमेरे को हमेरी भाई दो, हमेरे को हमेरी सईदन दो ... आप लोग हमारे भाई-बाप ... हमेरे को कबूतर से इन्सान का जिन्दगी दो ...... !

मैं बुजुर्ग जो अपने को राग-द्वेष से अप्रभावित समझता था, हिल गया, मेरी भावना गणपत के रुदन से छल छला उठीं। वह खड़ा हुआ, उसने कहा, "आओ— मेरे साथ आओ देखो !"

कमाठी पुरा की तेरहवीं गली। रंडियों की मालकिन कृष्णा बाई चिल्ला रही है— गंगा ने फाँसी लगाली है। और पान वाले भैय्या जो कह रहे हैं— गर्मी की बीमारी से तड़पती थी, औसत से ज्यादा ग्राहक लेती थी— जिस्म टूट गया।"

मैंने गंगा को देखा मुझे लगा रामायण की सीता फांसी लगाए लटकी है। उफ !

गणपत नशे में लड़खड़ा रहा था। बोला, "नहीं अभी और देखो— वह ! यह कमला है, पवनपुर की पचास रुपये वाली कभी जो परी थी वह कमला :

कमला कह रही थी, "बाबू लोगों ने नोट के बण्डलों के साथ-साथ बीमारियों का बण्डल भी दिया— गर्मी हो गई। दवा के पैसे कहाँ से आएँ पेट को रोटी नहीं जुटा पाती। आज बड़ी मुश्किल से नीचे उतरी थी ... एक ग्राहक मिला एक रुपया दिया ... एक एक हड्डी अलग करके चला गया। ...... बेचारा साथ में बीमारी भी ले गया ... ।

मुझे लगा सती अनसूइया लड़खड़ा कर गिर पड़ी है, उर्मिला चिल्लाकर कह रही है— मैं यह रही ... यह रही।

"अभी और देखो !" गणपत पर नशा हावी था ! "लालजी सेठ की यह नीलाम्बरी है। होटलों के रामा लोग उसका जिस्मकूँ कापूस की माफ़िक धुन दियेला ।

मरका का माफिक जिसम कूँ मजिया मरीज कर दिगेने।" अपना रामा लोग वगैरह पट्टा जंजीर के कुत्ते !

और वह रही नीलाम्बरी की बेटी जमुना— दातून बेचने वाली इसे— देसाई सेठ ऊपर लाया और खेल कर पटवर्धन को सौंपा। सेठानी पटवर्धन से खेली। यही जमुना शकुन्तला बनी सेठ ने अपनी जिन्दगानी कुरबान कर दिया।

मुझे लगा कि अहिल्या, सावित्री, सब बिक रही हैं ! ओफ ! दम घुटने लगा— नारी का यह रूप भारत में वैभव से चमकती पूंजीपतियों की नगरी में ! क्या प्रजातन्त्र हमेशा हर जगह पूंजीपतियों का ही पोषक है जिसके नीचे ग़रीब और औरत पिसती ही जाएगी ?

गणपत बोला— यह रमजानी गुर्बानी, सुलेमानी, या वासन्ती यह जसोदा सेठानी, शारदा सेठानी, वसुन्धरा यह खिलौने ही तो है इन कामान्ध कुबेरों के ! अर्थ को जीत कर काम में डूबने वाले नार्कीय पुरुष ही तो हैं, जो नारी को नर्क के कुंड में ढकेल रहे हैं !

गणपत नशे में ही बोला— "क्या यह किसी का भाई-बहन नहीं ? ये लोग इन्सान नहीं ? इन्सानियत की चौपड़ी पर कोई कायदा कानून नहीं ?

सरकार, बोले तो हमेरी भाई-बाप !
नेहरू जी, बोले तो, हमेरे राम राजा

अपना देसाई— चव्हाण साहिब भी बोले तो लक्ष्मण-भरत सरीखे ! पर मुझे लगा कि कोई जवाब नहीं है। ऊपर से नीचे तक के पूंजीपतियों पर निर्भर भ्रष्ट प्रजातंत्र में जहाँ अर्थ पिशाचों का ज़ोर है यही होगा — क्यों कि ग़रीब हमेशा निःसहाय रहेगा।

मैं लौट आया शैलेश से यह कहता हुआ। "तटस्थता बर्ती है, यथार्थ दिया है पर 'कुछ 'संयत' होना अपेक्षित है। संशय एक होता है कि कहीं अतिरंजना तो नहीं है— नहीं है तो सराहनीय है।"

नवाँ मीनार : मंडप के नीचे जलते आंचल

चांदनी की सरिता में तैरता चाँद। डूबती उतराती तारों की टोलियाँ। क्षीर-

निधि में नहाती मीनारें। रागिनी की स्वर लहरी सा बहती पवन। मैं जैसे किसी कल्पना लोक की सुरम्यता के बीच से गुजर कर इस मीनार तक आया हूं; दृष्टि ने लिखा हुआ पढ़ा 'प्यास के पंख' यादवेन्द्र शर्मा 'चन्द्र'।

एक गौरवर्ण युवक ने दरवाज़ा खोला! भरा-भरा चेहरा, आंखों पर चश्मा, होठों पर स्मित, और दृष्टि में आह्वान! मैंने प्रविष्ट किया! अब तक जितनों से मिला कदाचित उनमें सबसे कम उम्र का!

"तुम, उपन्यासकार?"

"क्यों; छोटा होना दोष है? मैंने तेइस उपन्यास लिखे हैं; कितनी ही भाषा में अनूदित किये जा चुके हैं। साधना और श्रम उपलब्धिहीन तो नहीं जाते। संन्यासी और सुन्दरी दीया जला! दीया बुझा!! खम्मा अन्नदाता मैंने ही लिखे हैं। 'प्यास के पंख' में युग की उस प्यास की बात की है जो जीवन सम्बन्धों को सुगति से दुर्गति की ओर लेजा रही है— वासना की वेगवती प्रवाहिनी जीवन के कूलों को डुबो कर बाढ़ का रूप धारण कर रही है— इस में उसकी थाम का समाधान है!

"मैं, समझा नहीं, क्या कहना चाह रहे हो?" मैंने पूछा.

उत्तर मिला, "चक्र से पूछिये।" वह वहां है।" चन्द्र गम्भीर हो आया था। फिर जैसे भूमिका बनाने के लिए बोला— "यह चक्र हैं, सुदर्शन के बड़े भाई, जो धन को भाई के नाम कर स्वयं बौद्ध भिक्षु का सा जीवन बिता रहे हैं, तीर्थाटन रहते करते हैं। इस प्यास के पंख' के मुख्य पात्र मेरुदण्ड!"

चक्र तक पहुंचा, पूछा, "देश की वर्तमान मुख्य विषमता क्या है जो जीवन को विषाक्त बना रही है?"

"मनुष्य की इच्छाएं, वासनाएं और अतृप्तियां, जो अनगिनत तारों की भांति असंख्य हैं, और प्राणी को निस्सीम निखिल व्योम में उड़ाती रहती हैं तृष्णा का अन्त आवश्यक है। मैंने इसी तृष्णा की धुरी पर घूमती उस नारी विमला को जाना जो अपने वृद्ध पति को इसलिये त्यागने को उद्यत है क्योंकि वह पौरुषहीन है। वीणा, जो आत्मपीड़न और परपीड़न को जीवन का आधार बनाए है और विमला की सहेली है, उसको मैंने अभिमति दी कि वह अपनी सहेली को इस कार्य से रोके। एक सुख (काम) के अभाव में

नारी पुरुष का सम्बल लेती ही क्यों है ? नारी को नर चाहिए ही । क्या यह दूर्बलता नारी की पराजय का द्योतक नहीं है ? मैंने लिखा: आरोग्य परम लाभ है, संतोष परम धन है, विश्वास परम बन्धु है ।''

मैं चमका; यह कैसी क्लीवता पूर्ण सम्मति ।

चक्र बोलता; ही गया, ''वासना की तृप्ति रुढ़ि के प्रहार की संज्ञा नहीं हो सकती । भ्रष्टाचार एक गति बन सकता है, सत्य नहीं । वृद्ध विवाह को मत होने दो । जड़ की समाप्ति के बाद यह वृक्ष कभी नहीं लगेंगे । कुणाल को देखो उसने अपने पिता का विरोध किया क्योंकि वह वृद्ध था, उसने युवती विमला के साथ ब्याह किया था ।''

तभी पता नहीं कैसे एक युवती उपस्थित हुई, जैसे कुहासा फटा हो और कोई बिजली तड़पकर चमकी हो । वह चक्र पर डपट-सी पड़ी:

''अनर्गल वचन, अस्पष्ट चिन्तन और पलायन पूर्ण दर्शन क्या सही कथ्य है तुम्हारा ? तृष्णा का संयमन, या वासना का संयमन, या काम का शमन आखिर क्या है जो तुम चाहते हो ? कुणाल···कुणाल क्या विद्रोही है कुणाल ? मुझे न्याय के हाथों में छोड़ना, कहना कि माँ और विमला में मेरे लिये विशिष्ट अन्तर नहीं, यही है न उसका विद्रोह ? और तुम ! तुम अपने को मानव का हितैषी कहते हो ? मैंने अपने भविष्य को अंधकार भरी गुहा में निर्लक्ष्य छोड़ दिया और तुम्हें वहाँ आलोक के पदचिन्ह दीखे ! तुमने नीति वाक्य बोला, ''सत्यजीत गया, प्यास पंख हीन हो गई । ''

चक्र धीरता से बोला, ''तुम दिक्भ्रांत थीं, कामान्धता ने तुम्हारी आँखों पर पट्टी बांध दी थी । तुम कुणाल का हरण कर रही थीं । तुम क्यों नहीं सोचतीं कि सम्बधों को विषाक्त करने वाली यह तृष्णा ही है, जिसने सूरज की दुश्चरित्र क्लब की युवती से शादी करवाई, तुम तलाक अपने पति को दे रही हो, वीणा क्षयरोग की रोगिणी हो अपने दिन गिन रही हैं ।''

विमला का संयम छूट गया, रोष से कांपती हुई फटपड़ी, ''क्यों तृष्णा-तृष्णा चिल्ला रहे हो ? कहते क्यों नहीं भौतिक लिप्ति में संयमन अपेक्षित है । जिस 'काम' के अवरोधन, नियंत्रण और दमन की बात तुम करते हो, क्या वह विशृंखलित कौटम्बिक

जीवन का सही समाधान है ? समझौते के नाम पर क्या तुम पलायन की दीक्षा नहीं देते फिरते हो ? तुम्हारा मतलब है मैं उस पति से विद्रोह नहीं करती जो बद्रा जैसे सद चरित नौकर को शक के कारण निकालता है, और जो चाहता है सूरज से या किसी नौकर से वासनात्मक सम्बंध रखूं ? वीणा ने वासना पर संयम रख कर क्या पाया ? कुणालसे क्या विद्रोह किया यही कि मुझे कानून के हाथ में छोड़ा ? हम सब यूंही पुरुषों के शोषण के शिकार बनते रहे और तुम जैसे हमें यही उपदेश देते रहें कि संतोष परम धन है। तुम जैसे वागी पलायनवादी ऐसे ही दर्शन का प्रचार कर सकते हैं। अपने को हमारी पत्थरों से दबी जिन्दगी के नीचे दबाकर देखो तो पीड़ा क्या है, सांस का बोझ बन जाना क्या है, पता चले ! बौद्ध दर्शन की तृष्णा को समझो वह मात्र काम या वासना ही नहीं !"

विमला चुप हो गई और हवा के झोंके—सी आई थी हवा के झोंके—सी चली गई। चक्र का चेहरा अप्रतिम रह गया। मेरे जानने के लिये अवशेष कुछ नहीं था लौट आया।

दसवीं मीनार—बंजारी के आंसू और नेहरू को पत्र

आरम्भ का अंत। आखिरी मीनार इसके बाद अलविदा ! यह दसवीं मीनार के ऊपर जो तख्ती लगी है उसपर लिखा है **सूरज किरना की आंख, राजेन्द्र अवस्थी 'तृषित'** अन्दर प्रवेश लेता हूं। दूर से ढपली और चंग की संवेत लहरी हवा पर तैरती आ रही है। दूध-सी धुली चांदनी में धरती का अंग-अंग डूब रहा है। स्वर आ रहे हैं।

हाथ धरे टंगिया, कांधे मां बसुला !
चलेला डोंगरी पहरिया,
बिरछबन रसिया हो !

मैं सम्मोहित—सा आगे बढ़ रहा था कि एक मकान के आगे सांवली युवती बैठी दीखी। वह भी दूर सी आती हुई स्वर लहरी को सुन रही थी, वह लीन थी, लगा कि जैसे किसी स्वप्न लोक में विचर रही हो।

"कौन हो तुम ?" मैंने धीमे स्वर में पूछा।

'मैं' जैसे वह किसी ऊंचाई से नीचे आ गिरी हो, चकित हो मुझे देखने लगी।

"कौन हो तुम ?" मैंने वत्सल-स्वर में दोहराया।

"मैं बंजारी हूं···मैं बेंजो जोसेफ हूं···मैं मिस उषा हूं ! कहो ?"

"यह कैसे ?" अब मैं उसे आश्चर्य से देख रहा था।

उसके होठों पर मुस्कराहट फैली—पर मुझे महसूस हुआ उस मुस्कराहट में बिसूरते हुए विदीर्ण हृदय की पीड़ा थी, दर्द की छनकन थी, कहीं अपनी मुस्कराहट का ही उपहास था।

वह बोली, "इस दुनियां में औरत बनना सबसे बड़ा पाप है।" फिर जैसे वह बहक गई, "वच नरवा का किनार, महुआ के लाल फूलों की कुमकुम···करमा के साथ ददरिया, शैला के साथ रोना झरपट और झुम्मा और···और और वह विलियम !" बंजारी रुक गई।

"क्यों ? रुक क्यों गई ?" मैंने पूछा।

"जिसने कलदार नहीं देखे उसे रुपये दिये गये। दस का नोट दिया गया। बहिन कह कर साड़ी दी गई और रसीली बातों की फिसलन बिछाई गई, और फिर उसी को नरक की आग में ढकेल दिया गया—वह रोती रह गई, वह रोती रह गई, वही यह बंजारी है, वही विलियम की शैतानी हविश में धोखा खाकर झुकजाने वाली गांव की लड़की है। इस के पेट के पापने इसे बेंजों जोसेफ बनवाया—खिस्तानी। इसे अपना गांव छोड़ना पड़ा, अपने ताप्ते को छोड़ना पड़ा अपनी आवा से बिछुड़ना पड़ा।"

सामने बैठी बंजारी का दिल भर आया। उस की आंखें डब डबा आईं—दूर से आने वाली धुन में पायल की झुन झुन मिल गई थी, तर्ज बदल गई थी—साफ राग आ रही थी।

ये हे हे, हाय रे हाय
हे हे हे ऽऽ हायरे हाय
मोला पायरी के सायरे लय वे ऽऽ
हीरा रुन झुन बाजे रे !

बंनजारी अपनी कहानी कह रही थी ! जोसेफ ने भी तो सुखी नहीं रखा। उसने मुझे मारा, पीटा। मैंने अपने हृदय का सारा प्यार उसपर लुटाया वह रूबी में रमा रहा ! मेरी बेटी मुझ से छीन ली गई। जोसेफ ने चाहा कि विलियम दुबारा खेले मुझ से ! और वह···रात···वह रात !

बंजारी फिर रुक गई। आंसुवों का बहाव गालों को डुबोने ने लगा था। वह कहने लगी :

उफ ! उस रात मेरी आंख के सामने अंधेरा छा गया था। उस दिन मुझे लगा जिन्दगी कुछ नहीं है। मैं दहाड़ मार कर रो पड़ी थी। कमीना जोसेफ, मेरा पति जो सेफ मुझे होटल मालिक कपूर के हाथ पांच सो में बेच गया। मुझे वजनी और संध्या का पेशा अपनाना पड़ा। मुझे भूखा रखा गया और हंटरों से मारा गया बेंजो जोसेफ मिस ऊषा बन गई। यह देखो यह देखो !"

कहते-कहते बंजारी ने अपनी पीठ का कपड़ा हटा दिया। उस पर हंटर की मार के नीले निशान बने थे।

फिर उसने आंसू पोंछे और सम्भली; बोली यहां पादरी, विलियम, सिदोराम काका और कपूर जैसे शैतान है तो ग्रेसरी, डाकघर और मेरा कंगला और उसके अफसर जैसे भगवान भी हैं। कंगला ने मुझे तार दिया—मुझे मेरे गांव की मिट्टी दी वहां का जीवन दिया :

सम्वेत स्वर आ रहा था :

नरवा बहाये
सोनू गंगा नहाये
होय तेरे नाना
जवाहिरलाल

फिर बंजारी ने मुझे कागज दिया. बोली कभी मिलो तो जवाहिरलाल को देना: लिखा था: बंजारी लिखे सो यह कि हमारे, हम अध भूखे, अध नंगों की दशा को उन्नत करो। अनपढ़ों को पढ़ा बनवाओ, धरम बचाओ—आंसुवों की स्याही से लिखे

यह बंजारी !

मैं चिट्ठी लेकर अपनी मीनार में आ गया। और अब यह रात हटने को है। भोर होगी सूरज अपनी किरणों को बिखेरेगा—और मैं दस दिन बाद—शाप से मुक्त होकर अपनी दुनियां देखूंगा ! मीनारों का यह देश मुझ से दूर रह जाएगा—दूर पीछे··· बहुत पीछे।

उपन्यास समग्र मानव-जीवन की रंग-बिरंगी अनुभूतियों की सबल अभिव्यक्ति है जिसमें जीवन खुलकर हंसता जमकर रोता है, और अपनी बात निःसंकोच सुनता है और सुनाता है।

—प्रशांत

दशक : दस कहानियां

'नये–नये आने वाले'

'नील झील'

'भूदान'

'नकली हीरे'

चलित चित्त

'भोलाराम का जीव'

बारूद और बच्ची

मिस पाल

किस्सा एक शुतुर्मुर्ग का

लाल पान की बेगम

पूनम वईया

उस दिन सोमवार था। कार्यालय में बैठा डाक की प्रतीक्षा कर रहा था। १२–१२। बजे के करीब मैंने 'लेटर बॉक्स' खोला। पत्र मिला। लिखा था 'सम्पादक वातायन।' कमरे में आकर पत्र खोला—लिखा था—

प्रिय सम्पादक जी !

सम्भवतः आप मेरा पत्र पाकर चकित हो रहे होंगे। शब्दों के बहाने आपसे पहली बार मिल रही हूं। यह सोचकर कि आप मेरी बात पर ध्यान देंगे, आप तक अपनी बात पहुंचा रही हूं। श्री राजेन्द्र यादव ने अपनी 'नये–नये आनेवाले' कहनी में मेरे माध्यम से जिस गुत्थी का चित्रण किया है, उसी के लिए कुछ कहना है।

मैं तो वैसे ही उनकी प्रतीक्षा करते-करते लेट गयी थी, वे जब मेरे पास बैठे तो उनकी आवाज मैंने अनसुनी करदी— उन्होंने सोचा मैं सो गयी हूं, और वे लगे अपने मन की भड़ास निकालने। आदमी भी कितना विवश होता है विचारा। अफसरी का मुलम्मा चढ़ जाने पर वह अपने भीतर से कैसा है, लोगों को कह भी नहीं सकता। और

यह भी गनीमत रही कि दो चार बार जब भी उन्होंने मुझे पुकारा मै चुप रही और उन्होंने मुझे सोयी जानकर अपने मन की बात इसी ब्याज मे कह डाली। उनका कहना भी ठीक है कि वे किस-किस को नौकरी दें। इतने बड़े आदमी हैं, पैसा है, सुख है, सभी कुछ मौजूद है। परन्तु मोहन भाई के लड़के को देखते ही उन्हें वे अपने पुराने आदर्शी दिन स्मरण हो आये। वे कितना मन से चाहते रहे कि जगत को लेकर बाहर जायें, उससे मोहन भाई की खूब बातें करें परन्तु अफसरी, अर्थ का व्यवधान जो था। वे नई मिल के डाइरेक्टरों में से हैं; जगत उनसे नौकरी लेने आया। ये भी कैसे हैं कि उससे नौकरी की तो बात की नहीं उससे जीवन का ध्येय पूछ बैठे। जगत आदर्शवादी लड़का है— कह दिया उसने — मानवता की सेवा करूंगा। उसका कहना ठीक ही तो था कि आज हम अपने–परायों किसी को अपना विश्वास नहीं दे पाते, किसी से सुनकर अपने दिल की बात नहीं कह पाते, हमेशा जैसे आधी बात पेट में रखते हैं; आधी को तोड़-मरोड़कर कहते हैं। हमेशा डरते रहते है कि कहीं कुछ ऐसा न कह जाएं कि अनर्थ हो जाए, हमने एक–दूसरे से खुले दिल से मिलना और व्यवहार करना छोड़ दिया है। लेकिन उनका भी यह सोचना गलत तो नहीं कि ये सब-विश्वास, आदर्श-व्यवहार में आते ही रफू चक्कर हो जाते हैं। इस शहर में ऐसे शब्दों की ढाल बनाकर लोग ठाठ-बाठ से रह रहें है। इनके वास्तविक अर्थों को आज की अर्थ व्यवस्था ने भुला दिया है। यद्यपि वे यह चाहते रहे कि वे जगत से और भी बातें करें और स्टैनों को बुलाकर काम भी कराते रहे परन्तु उनके दिमाग में मोहन भाई व भाभी की स्मृतियों लहरातीं रही तो भी वे कुछ नहीं कर पाये और न ही जगत से खुलकर अपने दिल की बात कह पाये। हर समय उसके और उनके बीच अफसरी खड़ी रही। जगत जैसे सैकड़ों आदमी इस शहर में मानवता, आदर्श, विश्वास की बात लेकर आते हैं पर वे नहीं जानते कि इन सब का इस शहर में कोई अर्थ नहीं है, चारों ओर झूठ, दंभ, छल भरे पड़े हैं।

खैर ! छोड़िये सम्पादक जी ! इन बातों को। आप ही कहिये मैने नींद का बहाना ठीक किया न ! क्योंकि यदि मैं जागकर उनसे बातचीत में लग जाती तो वे सारी बातें कह ही नहीं पाते वे इस भ्रम में, मैं सुन रही हूं नहीं भी सुन रही हूं और लगातार अपने मनकी बात कहते रहें। सोचती हूं अब तो आपने पूरा परिचय पा लिया होगा। जैसे इस शहर में नये नये आने वाले युवक मानवता और विश्वास जैसे शब्दों का असली

अर्थ कुछ ही दिनों में पा लेते हैं।

आपसे सम्बन्ध तो हो ही गया है। पत्रोत्तर देंगे न ?

सधन्यवाद।

भवदीय

रम्मी

दूसरे दिन पुनः मुझे लेटर बक्स में एक पत्र मिला, लिखा था—

प्रिय महोदय,

आ तक पहुँचना भी एक अच्छी राही। क्या करु चारों ओर प्रेम की बात हर नये कोण से देखने, पढ़ने, और सुनने को मिलती है। मैंने भी प्रेम किया है। गवाही है कमलेश्वर जी की "नीलझील आप यदि कभी इधर पधारें तो खुद ही पूछ लीजियेगा कि क्या महेसा जो कह रहा है वह ठीक है ?

मैं बिचारा एक मामूली मजदूर ! किन्तु यौवन की बहार तो गरीब अमीर नहीं देखती ! यौवन का आकर्षण हर दिल में छुपा बैठा है। 'नीली झील' पर जहां पास में ही मैं बस्ती से झील तक रास्ता बनानेवाली गैंग में काम करता था, हमेशा नये नये जोड़े अपनी खूबसूरती बखेरते हुए आते थे, उनमें औरतें भी होती थी और मैं उनकी झील के पक्षियों से उपमायें देता रहता था। साथ साथ मेरे मन में यह भी कामना रहती थी कि मुझे भी इसी प्रकार की सुन्दर औरत मिलें। मैं तन का भूखा नहीं था, मन की तृप्ति चाहता था। तभी तो मैंने इस नीली-साड़ी वाली औरत को, जब तक वह प्यार से बातें करती रही, सब कुछ बताता रहा। परन्तु बन्दूक वाले साहब की ओर जब उसका ध्यान चला गया और मुझे पैसे मिले तो सारा आकर्षण गायब हो गया और मैं भारी मन वापिस आ गया।

गांव की पंडिताइन में वह बात थी जिसे मेरा मन चाहता था। तभी तो मैंने गैंग को छोड़कर उससे व्याह कर लिया था। वह मुझे मन से कितना प्यार करती थी। मैं भी उसके लिए दुकान पर से मेमसाबों वाली फैशन की चीजें लाकर देता था। परन्तु कभी कभी दिल उचाट हो जाने पर नीलझील तक पहुँच ही जाता था और यह

पंडिताइन को जंचता नहीं था। पंडिताइन परबती चाहती थी घर में बच्चे हों वैसे वह मुझसे उम्र में काफी बड़ी भी थी। परन्तु उसके तन और मन का सौंदर्य स्वच्छ उज्जवल था। मैं चाहता था परबती मेरे साथ झील तक घूमने चले किन्तु उनके तो बच्चा होने वाला था, कैसे चल पाती। न मालूम परबती इन दिनों क्यों यह सोचने लगी थी कि— अब वह मर जायेगी। तभी तो वह कहा करती थी कि एक धर्मशाला व एक मन्दिर बनालूँ। मुझे क्या मालूम था कि सच ही परबती अस्पताल से जीती जागती घर नहीं पहुँचेगी। मुझे बहुत ही दुःख हुआ। मैं नीलीझील पर जाता पर वहाँ पर भी मन नहीं लगता। जैसे ही कोई शिकारी पक्षियों को मारता, मेरे मन को बहुत तकलीफ होती। परबती की स्मृति में मन्दिर और धर्मशाला बनाने के लिए मैंने सभी से अपील की और बैंक में खाता खोल दिया, सभी ओर से चन्दा आने लगा। गांव में जगह भी बिक रही थी। किन्तु रोजाना झीलपर पक्षियों का शिकारियों द्वारा मारा जाना मुझे असह्य हो गया था। जब भी नरम पंखोंवाली चिड़ियों को शिकारी मारकर ले जाते थे तो मुझे परबती की याद ताजा हो उठती। और मैं पक्षियों की मौत को देख देखकर इतना परेशान हो गया था कि नीलाम वाले दिन मैंने तीन हजार रुपयों में चबूतरे की पास वाली जमीन न खरीदकर दलदली नीलझील खरीद ली। चाहे लोग यह कहते रहे कि मैंने उनके साथ धोखा किया। मेरा मन खुश था कि पक्षी अब वापिस आयेंगे और फिर अबसे वे मारे नहीं जायेंगे इसीलिए मैंने भी झीलवाले रास्ते के पहले मोड़ पर एक तख्ती टांग दी, उस पर लिखवा दिया "यहां शिकार करना मना है।

.... और आज भी मैं दो बातें सोचता रहता हूँ कि नारी पुरुष के व्यक्तिपरक देहिक प्रेम से बड़ा कोई दूसरा प्रेम होता है और जीवन साथी के बिछोह से भी अन्य कोई बड़ा वियोग हो सकता है। अस्तु !

बहुत कुछ मैंने कह डाला है। अब आपके उत्तर की प्रतीक्षा में हूँ—

भवदीय

महेश पांडे......।

तीसरे दिन की डाक से भी इसी प्रकार का एक पत्र था। इसको पढ़कर तो थोड़ा दुःख भी हुआ। लिखा था—

श्री सम्पादक, !

नमस्कार ! मैं कोई आपको नयी बात नहीं कहने जा रहा हूं। आपने सैकड़ों के मुंह से 'भूदान' की बातें सुनी होंगी, अखबारों में या इधर उधर पढ़ा भी होगा। मेरे जैसे कई मजदूर किसान जमीन होते हुए भी भूख-प्यास से काम करते करते मृत्यु को पहुँच गये।

विनोबा बाबा बड़े साधू महात्मा हैं। योगी पुरुष हैं। 'भूदान' आन्दोलन खड़ा किये उन्हें वर्षों हो गये। कईयों को जो बिना भू के दान की भू दिलायी परन्तु उस गांव में जहां पर वे जमीन बांटते हैं पीछे से क्या व्यवस्था रहती है इस ओर ध्यान नहीं देते। मैं भी इसी चक्कर में आ गया। मुझे बाबा के आन्दोलन या बाबा के व्यक्तित्व से शिकायत नहीं है। शिकायत है तो बाबा जिन पर विश्वास कर लेते हैं या जो व्यवस्था देखते हैं, उनसे है।

जब मैंने सुना विनोबा आ रहे हैं। बड़ी खुशी हुई। जमींदार ने बुलाकर जो भी थोड़ी बहुत जमीन थी वह यह कहकर ले ली कि इसके बदले में पांच छः बीघा जमीन तुम्हें भूदान से दिलादेंगे। मैं भी उससे मुकदमा करके लड़ाई नहीं लेना चाहता था अतएव हां भरदी। जसवंती ने भी जब सुना तो उसे खुशी हुई कि भूदान से उसे भी जमीन मिलेगी। और एक दिन आया जब भूदान में हमें जमीन मिली। वह बादामी कागज का टुकड़ा जो भूदान कमेटी के मंत्री ने दिया था सोने के पत्तर—सा लगा। परन्तु मुझे क्या पता था कि वह केवल पटवारी के कागज पर ही था। असली नहीं था। और मैं ठाकुर की धोखा घड़ी से बिना जमीन हो गया।

अब तो नहर में फावड़ा चलाते चलाते शरीर सूखकर कांटा हो गया है और सांस की बीमारी के कारण चारपाई पर पड़ा हूं। जसवन्त का वह चेहरा पीला, मुर्दार हो गया है।

मेरे जैसे कितने ही भाई किसान और होंगे जिनको भूयें के स्थान पर बुढ़ापा, खांसी, बलगम, रोग और मृत्यु तो अवश्य मिली है पर भूंय नहीं मिली। इसीलिए तो कहता हूं कि विनोबा साधू, ज्ञानी, महात्मा हैं परन्तु राजनीतिज्ञ नहीं। कभी साधु ही

खेत-मजूर को भूँय दिला सकते है··· पत्रोत्तर देंगे न ?

भवदीय

रामजतन

चौथे दिन की डाक से नीले लिफाफा वाला एक पत्र मिला । अजीब सी लिपिमें था । उत्सुकता बढ़ी । पत्र खोला, लिखा था,—

सम्पादक महोदय,

स्यात् आपको थोड़ा बहुत अटपटा-सा लगे कि कौन लड़की है जो बिना परिचय दिये अपना ही अपना कहना चाह रही है । मैं जो कहना चाह रहा हूं वह आप भी व अन्य भी महसूस कर रहे हैं कि पुराने मूल्य परिवर्तित आर्थिक ढ़ाचे में टूट रहे हैं । हम स्वयं उन्हें खपच्चियों द्वारा जोड़ रखना चाहते हैं । पर स्वयं टूट जाते हैं । टूटने पर फिर दुःख होता है । फिर भी यदि स्नेह, प्रेम बना रहे तो गेंदा की प्रेम पगी, पैसे की माला, सुगंध रहित हीरे के कंठे से ज्यादा मूल्यवान होती है । दीदी ने कितने अच्छे अच्छे हीरों के हार मेरे सामने रखे किन्तु मुझे तो सारे ही 'नकली हीरे' ही लगे— मन्नू भण्डारी जी अच्छी है जो मेरी बात की सत्यता को पहचान रही हैं । यदि मैंने अपने पसंद की शादी करली है तो इसमें मेरा कोई दोष है । ठीक है मेरा पति पैसेवाला, ऊंचे ओहदेवाला नहीं तो क्या हुआ, मैंने तो कभी ऊँचे ओहदे, पैसे आदि के बारे में महसूस ही नहीं किया । मुझे जो चाहिए वह प्रेम मेरे पति से मिल जाता है । मैं उनके साथ सुखी हूं ।

इस मेरी शादी के कारण पिताजी नाराज हैं । दीदी भी । पर आज तो दीदी ने इतने वर्षों बाद यहां पर अपने घर बुलाया है । दीदी हर अपनी बात हावभाव से यह जताना चाहती है कि वह सुखी है कितना ऐशो आराम, पैसा, बंगला, नौकर-चाकर है तथा पति कितने बड़े आदमी हैं पर मुझ पर कोई असर नहीं होता । मेरा मन इर्ष्या नहीं करता । मैं अपने सादे कपड़ों में रहती हूं । दीदी चाहती है उसके साथ पार्टी में कीमती साड़ी पहन कर चलूं । पर मैं तो अपनी सादी साड़ी में ही ठीक हूं । पार्टी बुलाई दीदी की दोस्त ने । इन पैसोंवालों के पास कोई काम तो होता नहीं है बस पार्टियों आदि में ही समय बर्बाद करते रहते हैं खैर । पार्टी में देखा बड़ी सजीधजी दीदी के

दोस्त बैठे हैं। मेरा परिचय कराया गया। मेरी सादगी को देखकर दीदी की फ्रेन्डस मुस्कराती रहीं। उन लोगों की बातों से ऐसा लगा कि उनका सारा प्रेम ऊपर ही ऊपर का है। अन्दर कोई एक दूसरे को नहीं चाहती। सभी एक दूसरे के पतियों के साथ किसी और का नाता जोड़कर मजाक उड़ाती हैं। हम जब पार्टी से वापिस आये तो रात के करीब बारह बजे दीदी ने जीजाजी से फोनपर बातचीत की परन्तु न जाने क्या हुआ कि मुझसे यहकर कि वे वहां पर नहीं हैं क्लब गये हैं उदास हो गयी। दूसरे दिन दीदी जवाहरातवाले की दुकान पर ले गयी। मैंने कुछ नहीं लिया। दीदी ने बहुत कुछ कहा परन्तु मैंने नहीं लिया। दीदी ने एक हीरों का हार खरीदा। फिर मेरा तार आ गया और मैं अपने पति के पास चली आयी।

मैं सोचता हूँ चाहे ममी ने मुझे घर से निकाल दिया है। पर मैं क्या करूँ। पढ़ी लिखी संतुलित आधुनिका हूँ कोई 'ओल्ड़ गर्ल' नहीं। आज चाहे दीदी नाराज हों पर अब वे अवश्य ही पछता रही होंगी, कुढ़ रही होंगी। ऊपर से चाहे जितना पोज किए रहे, चाहे जितने नकली हीरे खरीद लें पर असली हो ही नहीं सकते— वे सारे कांच के टुकड़ों की तरह ही हैं।

कुछ आप भी सोचें मैं कुछ गलत रास्ते पर तो नहीं हूँ। दीदी की शान-शौकत आपको जंची या मेरा स्नेह-प्रेममय-जीवन ? उत्तर दें !

भवदीय
इन्दु

* आज सुबह की डाक देरी से आयी। डाक में पहले चार जैसा ही पांचवां पत्र था। उसके भी ऊपर सम्पादक 'वातायन' लिखा था, खोला—

प्रिय महोदय !

परिचय तो आपसे फिर कभी कर लूंगी। इस समय बड़ी अपने आप से ही उलझी हुई हूँ। न ही इस समय उतनी फुर्सत ही है कि आपसे परिचय के लिए ये पृष्ठ भर दूं दरअसल जैनेन्द्र के मानस में मैं एक बार आ ठहरी। जैनेन्द्र जी भी क्या हैं कि कहां तो वे चरित्रों को पेंट करने में सारी शक्ति लगा दिया करते थे और अब है कि केवल